UNIVERSAL LIBRARY
OU_182784
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81.09 P29A Acc No. GH 5241

पाठक

आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय चेतना का विकास

आधुनिक हिन्दी काव्य
में
राष्ट्रीय चेतना का विकास

•

डॉ० शिवराम पाठक, एम०ए०, पी-एच०डी०
प्राचार्य
महर्षि विश्वामित्र महाविद्यालय,
बक्सर (बिहार)

•

राजीव प्रकाशन
१७३, मलोपीबाग, इलाहाबाद–६

AADHUNIK HINDI KAVYA MEN RASHTRIYA CHETNA KA VIKAS

(THESIS)

By

Dr. JITRAM PATHAK

प्रथम संस्करण : १६७६

प्रकाशक	राजीव प्रकाशन, १७३, अलोपीबाग, इलाहाबाद–६
मुद्रक	शुभचिन्तक प्रेस, ३१३, दारागंज, इलाहाबाद–६
मूल्य	तीस रुपये

आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय चेतना का विकास

(सन् १८५७ से सन् १९५७ ई० तक)

पटना विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध प्रबन्ध

आमुख

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में सन् १८५७ ई० से १९५७ ई० तक के हिन्दी साहित्य का राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि में अध्ययन प्रस्तुत है। जननी-जन्मभूमि के प्रति मानव का अनुराग स्वाभाविक है। राष्ट्र के प्रति अटूट प्रेम भाव उसके हृदय में होता है। सहज स्वाभाविक रूप से या विशेष परिस्थिति या घटना के अवसर पर यह प्रेम अधिक तीव्र एवं गतिशील होता है। विदेशी दासत्व काल में भारतीय जनता स्वतन्त्रता के लिए जागरूक हुई। संपूर्ण राष्ट्र विदेशी शासन के विरोध में उठ खड़ा हुआ। जन जन के हृदय में राष्ट्रीय भावना का उद्रेक हुआ। अनेक आन्दोलनों में विदेशी शासन का विरोध हुआ तथा स्वतन्त्रता की उत्कट आकांक्षा व्यक्त की गई। राष्ट्रीय आन्दोलनों ने संपूर्ण जन-जीवन को प्रभावित कर दिया था। इससे हिन्दी साहित्य भी अछूता न रहा। राष्ट्रीय चेतना से साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा काव्य अधिक संयुक्त रहा। उसमें राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप नूतन प्रवृत्तियों की उद्भावना हुई। प्रस्तुत प्रबन्ध में इसका मूल्यांकन किया गया है।

अब तक राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि पर आधुनिक हिन्दी काव्य का अध्ययन आनुषंगिक रूप में ही हुआ है। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने आधुनिक हिन्दी साहित्य में १८५० ई० से १९०० ई० तक, डा० श्री कृष्णलाल ने आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास में १९० ई० से १९२५ ई० तक तथा डा० भोलानाथ ने हिन्दी साहित्य में १९२६ ई० से १९४७ ई० तक के हिन्दी साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन शोध ग्रन्थों में साहित्य की विविध विधाओं के विवेचन क्रम में काव्य और फिर उसके अन्तर्गत राष्ट्रीय काव्य का अध्ययन अपने काल विशेष में अलग-अलग हुआ है। विषय की विशालता के कारण राष्ट्रीय काव्य का सांगोपांग अध्ययन इसमें संभव नहीं हो सका। डा० केसरी नारायण शुक्ल ने 'आधुनिक हिन्दी काव्य-धारा' तथा 'आधुनिक काव्य-धारा का सांस्कृतिक स्रोत' नामक पुस्तकों में अन्य प्रवृत्तियों के साथ राष्ट्रीय काव्य प्रवृत्ति का विश्लेषण किया है। 'हिन्दी कविता में युगान्तर' में डा० सुधीन्द्र ने द्विवेदी-युगीन राष्ट्रीय काव्यधारा' का अध्ययन प्रस्तुत किया है। डा० रामविलास शर्मा के 'भारतेन्दु युग' में भारतेन्दु कालीन काव्य के

अंतर्गत राष्ट्रीय काव्य का विवेचन भी है। इन विद्वानों के अतिरिक्त अन्य अध्येताओं ने भी राष्ट्रीय काव्य की व्याख्या की है।

उपर्युक्त रचनाओं में राष्ट्रीय काव्य का अलग-अलग कालों में खन्डशः विवेचन हुआ है। इस सुदीर्घ परम्परा का एक जगह अध्ययन न होने के कारण इसकी प्रवृत्तियो के संपूर्णतः मूल्यांकन में असुविधा भी है। इन विवेचनों में राष्ट्रीय परम्परा का अनुषांगिक अध्ययन होने से इसका सांगोपांग तथा विस्तृत विवेचन भी नहीं हो सका। राष्ट्रीय चेतना ने काव्य को सुदीर्घ काल तक प्रभावित किया है। इसलिये इस बात की अपेक्षा थी कि आधुनिक काव्य का राष्ट्रीय पृष्ठभूमि पर अध्ययन किया जाय। इसी अभाव एवं आवश्यकता को ध्यान में रखकर प्रस्तुत प्रबन्ध की रचना की गई है।

इम प्रबन्ध में स्वातंत्र्योत्तर राष्ट्रीय काव्य प्रवृत्तियों का अध्ययन भी प्रस्तुत है। इस तरह दासत्व तथा स्वतंत्र काल की राष्ट्रीय काव्य परम्परा को समझने में सुविधा हो सकेगी। १९५७ ई० में शोध-विषय के निर्वाचन के कारण उक्त काल तक के काव्य का अध्ययन ही किया गया है। इस प्रकार इस शोध प्रबन्ध में सौ वर्षों की राष्ट्रीय काव्य-परम्परा की गवेषणा हुई है।

इस प्रबन्ध राष्ट्रीय चेतना को विस्तृत अर्थ में ग्रहण किया गया है। यहाँ सम्पूर्ण भूमि, जन और जन की संस्कृति का आकलन करनेवाले देशानुराग को ही राष्ट्रीय चेतना माना गया है। इस देशानुराग का अंतर्राष्ट्रीयता से विरोध भी नही है। यह स्वतंत्र गणराज्यों के शान्तिपूर्वक विकास का पक्षधर है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का अधिकांश स्वर्गीय आचार्य श्री नलिनविलोचन शर्मा के निर्देशन में लिखा गया। उनके असामयिक निधन से डा० शिवनन्दन प्रसाद के निर्देशन में इसे पूरा किया गया है। इन दोनों आचार्यों के निर्देशन से ही यह कार्य पूरा हो सका है। इनके प्रति लेखक का मौन आभार एवं श्रद्धा प्रकट है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० रामबिलास शर्मा और डा० रामखेलावन पाण्डेय के परामर्शों से भी लेखक ने लाभ उठाया है। इनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ है।

प्रो० केशवप्रसाद सिह तथा श्री छट्ठू पाण्डेय ने अनेक पुस्तकें सुलभ कर प्रबन्ध लिखने में सहायता दी है। इनके प्रति लेखक हार्दिक कृतज्ञ है। प्रो० रामचन्द्र ईश्वर, डा० रमेश कुंतलमेघ, प्रो० शुकदेव सिंह, प्रो० विजय मोहन सिंह आदि मित्रों ने यह प्रबन्ध यथा शीघ्र प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी है। इनके

अतिरिक्त अनेक बन्धुओं ने सहायता तथा अनेक ने बाधाएं देकर मुझे उत्साहित किया है। इनकी बाधा ने भी अधिक प्रेरणा दी। इन सबका लेखक बहुत आभारी है।

कुमारी उर्मिला जैन तथा धर्मावती देवी ने समान भाव से इस महत् कार्य में सहायताएं दी हैं। इनको लेखक का हार्दिक स्नेहार्पण।

अनेक प्रयत्नों के बावजूद इसमें अनेक त्रुटिया संभव हैं। दोषहीनता का दावा भी नहीं है। इस प्रबन्ध से काव्य की एक परम्परा विशेष को समझने में पाठकों को मदद मिले तो मैं अपना श्रम सार्थक मानूंगा।

महर्षि विश्वामित्र महाविद्यालय
बक्सर (बिहार)

विनीत
जितराम पाठक

विषय-सूची

आमुख पृष्ठ

प्रथम अध्याय :

कविता और राष्ट्रीय भावना

राष्ट्र और राष्ट्रीयता—राष्ट्रीयता और जातीयता तथा प्रांतिक अस्मिता—राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता--राष्ट्रीयता और राजनीति—कवि की स्वतन्त्रता का प्रश्न—एतद्विषयक मत—मतान्तर तथा व्यावहारिक दृष्टान्त--काव्य-कला पर राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव। १-३०

द्वितीय अध्याय :

भारतीय काव्य में राष्ट्रीयता की परम्परा

संस्कृत, प्राकृत, पालि आदि तथा अपभ्रंश भाषाओं का काव्य--साहित्य और राष्ट्रीयता--प्राचीन भारतीय साहित्य में अभिव्यक्त राष्ट्रीयता के रूप--सीमायें और संकीर्णतायें, राष्ट्रीयता का आदर्श रूप--काव्य-कला पर राष्ट्रीयता का प्रभाव ३१-४०

तृतीय अध्याय :

प्राचीन हिन्दी कविता और राष्ट्रीय भावना

आदिकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल के काव्य में अभिव्यक्त राष्ट्रीय भावना--प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप-न्यूनता के कारण तथाकथित सांप्रदायिकता या युगानुकूल राष्ट्रीयता--विशेषताएं--सीमाएँ--आदर्श। ४१-५३

चतुर्थ अध्याय :

भारतेन्दु युग (१८५७ ई० १९०० ई०)

काल—सीमा का निर्धारण—युक्तियां—नामकरण

(क) परिस्थिति : राजनीतिक—सामाजिक—आर्थिक—धार्मिक एवं सांस्कृतिक—शिक्षा—विषयक—अयान्य।

(ख) निष्कर्ष : उपर्युक्त परिस्थितियों का राष्ट्रीय चेतना पर समवेत प्रभाव।

(ग) अभिव्यक्ति : (अ) काव्य—विषय
(आ) काव्य—कला : काव्य के रूप—भाषा शैली—छन्द पर राष्ट्रीय भावना का प्रभाव। ५४-१०३

पंचम अध्याय :

द्विवेदीयुग (१९०१ ई० १९१९ ई० तक)

काल—सीमा का निर्धारण—युक्तियां—नामकरण।

(क) परिस्थिति : राजनीतिक—सामाजिक—आर्थिक—धार्मिक एवं सांस्कृतिक—शिक्षा—विषयक—अन्यान्य।

(ख) निष्कर्ष : उपर्युक्त परिस्थितियों का राष्ट्रीय चेतना पर समवेत प्रभाव।

(ग) अभिव्यक्ति : (अ) काव्य—विषय
(आ) काव्य—कला : काव्य के रूप—भाषा शैली—छन्द पर राष्ट्रीय भावना का प्रभाव। १०४-१६६

षष्ठम अध्याय :

छायावाद-युग (१९२०-ई० १९३६ ई०)

काल—सीमा का निर्धारण—युक्तियां—नामकरण।

(क) परिस्थिति : राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक-धार्मिक एवं सांस्कृतिक—शिक्षा—विषयक—अन्यान्य।

(ख) निष्कर्ष : उपर्युक्त परिस्थितियों का राष्ट्रीय चेतना पर समवेत प्रभाव।

(ग) अभिव्यक्ति : (अ) काव्य—विषय

(आ) काव्य—कला : काव्य के रूप—भाषा-शैली—छन्द पर राष्ट्रीय भावना का प्रभाव। १६७-२३८

सप्तम अध्याय :

प्रगतिवाद-युग (१९३७ ई० १९४७ ई०)

काल—सीमा का निर्धारण—युक्तियां—नामकरण।

(क) परिस्थिति : राजनीतिक—सामाजिक—आर्थिक—धार्मिक तथा सांस्कृतिक—शिक्षा—विषयक—अन्यान्य।

(ख) निष्कर्ष : उपर्युक्त परिस्थितियों का राष्ट्रीयता पर समवेत प्रभाव।

(ग) अभिव्यक्ति : (अ) काव्य—विषय

(आ) काव्य—कला : काव्य के रूप—भाषा-शैली—छन्द पर राष्ट्रीय भावना का प्रभाव। २४०-२९१

अष्टम अध्याय :

समसामयिक युग (१९४७ ई० १९५७ ई०)

काल—सीमा का निर्धारण—युक्तियां—नामकरण।

(क) परिस्थिति : राजनीतिक—सामाजिक—आर्थिक—धार्मिक तथा सांस्कृतिक—शिक्षा—विषयक—अन्यान्य।

(ख) निष्कर्ष : उपर्युक्त परिस्थितियों का राष्ट्रीय चेतना पर समवेत प्रभाव ।

(ग) अभिव्यक्ति : (अ) काव्य—विषय
(आ) काव्य—कला : काव्य के रूप — शैली—छन्द पर राष्ट्रीय—प्रभाव का प्रभाव । २६२-३४३

नवम् अध्याय :

उपसंहार

विविध कालों में राष्ट्रीयता का विकास—राष्ट्रीय चेतना के विकास में राष्ट्रीय कविता का योग—राष्ट्रीय कविता का भविष्य—समीक्षा—निष्कर्ष । ३४४-३६०

महत्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची— ३६१-३६८

—०—

पहला अध्याय

राष्ट्र और राष्ट्रीयता

राष्ट्र शब्द अंग्रेजी के 'नेशन' शब्द के पर्याय रूप में ग्रहण किया जाता है। 'नेशन' की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के 'नेशियो' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ जन्म अथवा जाति है। १७वी शताब्दी के पूर्व केन्द्रीय तथा पूर्वी योरप में 'नेशन' शब्द से जातीय अथवा समान भाषा-भाषी समूह का बोध होता था। १८वी शताब्दी में यह शब्द एक निश्चित राज्य की जनसख्या का द्योतक बना, जिममें जातीय एकता का कोई आग्रह नहीं था। जातीय समूहों में राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा आत्म-शासन की भावना के जागरण से राष्ट्र जातीय आग्रह-रहित राजनीतिक इकाई का बोधक हुआ। १९वी शताब्दी में इस बोधकता को स्थायित्व प्राप्त हुआ। अब राष्ट्र शब्द प्राप्त अथवा आकांक्षित राजनीतिक स्वतन्त्रता या प्रभुता के आदर्श का अर्थ प्रकट करता है। इस प्रकार राष्ट्र एक निश्चित भू-भाग में बसी उस जनसख्या का सूचक है जो राजनीतिक इकाई के रूप में संगठित है।

समान सांस्कृतिक परम्पराओं में बँधा हुआ जन-समूह राजनीतिक स्वतन्त्रता अथवा प्रभु-सत्ता पाने अथवा विकसित करने के लिए प्रयत्नशील होता है और काल-क्रम से एक राजनीतिक इकाई रूप में संघटित होकर राष्ट्र की संज्ञा प्राप्त करता है। जीमर्न इसी आधार पर कहते हैं कि एक निश्चित भू-भाग में बसे हुए उस जन्म-समूह को राष्ट्र कहते हैं जो अद्भुत तीव्रता, निकटता तथा गौरव की संयुक्त भावनाओं में बँधा हुआ है। रैमजे म्योर ने भी राष्ट्र को कुछ निकट सम्बन्ध के बन्धनों में बँधा जन-समूह ही कहा है।

जन की एकता का आधार संस्कृति है। संस्कृति जातीय जीवन की परम्परा से उगती है। यह परम्परा अभ्यास, विचार, मनोवृत्ति और आदर्श का संघटित संस्थान है। इसलिए एक भूमि पर बसे जन इन सूत्रों के कारण समान विश्वास तथा राग-द्वेष से प्रेरित होते हैं। एक सूत्र में आबद्ध उनका जीवन उन्हें एक राजनीतिक इकाई के रूप में संघटित होने की प्रेरणा देता है।

जन की एकता का आधार संस्कृति अथवा जातीय परम्परा है, किन्तु गार्नर इसे आंशिक रूप में ही स्वीकार करते है। वे राष्ट्र को सांस्कृतिक रूप से संघटित जन-समुदाय मानते, हुए भी कहते हैं कि जो बन्धन जन को राष्ट्र बना देते हैं वे

न जातीय है, न प्रजातीय, वरन् वे मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक ही हैं। संस्कृति एवं आध्यात्मिकता को जन की एकता का आधार मानते हुए भी वे इस बन्धन को अधिक मनोवैज्ञानिक मानते हैं। यदि जातीय एकता को ही राष्ट्र के संघटन का मूल आधार स्वीकार किया जाय, तो जहाँ विभिन्न जातियां एक भू-भाग में बसी होती हैं, राष्ट्र की कल्पना नही की जा सकती, क्योकि सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण वहाँ के मनुष्य संघटित न हो पायेगे, किन्तु ऐसे भी राष्ट्र हैं जहां विभिन्न जातियों के संयोग से राष्ट्र उग आया है। इसलिए मनोवैज्ञानिक एकता को भी राष्ट्र के गठन का एक आधार माना जा सकता है, क्योंकि उप-युक्त प्रकार के राष्ट्र में इस आधार पर ही जन की एकता सम्भव हो सकती है। रेनन तथा अरविन्द राष्ट्र को मनोवैज्ञानिक इकाई मानते ही हैं।

जहाँ अनेक जातियाँ दीर्घकाल से साथ रहती हैं वहाँ साहचर्य के कारण उनमे सास्कृतिक चेतनागत परिवर्तन होते है। कालान्तर में वे जातियाँ अपनी सस्कृतिगत विभिन्नता को भूलकर एक सामूहिक संस्कृति का विकास कर लेती हैं, अथवा उनमें उदारतावश एक दूसरे की संस्कृति के प्रति आदर का भाव उत्पन्न हो जाता है। वे जातीय अनेकता के बावजूद मानवता के सहज स्नेह-सूत्र में बँध जाती हैं। इसलिए राष्ट्र के उद्‌भव तथा विकास के मूल में सांस्कृतिक आधार के साथ मनोवैज्ञानिक भाव भी निहित है।

राष्ट्रीयता शब्द राष्ट्र शब्द का विकसित रूप है। 'राष्ट्रीयता' एक राष्ट्र की आत्म-चेतना है। यह चेतना राष्ट्र को इकाई मानकर उसके परतन्त्र रहने पर स्वतन्त्रता प्राप्त करने तथा राष्ट्रीय राज्य रहने पर उसकी शक्ति-वृद्धि की प्रवृत्ति तथा सम्मान का द्योतक है। इस तरह राष्ट्रीयता के अन्तर्गत एक राज्य के प्रति व्यक्ति की घनिष्ठ सम्बन्ध भावना निहित है। यह एक भू-भाग में बसने वाले जन-समूह का अपने राष्ट्र के प्रति भक्ति-भाव है। राष्ट्रीय चेतना उस अविकसित और परतन्त्र राष्ट्रीय समूह की भावना है जिसे राष्ट्रीय प्रभु-सत्ता नही प्राप्त हो सकी है। जब राष्ट्रीय समूह प्रभु-सत्ता सम्पन्न हो जाता है तो उसे राष्ट्र की सज्ञा से अभिहित करते हैं। स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता एक जन-समूह की राजनीतिक चेतना है। यही चेतना जन की एकता का आधार भी है।

अन्य विचारक राष्ट्रीयता को एक आध्यात्मिक प्रवृत्ति मानते हैं। उग्र राष्ट्रवादी जर्मन विचारक फिक्ट ने मानसिक और आध्यात्मिक वृत्ति के रूप में राष्ट्रवाद की व्याख्या की है। जीमर्न राष्ट्रीयता को धर्म की तरह आत्मगत भावना मानते हैं। यह मन की एक स्थिति है, आध्यात्मिक शक्ति है और भावना, विचार तथा रहन-सहन की दिशा है। उन्होंने राष्ट्रीयता को मनो-

वैज्ञानिक माना है। वे उसे राजनीतिक न मानकर शैक्षिक सिद्धान्त मानते हैं। जे० एच० रोज राष्ट्रीयता को हृदयों की एकता बताते हैं जो एक बार बन कर फिर नही मिटती। हेज ने भी कहा है कि राष्ट्रीयता कदाचित् ही राजनीतिक होती है। रेनन इसे अनिवार्यतः आध्यात्मिक मानते है।

राष्ट्रीयता आध्यात्मिक भाव है, लेकिन अपने लक्ष्य में वह राजनीतिक है। वह एक मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है, जो एक जन-समूह में एकता की भावना जगाती है और अन्य समूहों स उसे पृथक् करती है। यह एकता आत्मीयता की भावना से उद्भूत होकर जन-समूह को एक इकाई में बाँध देती है। गूच ने ठीक ही कहा है कि 'राष्ट्रीयता एक समूहगत चेतना है जो छोटे या बड़े समुदाय के प्रति प्रेम के कारण पैदा होती है।' राष्ट्रीयता की प्रमुख चेतना अपने देश के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति की होती है। यही चेतना देश-भक्ति के रूप में उद्बुद्ध होकर आवश्यकता पड़ने पर देश के लिए त्याग एवं बलिदान की प्रेरणा जगाती है। कोकर देश-प्रेम की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि इससे सब लोग सहमत हो सकते हैं कि देश-भक्ति अपने देश के प्रति प्रेम भाव है। इस प्रकार राष्ट्रीयता और देश-भक्ति एक ही तत्व ठहरते हैं, क्योंकि दोनों की मूल प्रवृत्ति एक ही है। जहाँ तक राष्ट्रीय शक्तियों द्वारा राष्ट्रीय राज्य के राजनीतिक जीवन के शासित होने की बात है देश-भक्ति और राष्ट्रीयता के बीच विभाजक रेखा खींचना बडा कठिन है। बर्नार्ड जोसेफ राष्ट्रीय भावना का प्रमुख तत्व देश-भक्ति को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि 'देश-भक्ति राष्ट्रीय भावना की एक प्रमुख प्रवृत्ति है जिसका अर्थ आवश्यकता पड़ने पर आत्मोत्सर्ग से संयुक्त देश के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति का भाव है।'

बहुधा देश-भक्ति और राष्ट्रीयता को भिन्न प्रवृत्ति के रूप में समझा जाता है। आदिम देश-भक्ति भले ही वर्तमान राष्ट्रीय चेतना से भिन्न रही हो, लेकिन वर्तमान देश-भक्ति और राष्ट्रीयता में कोई अन्तर नही है। निकट अतीत की कुछ शताब्दियों में देश-भक्ति राष्ट्रीयता के साथ संयुक्त हो गयी है। आदिम काल की देश-भक्ति में अपनी जाति के प्रति प्रेम तथा शेष के प्रति घृणा भाव वर्तमान था। इसलिए राष्ट्रीयता को उससे संयुक्त नहीं किया जा सका। वर्तमान देश-भक्ति को साम्यवादियों ने अन्तर्राष्ट्रीयता से संयुक्त माना है। जापान विरोधी युद्ध के अवसर पर माओ-त्से-तुङ्ग ने लिखा था 'हमारे लिए देश-भक्ति अन्तर्राष्ट्रीयता से घनिष्ठ रूप से संयुक्त है।' इस तरह आधुनिक युग में देश-भक्ति राष्ट्रीयता का ही एक रूप मानी जाने लगी है।

यहाँ देश-प्रेम से हमारा सम्बन्ध संकुचित देश-प्रेम से नहीं है, जो दूसरे देश के प्रति घृणा एवं बैर-भाव प्रकट करता है। देश-भक्ति से हमारा तात्पर्य उस

देश-भक्ति से है जिसमें अपने देश के प्रति अगाध प्रेम एवं श्रद्धा रहते हुए भी दूसरों के प्रति आदर भाव वर्तमान हो। यह देश-भक्ति राष्ट्रीयता का एक अंग कही जा सकती है।

जिस राष्ट्रीयता की चर्चा हमने यहाँ की है उसमें शासन-सत्ता प्राप्त कर राज्य संघटन अथवा राष्ट्र की मान-प्रतिष्ठा बढ़ाने का भाव निहित है। इसका जन्म पोलैंड के प्रथम विभाजन काल में हुआ। इसके पूर्व की राष्ट्रीयता में राष्ट्रीय प्रभु-सत्ता प्राप्त करने की आकांक्षा का स्थान नहीं था। यहाँ हम सक्षेप में राष्ट्रीयता के क्रमिक विकास पर दृष्टिपात कर ले।

आदिमकाल में राष्ट्र नाम की कोई संस्था नहीं थी। राष्ट्र का बोध एक निश्चित जाति-समूह से होता था। प्रत्येक जाति-समूह की एक निश्चित जीवन-प्रणाली, सस्कृति, भाषा, सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाएँ, धार्मिक धारणाएँ, रीति-रिवाज तथा कलात्मक दृष्टिकोण थे। प्रत्येक जाति एक इकाई रूप में काम या संघर्ष करती थी। इसलिए उसमें जातीय भावना दृढ़तर थी, उसमें आधुनिक राष्ट्रीय भावना नाम की कोई वस्तु नहीं थी। इससे यह नही अनुमान लगाना चाहिए कि उस समय राष्ट्रीय भावना किसी रूप में थी ही नहीं। राष्ट्रीयता विधायक तत्वों के आधार पर यह लक्षित होता है कि तत्कालीन जातीय भावना लघु राष्ट्रीयता रूप में थी। यही भावना राष्ट्रीयता का मूल बिन्दु है। बर्नार्ड जोसेफ ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए बताया है कि 'प्राचीन संसार में राष्ट्रीय भावना कम-से-कम देश-भक्ति के आदिम रूप में वर्तमान थी।'

आदिम जातीय राष्ट्रीयता सशोधित एव परिवर्द्धित होकर कालान्तर में प्रकट हुई। उसका रूप सार्वदेशिकतावाद या स्थानीयतावाद के रूप में प्रकट हुआ। बहुतेरे व्यक्ति अपनी जाति से अलग उच्च वर्ग के समझे जाने लगे, क्योंकि उनमें आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अन्तर आ गया था। उनकी सर्वोच्च भक्ति नगर राज्य या ग्राम के प्रति उन्मुख हुई। आदिम राष्ट्रीयता से इसका क्षेत्र अधिक विशाल था। कालान्तर में ये सामूहिक राज्य सामूहिक धर्म और सामूहिक संस्कृति के आख्याता तथा प्रतिष्ठापक बने। दृष्टि-कोण की इस व्यापकता के कारण छोटे जन-समूह या संकुचित रक्त-सम्बन्ध के स्थान पर विशाल जन-समूह के प्रति आस्था दृढ़ होती गई।

धीरे-धीरे राष्ट्र का उदय और विकास हुआ और सामूहिक लक्ष्य की सिद्धि के आधार पर विशाल जन-समूह की इकाई, उसकी भाषा, सस्कृति, धार्मिक मान्यता आदि राष्ट्रीयता के मूल तत्व मानी जाने लगीं। यह राष्ट्रीयता कृत्रिम एवं प्रचारित थी। इस प्रकार आधुनिक राष्ट्रीयता आदिम जातीयतावाद को

बड़े पैमाने पर एक लक्ष्य के लिए किए गए प्रयत्न के द्वारा कृत्रिम रूप से उद्बुद्ध करना चाहती है।

१८वीं शताब्दी में अप्रत्याशित ढंग से राष्ट्रीयता के दर्शन का उदय हुआ। यह राष्ट्रीयता वंशगत और औपनिवेशिक युद्ध की पृष्ठ-भूमि पर जनमी। यह काल अशान्ति का था। यह युग बौद्धिक विकास का काल था। इसमें मान्यताएँ बदलीं और आधिभौतिकता के स्थान पर भौतिक सत्ता का प्रभाव शुरू हुआ। इसका कारण यह था कि मनुष्य में तर्क शक्ति का उदय हुआ, इसके साथ मानवता-वाद की भावना उत्पन्न हुई। इस मानवतावादी राष्ट्रीयता का संस्थापक रूसो हुआ। रूसो की राष्ट्रीयता का आधार जनतंत्र था। उसका उद्देश्य मानवतावादी था। उसने कहा कि राष्ट्र असमान वर्गों का समूह नहीं है, बल्कि समान अधिकार और कर्तव्य वाले व्यक्तियों का संयोग है। इसलिए राष्ट्रीय राज्य पूर्णतः धर्म-निरपेक्ष और सर्वोच्च प्रभु-सत्ता सम्पन्न होता है। अतः रूसो की राष्ट्रीय भावना मूलतः राजनीतिक है।

फ्रांसीसी राष्ट्रीयता विदेशी और घरेलू युद्ध की भूमि पर पनपी। इसलिए शक्ति और सैनिकवाद पर इसका विश्वास था। यह सही है कि उसने राष्ट्रगीत, राष्ट्रीय झण्डा, राष्ट्रीय त्योहार आदि की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया, किन्तु इसके पीछे उसकी शक्ति ही विशेष रूप से लक्षित होती है। बट्रेण्ड बरेरे ने कहा कि 'स्वतन्त्रता का वृक्ष तब तक नहीं उगता, जब तक वह राजाओं के खून से नहीं सींचा जाता।' स्पष्ट ही उन लोगों ने राष्ट्रीय उद्देश्य की सिद्धि के लिए सैनिक सहायता अपेक्षित समझी।

जर्मनों ने फ्रांसीसी राष्ट्रीय चेतना का विकास एवं विस्तार देखा। उन्होंने अपने देश-वासियों में भी राष्ट्रीयता का विकास करने का निर्णय किया। उन्होंने फ्रांसीसी क्रान्ति का विरोध किया और नये आवरण में राष्ट्रीयता को उपस्थित किया। उनकी राष्ट्रीयता परम्परित राष्ट्रीयता (Traditional Nationalism) के नाम से अभिहित है। इस राष्ट्रीयता का आधार न तो तर्क था, और न क्रांति थी, बल्कि इसकी मूल चेतना इतिहास और परम्परा पर अवलम्बित थी। रूसो द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीयता के स्वरूप से प्रत्येक जाति में एक निश्चित चारित्र्य का आविर्भाव होता है। परम्परित राष्ट्रीयता ऐतिहासिक अधिकारों पर विश्वास करती है, प्रकृत अधिकारों पर नहीं। उसका आधार जनतांत्रिक प्रणाली नहीं, वरन् सामन्तवादी विचारधारा है।

उदार राष्ट्रीयता ने फ्रांसीसी और परम्परित राष्ट्रीयता का मध्यम मार्ग ग्रहण किया। इसका विकास १८वीं शती में इंगलैंड में हुआ, जहाँ की मूलवृत्ति समझौतावादी और घोर राष्ट्रीय आत्मचेतनावादी रही है। बेन्थम ने अपनी

बहुजनहिताय भावना के आधार पर कहा कि राष्ट्रीय देश-भक्ति अधिकाधिक जनता के उत्तमोत्तम हित का साधन है। उदार राष्ट्रीयता विकासवादी है, प्रतिक्रियावादी नहीं।

अखण्ड राष्ट्रीयता(Integral Nationalism) राष्ट्रीय शक्ति के विस्तार और राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की रक्षा पर आधारित होती है। उसके लिए सैनिक शक्ति की अपेक्षा है, क्योंकि उसके समाप्त होने पर राष्ट्र नष्ट हो जाता है। यह मानवतावादी और उदार राष्ट्रीयता द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीयता के विरोध में थी। यह स्वयं अपना साध्य थी। यह मानव और व्यक्ति से ऊपर राष्ट्रीय हित को समझती थी। यह सैनिकवादी और अन्ततोगत्वा साम्राज्यवादी थी। यह घोर अनुदार और अराजकतावादी भी थी।

इस राष्ट्रीय चेतना के प्रतिपादकों ने कहा कि राष्ट्र भूमि और जाति से उत्पन्न होता है। अत: इसमें एक निश्चित परम्परा का विकास आवश्यक है। इस परम्परा से अलग होने का अर्थ है कि राष्ट्र पर विदेशी प्रभाव है, जो अस्वाभाविक है तथा वास्तविक राष्ट्रीयता के लिए घातक है।

अखण्ड राष्ट्रीयता का व्यावहारिक रूप विशेषत: इटली में प्रकट हुआ, जहाँ इसका नाम तानाशाही पड़ा। इसके समर्थकों ने पाशविक शक्ति पर अधिक विश्वास किया। इस शक्ति-पूजा के कारण ही हेज ने जर्मन नाजीवाद और रूसी बोलशेविज्म को भी इस तानाशाही के अन्तर्गत ही बताया है। शारीरिक तथा सैनिक शक्ति की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए मुसोलिनी ने कहा है, 'स्वतन्त्रता साध्य नहीं, साधन है। साधन-रूप में इस पर अवश्य ही नियन्त्रण तथा प्रभुत्व होना चाहिए। तब इसके लिए शक्ति की अपेक्षा है। शक्ति का तात्पर्य शारीरिक और सशस्त्र शक्ति है।'

उदार राष्ट्रीयता अखण्ड राष्ट्रीयता की ओर क्यों मुड़ी, इसके अनेक कारणों में से एक यह भी है कि उदार राष्ट्रीयतावादियों ने सैनिक वृत्ति अपनाई और दमित जातियों को बलपूर्वक एक सूत्र में बाँधा। इसका परिणाम यह हुआ कि शक्ति का स्रोत धीरे-धीरे राष्ट्रीयता में प्रवृष्ट होने लगा और कालान्तर में अखण्ड राष्ट्रीयता उत्पन्न हुई।

राष्ट्रीयता के मुख्य तत्व—राष्ट्रीयता की उत्पत्ति के अनेक तत्व बताये गये हैं, किन्तु विचारकों ने इस तथ्य पर सहमति प्रकट की है कि राष्ट्रीयता की उत्पत्ति के लिए कोई विशेष तत्व अनिवार्य नहीं है। इतना निश्चित ही है कि एकाधिक तत्वों के संयोग से ही राष्ट्रीयता की उत्पत्ति सम्भव हुई है, क्योंकि उनके अभाव में इस भावना का अस्तित्व ही सम्भव नहीं। ये तत्व निम्नांकित हैं :—

(१) **भौगोलिक एकता**—प्रत्येक जाति एक निश्चित भू-भाग में निवास करती है। इस निश्चित भू-भाग को जन्म के कारण जन्म-भूमि की संज्ञा दी गई है। जननी और जन्म-भूमि के प्रति हमारा प्रेम स्वाभाविक रूप से विकसित होता है। जननी महत्ता के सामने स्वर्ग भी फीका नजर आता है। 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' में पृथ्वी को माता कहा गया है। जन के हृदय में इस भाव की अनुभूति ही राष्ट्रीयता का मूल बिन्दु है। पृथ्वी से प्रेम होने पर हमें अपने देश के पेड़, पौधे, बादल टीले, पहाड़, झरने, पशु, पक्षी, मानव, सबसे स्नेह होता है। इसलिए जिस राष्ट्रीयता का भूमि से जितना ही अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होगा, वह उतनी ही तीव्र एवं उच्च राष्ट्रीयता होगी। उसकी उपयोगिता, सुन्दरता और महिमा की भावना उतनी ही बलवती होगी।

मातृ-भूमि का राष्ट्रीयता के उद्भव और विकास में प्रमुख स्थान स्वीकार करते हुए लास्की ने लिखा है कि राष्ट्र-चेतना के निर्माण में जन्म-भूमि का महत्वपूर्ण स्थान है।' किन्तु वह आगे कहता है कि जन्म-भूमि पर अधिकार की अपेक्षा उसके उद्धार की स्थिति राष्ट्रीयता के विकास के लिए बहुत आवश्यक है। हेज कहते है कि जातियों के बीच प्राकृतिक सीमा-रेखा का विचार कल्पना है। फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि राष्ट्रीयता के उद्भव के लिए जन्म-भूमि का होना अनिवार्य है।

(२) **जातीय एकता**—आदिमकाल में जातीय एकता राष्ट्रीयता का विधायक तत्व भले ही हो, किन्तु आज के सभ्य एवं संस्कृत वातावरण में जातीय एकता दुर्लभ है। एक जाति की अन्य जातियों से इतनी घनिष्टता रही है कि आज जातीय शुद्धता का दावा नही किया जा सकता। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए मुसोलिनी ने कहा था, 'जाति एक भावना है, यथार्थ नहीं। कोई भी तथ्य आज मुझे आश्वस्त नही कर सकेगा कि आज के युग में कोई भी जाति शुद्ध है।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि जातीय शुद्धता के अभाव में उसकी एकता का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए राष्ट्रीयता के विकास में इसका कोई हाथ नही है। सभ्य समाज मे जातीय शुद्धता का मजाक उडाते हुए हेज ने लिखा है कि' जातीय शुद्धता कदाचित् कही है तो आज के युग में असभ्य जातियों में है।' गिलक्रिस्ट भी इस तथ्य के समर्थन में कहत है कि राष्ट्रीय-रेखा के नियमन में सामान्य जाति का अब कोई स्थान नही है। किसी भी राष्ट्र में शुद्ध जाति नहीं है।

किन्तु कुछ विचारक या तो जाति को राष्ट्रीयता का आवश्यक तत्व मानते हैं अथवा उसका इस दिशा में, किसी-न-किसी रूप में स्थान स्वीकार करते हैं। जीमर्न जातीय अखण्डता को उच्च स्थान देते हैं। लार्ड ब्राइस भी मानते है कि

राष्ट्रीयता के विकास का यह एक आवश्यक तत्व है। मेजिनी का विचार है कि राष्ट्रीयता के लिए जाति आवश्यक नहीं है। रेमन कहते हैं कि जाति का आधुनिक राष्ट्र-निर्माण में कोई स्थान नहीं है। जे० एच० रोज के अनुसार केवल अप्रौढ़ रूप में ही जातीयता पर राष्ट्रीयता अवलम्बित होती है।

इन विरोधी मतों पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आदिम काल की राष्ट्रीयता का आधार जातीयता अवश्य रही है, किन्तु आज सभ्य मानव जातीय एकता को स्वीकार करने को तैयार नहीं है, क्योंकि जातीय बन्धन के संकुचित दायरे से निकलकर वह ग्राम, राष्ट्र और दुनियां के वातावरण मे सांस ले रहा है। ऐसी दशा में जातीय-अशुद्धता के युग में वह दकियानूसी परम्परा स्वीकार करने में असमर्थ है। विश्व का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि कोई भी जातीय इकाई राष्ट्र निर्माण में समर्थ नहीं हो पाई है। इसलिए जातीय एकता राष्ट्रीयता का नियामक तत्व नही ठहरती। साथ ही बहुतेरे राष्ट्रों में राष्ट्रीयता का उद्भव जातीय विभेद के बावजूद हुआ है। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि जाति आज राष्ट्रीयता के लिए आवश्यक नहीं है।

संस्कृति एवं आदर्शों की समानता—राष्ट्रीयता को विचारकों ने सांस्कृतिक सिद्धान्त कहा है। ऐसी दशा में सामूहिक संस्कृति राष्ट्रीयता के विधान के लिए अत्यन्त आवश्यक है। संस्कृति के अन्तर्गत समान रीति-रिवाज, परम्पराएँ, साहित्य, लोक-गीत, महाकाव्य और कला आती हैं। जीवन का समान मानदण्ड, कर्त्तव्य तथा अन्य सामूहिक वस्तुएँ भी इसके सीमा-क्षेत्र में हैं। विचारों और आदर्शों की एकता मनुष्य को घनिष्ठ बना देती है और यह बन्धन कभी नही टूटता है। राष्ट्रीय साहित्य, शिक्षा, संस्कृति और कला राष्ट्रीयता के कारण हैं। राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्रीय भावना को बल देता है। यह राष्ट्रीय परम्पराओं का संवाहक है। जातियों का इतिहास साहित्य के द्वारा निर्मित होता है, जिससे परम्पराओं का विकास होता है। यह राष्ट्र के मनुष्यों के लिए गौरव एवं श्रद्धा का विषय है। राष्ट्र के निर्माण और राष्ट्रीयता के उद्भव एवं विकास का श्रेय साहित्य को ही है। पाकिस्तान के निर्माण में मुहम्मद इकबाल की कविताओं का कितना हाथ है, इस बात को स्वीकार करते हुए दिनकर ने लिखा है : "ज्यों-ज्यों भारतवर्ष अपनी मंजिल के करीब जाता गया, वह मुसलमानों को लेकर भारतीय राष्ट्रीयता से दूर हटते गए और जब यह स्पष्ट दिखने लगा कि देश में किसी प्रकार के स्वराज की नींव पड़ने ही जा रही, तब उन्होंने मुस्लिम लीग के सभापति की हैसियत से पाकिस्तान की घोषणा कर दी।"

और एक दिन पाकिस्तान बनकर रहा। इसलिए पाकिस्तान के निर्माण की फिलासफी सर इकबाल की देन है। वाल्तेयर भी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि "हमारी भाषा और साहित्य ने चार्लेमैग्ने की अपेक्षा अधिक विजय किए हैं।"

जीवन का एक निश्चित मानदण्ड स्थापित करने और उसके प्रति एक निश्चित और समान दृष्टि के निर्माण में शिक्षा का बड़ा हाथ है। शिक्षा सत्-असत् का विवेक देती है। यह कार्य शिक्षा नैतिक समानता के लिए करती है।

राष्ट्रीय इतिहास और परम्पराओं का भी राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान है। रैमजे म्योर ने कहा है कि वीरतापूर्ण उपलब्धियाँ, वीरता-पूर्वक सही गयी विपत्तियाँ राष्ट्रीयता के पोषण के लिए उत्तम खाद्य हैं। अतीत के प्रति उचित गौरव, वर्तमान के लिए पूर्ण विश्वास तथा भविष्य की उज्जवलता की आशा से ही राष्ट्रीय चेतना पालित-पोषित होती है। इसलिए राष्ट्रीयता के लिए सांस्कृतिक एकता अनिवार्य तत्व है और इसके वर्तमान रहने पर ही राष्ट्र में एकता की भावना जाग्रत होती है। यही राष्ट्रीय एकता एव तज्जनित राष्ट्रीय भावना देश-प्रेम के रूप में प्रकट होती है।

आर्थिक उद्देश्य की समानता—अर्थ आज जीवन का मूलभूत सत्य है। समान आर्थिक भावना जनता में एकता उत्पन्न करती है। मानव अन्य बाहरी अनेकताओं को भूलकर एक सूत्र में बँध जाता है। एक राष्ट्र में बसने वाले मानव की समान आर्थिक समस्याएँ होंगी, इसलिए उनके निराकरण के लिए उनका मिलन स्वाभाविक भी है। इस आधार पर उनमें राष्ट्रीय-भावना की जागृति तथा उसका विकास सहज सम्भव है। जापानी और आस्ट्रियन राष्ट्रीयता के निर्माण का एक मुख्य तत्व आर्थिक समस्याओं की समानता रही है।

किन्तु आर्थिक समानता मनुष्यों के सघटन का माध्यम हो सकती है, राष्ट्रीयता के उद्भव का नहीं। हाँ, यह सम्भव है कि राष्ट्रीयता के उद्भव के अनेक तत्वों में वह भी एक हो। यदि मात्र आर्थिक समानता ही राष्ट्रीयता की जननी होती तो मजदूरों और पूजीपतियों की राष्ट्रीयता का निर्माण अवश्य ही होता। युद्ध एवं संघर्ष के काल मे आर्थिक विभेद नाम की कोई वस्तु नही होती। विभिन्न आर्थिक स्थितियों के मनुष्य आपस में मिल जाते हैं। इसलिए केवल आर्थिक एकता संघ की निर्मात्री हो सकती है, राष्ट्रीयता की नही।

गुलामी के निवारण की भावना—जब कभी किसी सशक्त और अत्याचारी विदेशी शासक की सत्ता शासित जातियाँ नहीं स्वीकार कर पातीं, तो अनेक विभिन्नताओं के रहते भी वे समान रूप से राष्ट्रीयता से अभिभूत होती हैं और विदेशी सत्ता के पैर उखाड़ने के लिए सामूहिक रूप से प्रयत्न करती हैं। भारत में विभिन्नताओं के बावजूद अनेक जातियों में समान राष्ट्रीयता का उदय अँग्रेजी दासता के जुवे को फेंकने के लिए हुआ। किन्तु मात्र विदेशी शासन सत्ता के फलस्वरूप ही राष्ट्रीयता का उदय नहीं होता। रैमजे म्योर ने कहा है कि मात्र सरकारी एकता ही राष्ट्रीयता के उन्नयन में सहायक नहीं होती।

कभी-कभी विदेशी अत्याचारी शासन के फलस्वरूप भी राष्ट्रीयता का जागरण होता है। आयरलैंड के निवासियों में राष्ट्रीयता का उदय अँग्रेजों के उत्पीड़न से उत्पन्न हुआ, किन्तु इसे हम नियम की इकाई में नही बाँध सकते। ऐसा भी सम्भव है कि अत्याचार के फलस्वरूप राष्ट्र कई टुकड़ों में विभक्त हो जाय और उनमें विविध भावनाओं का उदय हो। कुछ लोग अत्याचारी शासक की जी हजूरी कर उसके कृपा-पात्र बनने की कोशिश भी कर सकते हैं। ऐसी दशा मे मात्र अत्याचार राष्ट्रीयता का जनक नही हो सकेगा। जोसेफ ने ठीक ही कहा है कि किसी दल विशेष का उत्पीड़न तथा अत्याचार राष्ट्रीयता के रूप में परिवर्तित नही हो सकता।

धार्मिक एकता—जातियों के इतिहास मे यह तथ्य प्रकट है कि उनके जीवन में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रारम्भिक साम्प्रदायिक जीवन धार्मिक रीति-रिवाजों से बहुत अधिक सम्बद्ध रहा। यहूदियों की राष्ट्रीयता का मेरुदण्ड धार्मिक समानता ही रही है, लेकिन आज का बुद्धिवादी मानव धर्म को वयक्तिक वस्तु मानता है। कभी-कभी "धर्म खतरे मे है" का नारा लगाकर साम्प्रदायिक राष्ट्रीयता का विष जगाया जाता है, किन्तु ज्यों-ज्यों मानव सभ्य होता जा रहा है, उसे इस नारे की व्यर्थता ज्ञात होती गई है। भारत जैसे देश में भी, जहाँ धार्मिक नारे के आधार पर खून की नदियाँ बहाई जाती हैं, शिक्षित जनों ने धार्मिक नाराओं का खोखलापन पहचान लिया है। हेज का कहना ठीक ही है कि अत्याधुनिक राष्ट्रीयताएँ धार्मिक विश्वास और रीतियों की एकता के हठ के बिना भी विकसित होती रही हैं। इसलिए धार्मिक एकता के आधार पर उगी राष्ट्रीयता आदिम राष्ट्रीयता का ही रूप है और उसमें कट्टरता तथा पशुता बहुत अधिक मात्रा में रहती है, जो घातक है।

भाषा की एकता—भाषा की एकता के कारण भी राष्ट्रीयता का उदय होता है, ऐसा विचारकों का विश्वास है। उनका कहना है कि भाषागत एकता

के कारण एक ही प्रकार के विचारों एवं भावनाओं का उदय होता है। इससे समान मानदण्ड, जीवन तथा इतिहास बनते हैं। इससे समान राष्ट्रीय मनोविज्ञान का जानना भी स्वाभाविक है। रैंमजे म्योर जाति की अपेक्षा भाषा को राष्ट्रीयता के उदय में अधिक सहायक मानते हैं। जोसेफ भी भाषा को राष्ट्रीयता के लिए एक आवश्यक तत्व समझते हैं।

सार्वजनिक इच्छाशक्ति—सार्वजनिक इच्छा-शक्ति का अर्थ सहयोगी इच्छाशक्ति है। डा० अम्बेदकर इसे राष्ट्रीयता के विकास का अनिवार्य तत्व मानते हैं। वे कहते है कि सहयोगी एकता की सहयोगी भावना, मनुष्यों में आत्मीयता जगाती है। टायनबी राष्ट्र बनाने की सामूहिक भावना को राष्ट्रीयता के उद्भव का मूल भाव मानते हैं। मेजिनी भी सार्वजनीन इच्छा को राष्ट्रीयता का आधार स्वीकार करते हैं।

इस विवेचन से हम इस निर्णय पर आते हैं कि इनमें से कोई एक भावना राष्ट्रीयता के उद्भव और विकास का माध्यम नही है, बल्कि परिस्थिति के अनुरूप अनेक तत्वों के मिलन से ही राष्ट्रीयता का उद्भव और विकास होता है।

राष्ट्रीयता के आर्थिक तत्व—औद्योगिक क्रान्ति का अवदान राष्ट्रीयता विकास में महत्वपूर्ण है। इस क्रान्ति के पूर्व जातियाँ राष्ट्रीयता से अभिभूत होकर एक सुगठित राजनीतिक इकाई होने की कल्पना नही कर सकती थी। औद्योगिक क्रान्ति ने राष्ट्रीय सरकार को सुव्यवस्थित रूप से चलने का अवसर दिया और मानव में अपने राष्ट्रीय राज्य के प्रति सर्वोच्च भक्ति-भावना का विकास हुआ। इसलिए विस्तृत पैमाने पर उत्पादन और औद्योगिक आर्थिकी (Industrial Economy) राष्ट्रीयता के विकास के अनिवार्य तत्व बने।

अनेक विचारकों का मत है कि औद्योगिक क्रान्ति मूलतः अराष्ट्रीय है। किन्तु यह सर्वथा भ्रामक है। इस क्रान्ति के पूर्व स्थानीय प्रभुसत्ताएँ आत्म-निर्भरता के सिद्धान्त पर आधारित थी। इसलिए राष्ट्रीयता का विकास इन स्थितियों में सम्भव नही हुआ, किन्तु इसके बाद स्थानीय आत्म-निर्भरता के स्थान पर राष्ट्रीय पैमाने पर आत्म-निर्भरता की भावना का उदय हुआ।

आधुनिक औद्योगीकरण ने ससार को ही एक बाजार के रूप मे परिणत कर दिया है। बड़े पैमाने पर उत्पादन होने के कारण यह आवश्यक हो गया कि राष्ट्र में उत्पादित वस्तुओं को विदेशी बाजारों में बेचा जाय, क्योंकि कोई भी राष्ट्र अपनी उत्पादित सभी वस्तुओं का उपभोग नही कर सकता। इसलिए उत्पादित वस्तुओं की खपत के लिए उपनिवेश स्थापित करने की आवश्यकता

हुई, क्योंकि व्यापार झण्डे का अनुगमन करता है। फल यह होता है कि राष्ट्रीयता राज्य स्थापित करने के चक्कर में आ जाती है और उसका पूंजीवाद में परिवर्तन होता है। औद्योगिक क्रान्ति से प्रभावित राष्ट्रीयता का यह रूप बड़ा ही घातक तथा अमानुषिक होता है, किन्तु इतना निश्चित ही है कि राजनीतिक राष्ट्रीयता आर्थिक अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के साथ-साथ शक्तिशाली होती जाती है।

आर्थिक उदारवादी उदार राष्ट्रीयता में विश्वास करते है। वे बहुजन के अधिकाधिक हित के सिद्धान्त के प्रतिपादक है। स्वतन्त्र व्यापार (Free trade) औद्योगिक क्रान्ति का मूल स्वर है। औद्योगिक क्रान्ति के हिमायती उदारवादी स्वतन्त्र व्यापार के द्वारा शान्ति और विश्व-बन्धुत्व की भावना जगाना चाहते थे, किन्तु यह सम्भव नहीं हो सका, क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति की लहर सभी देशों में एक ही बार नही पहुँची। यदि यह हो पाता तो संभव है, स्वतन्त्र व्यापार के द्वारा शान्ति और विश्व-बन्धुत्व स्थापित करने का उदारवादियों का सपना साकार हो जाता, किन्तु ऐसा न हो सका और आर्थिक परतन्त्रता मे राष्ट्र को बचाने के लिए श्रम तथा टैक्स सम्बन्धी अनेक नियम बनाए गए, जिनसे विदेशी माल राष्ट्र विशेष में नही आ सका। प्रत्येक राष्ट्र ने अपने आर्थिक लाभ के लिए, अपनी सम्पत्ति के विकास के लिए अनेक कदम उठाए और स्वतंत्र व्यापार का सपना चूर-चूर हो गया।

यथार्थवाद और राष्ट्रीयता—औद्योगिक क्रान्ति ने विश्व को उपयोगितावादी सिद्धान्त प्रदान किया। धीरे-धीरे लोग उद्योग और अतुल पूंजी की महता में विश्वास करने लगे और उनका दृष्टिकोण भौतिकवादी हो गया। फलस्वरूप मानव प्रक्रियाओं की भौतिकवादी व्याख्या की जाने लगी। डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त ने जातियों की अनेकता के मत को पुष्ट किया। योग्यतम को जीने का अधिकार है और अन्ततोगत्वा अस्तित्व के लिए संघर्ष आदि सिद्धान्तों के फलस्वरूप यथार्थवाद का उद्भव हुआ। यथार्थवाद का स्वरूप मार्क्सीय समाजवाद और क्रान्तिकारी संघवाद (Syndicalism) में प्रकट हुआ। इन महान् परिवर्तनों के फलस्वरूप राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों और मान्यताओं में परिवर्तन हुए।

राष्ट्रीय भावना में राष्ट्र को सर्वप्रमुख स्थान प्राप्त है, किन्तु मार्क्सीय समाजवाद ने राष्ट्र से भी उच्च स्थान वर्ग को दिया और अन्तर्राष्ट्रीयता का समर्थन किया। राजनीतिक दृष्टि से उन्होंने राष्ट्र में वर्गों—सरमायादार और सर्वहारा–की स्थिति की घोषणा की और राष्ट्रीय चेतना के स्थान पर

वर्ग-चेतना को महत्व दिया। उनका उद्देश्य एकदेशीय जन-समूह को अधिक विकसित एवं सम्पन्न बनाना नही था, वरन् सरमायादारों को समाप्त कर विश्व में सर्वहारा का अधिनायकवाद कायम करना था।

इस प्रकार विश्वजनीन सर्वहारा के अधिनायकवाद के द्वारा विश्व का सर्वहारा वर्ग एक सूत्र में आबद्ध हो जायगा और तब वास्तविक विश्व-बन्धुत्व की भावना उत्पन्न होगी। मार्क्सवादियों की धारणा है कि वर्तमान पूंजीवादी समाज में धर्म की तरह राष्ट्रीयता भी एक शान्त करने वाला शरबत है जिसका उपयोग, जन-समूह में, वर्ग-संघर्ष को विमुख करने के लिए पूँजीपति करता है। यों हेज का कहना है कि मार्क्स ने अपने सिद्धान्त में जनतांत्रिक राष्ट्रीयता को स्वीकार कर लिया था, किन्तु मार्क्स के दर्शन में जनतंत्र का कोई स्थान नही है। ऐसी दशा में जनतांत्रिक राष्ट्रीयता को स्वीकार करने का प्रश्न ही नही उठता। राष्ट्र की सीमा में बँधकर राष्ट्रीयता अपनाने पर मार्क्सवाद का सिद्धान्त ही समाप्त हो जायगा। समाजवाद पूंजीवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुआ है। इसलिए जबकि पूंजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय सीमा में व्याप्त है, समाजवाद भी राष्ट्र की सीमा से बाहर आकर अन्तर्राष्ट्रीय विस्तार पा लेता है। इसलिए समाजवादी दृष्टि राष्ट्रीयता की पृष्ठ-भूमि पर नहीं है।

एक राष्ट्र : एक राज्य—मानवतावादी राष्ट्रीयता ने मनुष्य में संवेदना का आधान किया और जनतंत्र ने उसके मन में स्व-शासन की भावना उत्पन्न की। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह आकांक्षा जग पड़ी कि वह अपनी राजनीतिक एव आर्थिक समस्याओं का समाधान स्वयं करे। जिन लोगों में जाति, धर्म, संस्कृति, भाषा, समान आर्थिक समस्या आदि के आधार पर एकता स्थापित हुई, उन लोगों ने आत्मशासित प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य की मांग की। उनका स्वशासन किसी परिस्थिति विशेष के कारण समाप्त हो गया था और वे गुलाम थे। उनकी स्वतंत्रता तथा राष्ट्र के शासन की मांग उचित ठहरती है, किन्तु जहाँ एक राष्ट्र में एक से अधिक जातियाँ बसती है, वहाँ जातिगत, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक विभिन्नता के आधार पर अलग राष्ट्र-निर्माण तथा राज्य स्थापना की माँग हुई।

१८१५ ई० में वियना कांग्रेस के बाद यूरोपीय राष्ट्रों में स्वशासन के सिद्धान्त पर आधारित "एक राष्ट्रीयता: एक राज्य" का प्रभाव बढा। इस मत को १९१४-१८ के विश्व-युद्ध के समय विशेष उत्तेजना मिली, जब स्वशासन की भावना अनेक देशों में उत्पन्न हुई। विचारकों का कहना था कि जहाँ दो

जातियाँ हैं वहाँ सम्मिलित देश-भक्ति पैदा नही हो सकती और इस प्रकार उनमें आंतरिक एकता नही रह पायेगी। अब इस तथ्य को मान लिया गया है कि जहाँ राष्ट्रीय सीमा रेखा खींची गयी हो, वही राजनीतिक सीमा-रेखा का अस्तित्व समझना चाहिए। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए जे० एस० मिल ने कहा है कि स्वतंत्र सस्थाओं की यह सामान्यतः आवश्यक शर्त है कि राष्ट्रीय सीमा-रेखा पर ही सरकारी सीमा-रेखा खीची जाती है।

किन्तु जिन तथ्यो के आधार पर एक राष्ट्र : एक राज्य के सिद्धान्त को प्रमाणित किया जाता है, वे सर्वथा लचर हैं। किसी भी जाति को आज के युग में एक राज्य बनाने का अधिकार मात्र इस आधार पर नहीं है कि वह अन्य जातियों से भिन्न है। आज जातियों में समन्वय के कारण विकृति आ गई है। तब इस आधार पर राज्य-स्थापना की कल्पना पूणंतः थोथी है। इस कथन को स्वीकार करते हुए एक्टन ने कहा है कि एक राष्ट्र : एक राज्य का सिद्धान्त समाजवादी सिद्धान्त से भी अधिक बेतुका और अपराध मूलक है। जोसेफ ने लिखा है कि यह सिद्धान्त खतरनाक सिद्धान्त है और विश्व-प्रगति के मार्ग मे अवरोधक है। उनका तर्क है कि राष्ट्रीयता और राज्य अलग वस्तुएँ हैं यद्यपि वे साथ-साथ भी रह सकती हैं। प्रो० हाकिंग भी इससे अपनी सहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि किसी भी जाति को राज्य-निर्माण का आन्तरिक अधिकार नहीं है। रैमजे म्योर के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र के लिए स्वतंत्रता एवं एकता अनिवार्य नही है।

किसी राष्ट्र को राज्य में परिणत होने के पूर्व कई बातों का विचार कर लेना चाहिए। यह देखना चाहिए कि वह अपनी सम्पत्ति की व्यवस्था और अपने प्राकृतिक साधनों का विकास कर सकता है या नहीं ? इसी प्रकार उत्तम कानून, उचित न्याय, व्यापार आदि की व्यवस्था करने में सक्षम जाति को ही स्वतंत्र होने का अधिकार है।

राष्ट्रीयता का भविष्य—राष्ट्रीयता आधुनिक सभ्यता की अनिवार्य विचारधारा रही है। इसके विपक्ष में कही बातों को ध्यान में रखने के बाद भी हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि अनेक राष्ट्रों में वह सामान्य जीवन की विचार-धारा है और वे राष्ट्रीयता को आवश्यक तत्व मानते हैं। राष्ट्रीयता मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध जातीयता से ठहराया जाता है और इसे आदिम एवं असभ्य मानव की प्रवृत्ति कहा जाता है, किन्तु आधुनिक युग में मनुष्य की समुदाय में रहने की प्रवृत्ति की सबसे प्रबल एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति राष्ट्रीयता ही है। इसलिए आदिम असभ्य मनोवृत्तियों की गन्ध राष्ट्रीयता में आने के बावजूद यह आज के युग की प्रमुख चेतना हैं।

राष्ट्रीयता के विकास का मूल आधुनिक जनतांत्रिक भावना के उदय में देखा गया है। राष्ट्रीयता को जनतंत्र से बहुत अधिक बल मिला है। ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्य एवं शिक्षित होता गया, उसके मन में यह आकांक्षा बढ़ती गयी कि वह अपनी सरकार के संचालन में योग दे। इस इच्छा की तृप्ति के लिए स्वशासन की आवश्यकता हुई और उन देशों में जहाँ विदेशी शासन था, जागृति आई। उसमें विदेशी सत्ताएँ समूल नष्ट हो गयी। जनतांत्रिक इच्छा और साक्षरता का राष्ट्रीयता के विकास में अभूतपूर्व योगदान है, इसे हेज ने बड़े जोरदार ढंग से स्वीकार किया है। जनतंत्र नवयुग की नवीन चेतना है और इसके साथ फूलने-फलने वाली राष्ट्रीयता भी इससे पूर्णतः आबद्ध है।

आज प्राचीन सीमा-रेखाएँ टूट चुकी हैं। काल एवं दूरी को विज्ञान ने जीत लिया है, किन्तु इसका उपयोग मानव-मंगल के लिए नहीं, अपितु राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर हो रहा है। इससे विश्व-शान्ति खतरे में है, अखिल मानवता भयाक्रान्त है। ऐसे काल में राष्ट्रीयता को कोसा जा रहा है और अन्तराष्ट्रीयता को सार्वजनिक मंगल के लिए ग्रहण करने को कहा जा रहा है। सारे युद्धों के मूल में राष्ट्रीयता की भावना ही वर्तमान है। दूसरे देशों पर जो चढाइयाँ होती रही हैं, उनमें राज्य-विस्तार की मूल भावना है। इसलिये कि अधिक बाजार मिल सके, अधिक भूमि मिल सके, अधिक मजदूर मिल सके और अपने राष्ट्र को अधिक प्रतिष्ठा एवं गौरव मिल सके, किन्तु इससे विश्व में शांति स्थापित होने से रही और मत्स्य-न्याय के अनुसार प्रत्येक बड़ा राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को निगल जाना चाहेगा। मानवीय जीवन खतरे से पूर्ण होगा और होगा विश्व का विनाश। इसलिए आज अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना अपेक्षित है। ऐसे विचारक राष्ट्रीयता को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सद्भावना का शत्रु बताते हैं।

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्व-बन्धुत्व के अप्रतिम समर्थक रहे हैं। उन्होंने इस कारण राष्ट्रीयता को निम्न तथा हेय भावना माना और उसका विरोध करते हुए कहा है कि राष्ट्रीयता निश्चित जन-समूह की आत्म-हित-परक संगठित भावना है। यह आत्ममूर्तिपूजा (Self Idolatry) है। राष्ट्रीयता राजनीति और व्यापार को स्वार्थ सिद्धि के लिए प्रवृत्त करने वाली संस्था है। यह शोषण की संघटित शक्ति है। राष्ट्रीयता का यह रूप स्वार्थ की परिधि में इस प्रकार घिरा नजर आता है कि इसके कारण विभिन्न राष्ट्रों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध असम्भव प्रतीत होता है। इसका फल यह होता है कि एक दूसरे की सांस्कृतिक चेतना के सम्पर्क में आने का अवसर नहीं मिलता और

विश्व के सांस्कृतिक विकास का पथ अवरुद्ध हो जाता है। टैगोर ने अपना दृढ़ मत प्रकट करते हुए अपने देशवासियों को सलाह दी कि वे उस शिक्षा के विरुद्ध संघर्ष कर अपना भारत पा सकेंगे जो उन्हें सिखाती है कि राष्ट्र मानवता के आदर्श से महान् है। राष्ट्रीयता के उस रूप की भर्त्सना की गयी है जिसमें अपने राष्ट की मानसिक आदतों के प्रति गर्व की भावना हो तथा दूसरे राष्ट्र के प्रति द्वेष अथवा बैर-भाव हो। राष्ट्रवाद का विशुद्ध रूप तभी प्रकाशित हो सकता है जब व्यापक मानव हितवाद की आदर्शवादिता से उसका आप्लावन हो।

राष्ट्रीयता अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम की उदात्त भावना है। अतः इसमें विदेशियों के प्रति घृणा की भावना सहज ही जाग्रत हो जाती है। यह आक्रामक राष्ट्रीयता है और इसके विकास की रेखा युद्ध में लय हो जाती है। इसकी चरम परिणति निकृष्ट कोटि के पूंजीवाद में होती है। इस राष्ट्रीयता को भेड़ियों के समूह (Pack of wolves) की राष्ट्रीयता भी कहते हैं। इसका चरम विकास सैनिकवाद में होता है। ऐसी राष्ट्रीयता सैनिकवादी जापान, फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी में विकसित हुई।

विचारों की उदारता की दृष्टि से एक अन्य प्रकार की राष्ट्रीयता भी होती है। इसका सिद्धान्त "जियो और जीने दो" है। इसे भेड़ों के समूह की राष्ट्रीयता कहा गया है।

विगत ६० वर्षों में दो महायुद्ध हुए हैं और तीसरे की पृष्ठ-भूमि तैयार हो रही है। इनके अतिरिक्त कई राज्य-क्रान्तियाँ भी हुई है। जिनके फलस्वरूप विश्व में सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियों पर राजनीतिक और सैनिक शक्तियाँ हावी हैं। इन परिस्थितियों में राष्ट्रीयता युग की मूल प्रवृत्ति रहेगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

राष्ट्रीयता के पीछे एक दीर्घ ऐतिहासिक परम्परा है, उसे सम्प्रति मिटाया नही जा सकता। इसका मूल समूह में रहने की भावना तथा जातीय प्रवृत्ति में निहित है। ऐसी दशा में यह सम्भव नहीं कि शान्ति की स्थापना के लिए इस मूल प्रवृत्ति का उन्मूलन हो जाय। एक यहूदी अमरीकी लेखक ने ठीक ही लिखा है कि "मनुष्य अपनी राजनीति, अपनी पत्नी, अपना धर्म, अपना दर्शन बदल सकता है, किन्तु वह अपने पितामह को नही बदल सकता।"

इसका अर्थ कदापि यह नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीयता उचित नही है और उसके मूल में स्थित विश्व-बन्धुत्व की चेतना हेय है, किन्तु हम राष्ट्रीयता को नही भुला सकते। इसका सम्बन्ध हमारे रक्त से है। हम सी० जे० एच० हेज

के शब्दों में कह सकते हैं कि जब राष्ट्रीयता शुद्ध देश-प्रेम का पर्याय हो, यह मानवता तथा विश्व के लिए वरदान सिद्ध होगी। इस राष्ट्रीयता के मूल में अन्तर्राष्ट्रीयता का पथ निहित है, क्योंकि आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय विश्व का तात्पर्य है उत्तम ढंग से रहने वाले राष्ट्रों का विश्व। जिस राष्ट्रीयता में जातीय उच्चता का दम्भ नहीं रहेगा, वही विश्व की मानवता का उद्धार कर सकती है।

राष्ट्रीयता और जातीयता तथा 'प्रान्तिक अस्मिता'—आदिम मानव की सबसे पहली संस्था जाति थी। समूह-चेतना जाग्रत होने पर उसने समान संस्कृति, परम्परा, सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताओं को मानवों के संघ से सम्बद्ध किया। इस संस्था को जाति के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार जाति मानव-समूह-चेतना की प्राथमिक इकाई है। उसने इस संघ के प्रति अपनी आस्था प्रकट की और उसके प्रति भक्ति एवं श्रद्धा व्यक्त की है। इस चेतना को ही जातीयता के नाम से अभिहित करते हैं।

कालान्तर में जाति का विस्तार हुआ। इसका कारण अनेक विजातियों पर एक जाति की विजय है। इस विजय के फलस्वरूप जाति की लघु सीमा विस्तृत होती गयी और जातीयता की भावना भी लघु परिधि से निकलकर विस्तृत क्षेत्र में आई। इस जातीयता को सी० जे० एच० हेज ने लघु विस्तार वाली राष्ट्रीयता कहा है। इससे स्पष्ट है कि जातीयता ही आदिम राष्ट्रीयता है। उस समय उसका कोई निश्चित सिद्धान्त नही स्थापित हो सका था, किन्तु यह प्रभावशाली चेतना थी, क्योंकि यह स्वाभाविक थी।

आज के युग में आदिम जातीयता राष्ट्रीयता के उद्भव और विकास के अनेक तत्वों में से एक तत्व है। आज केवल जातीय संगठन ही राष्ट्रीयता का अनिवार्य तत्व नहीं है। इसका कारण यह है कि मानव-जाति का सबसे बड़ा संगठन राष्ट्र है, जिसमें अनेक जातियों का समावेश है। साथ ही विभिन्न जातियों के साथ एक जाति का इतना अन्तःसम्बन्ध हुआ है कि जातीय शुद्धता की बात करना मूर्खता है। वंश और रक्त की शुद्धता आज कल्पना है। औद्योगिक विकास तथा अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण मानव आज इतना बहुधन्धी हो गया है कि उसके सामने जाति से भी अधिक प्रमुख समस्याएँ हैं और उनके समाधान के लिये वह क्रियाशील है। इसलिये राष्ट्रीयता के विकास में आदिम जातिवाद का स्थान उतना नहीं रह गया है, जितना पहले था।

किन्तु राष्ट्रीयता को समान संस्कृति, समान परम्पराएँ, समान भाषा आदि से बड़ा बल मिलता है और मानव आज भी इनसे अपने को मुक्त नहीं कर सका

उच्चतर शक्तियों से नियन्त्रित राष्ट्रीय समूह अन्तर्भुक्त हैं। राष्ट्रीयता का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीयता की तुलना में सीमित है। राष्ट्रीयता में एक निश्चित राष्ट्र के प्रति भक्ति होती है। यहाँ राष्ट्र के अन्तर्गत बसने वाले जन की संस्कृति, आर्थिक, धार्मिक एवं अन्य मान्यताएँ ही एकतामूलक हैं। इसमें मानववादी भावना का भी अभाव नहीं है, किन्तु यह भावना जाति, जातीय संस्कृति, धर्म, इतिहास, परम्परा, अर्थ-नीति, राजनीति आदि में बँध जाती है और युद्ध-काल में अन्य राष्ट्रों तथा उनमें बसने वाले मानवों के प्रति घृणा-भावना उत्पन्न हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता की दृष्टि मानव-मंगल की दृष्टि से एक निश्चित समूह तक ही सीमित हो जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीयता का क्षेत्र राष्ट्रीयता से बहुत व्यापक है। इसके मूल में सर्व मानववाद की, विश्व-बन्धुत्व की भावना है। इतना निश्चित है कि अन्तर्राष्ट्रीयता का मूल आधार मानवतावाद है। यह राष्ट्रों की सीमा से दूर हटकर सम्पूर्ण मानव-मात्र में आत्मीयता का बोध कराती है और उनके कल्याण एवं सुख की भावना की ओर हमें उन्मुख करती है।

यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना राष्ट्रीयता की तरह ही नवीन है, किन्तु इसके विकास के बीज हम सुदूर अतीत में देखते हैं। भारतीय मानवतावादी विचारकों ने राष्ट्र की सीमा को विस्तार प्रदान कर सर्व मानव-मंगल की भावना का उद्घोष करते हुए कहा—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भाग्भवेत्।

प्राचीनकाल में कुछ ऐसे राष्ट्र भी थे जो राष्ट्रीय सीमाओं से परे हटकर एक दूसरे की सुख-सुविधा का ध्यान युद्ध एवं शान्ति के काल में रखते थे। इसके लिये निश्चित नियमों का विधान किया गया था। तात्पर्य यह कि आधुनिक अर्थ वहन करने वाले 'अन्तर्राष्ट्रीयता' शब्द के अभाव में भी उसकी अन्य मूलभूत चेतना का विकास लोगों में हो चुका था। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीयता शब्द का अर्थ निर्धारण अठारहवीं शती में हुआ, जब अंतर्राष्टीय विधि और अन्तर्राष्ट्रीयता, इन शब्दों को एक निश्चित बोधकता जेरेमी बेन्थम के द्वारा दी गई।

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में धार्मिक संस्थाओं का हाथ विशेष रूप से रहा है। जब धार्मिक संस्थाएँ रूढ़ियों से परे नहीं, उन्होंने मानव को ब्रह्माण्ड का ही एक खण्ड समझा और सम्पूर्ण से खण्ड के नियोजन के लिये मानव-मात्र की

एकता की आस्था प्रचारित की। यह आस्था उनकी आत्मगत भावना ही रही है, किन्तु इस आस्था ने एक नवीन चेतना का स्फुरण किया जिसे हम अंतर्राष्ट्रीयता कह सकते हैं। ईसाई धर्म ने पवित्र रोमन साम्राज्य की कल्पना के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संघ के निर्माण की आकांक्षा ही प्रकट की थी। बौद्ध धर्म ने भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संघ के संगठन के लिये प्रयास किया था और इस कार्य में उसे बहुत अंशों में सफलता भी प्राप्त हो चुकी थी। सली और रूसो ने भी पवित्र सधि (Holy Alliance) की कल्पना की। ये भावनाएँ अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के लिये हैं, जिनके प्रकाश में मानव-बन्धुत्व की भावना फूलती-फलती रही है।

आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना कल्पना-प्रसूत नहीं है, वरन् सिद्धान्त एवं वर्ग-संघर्ष की यथार्थ भूमि पर उत्पन्न है। प्रायोगिक विज्ञान ने मध्य-युगीन धार्मिक विश्व-बन्धुत्व की भावना से मध्यम वर्ग को मुक्त किया और विद्या के विस्तृत गणराज्य का निर्माण कर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को महत्व प्रदान किया। फ्रांसीसी क्रान्ति के फलस्वरूप पुरोहित और राजा के प्रति बैर-भाव और जन-स्वार्थ के लिये सीमा के अतिक्रमण की चेतना से संयुक्त एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय वर्ग ने संघर्ष किया। बुद्धिजीवियों ने सीमा का अतिक्रमण किया और विभिन्न राष्ट्र में बसने वाले आर्थिक स्तर पर संघटित अपने वर्ग से घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखा। फ्रैन्कलिन जैसे बुद्धिवादियों का नारा था, 'जहाँ स्वतन्त्रता है, वहीं मेरा देश है।' नैपोलियन द्वारा किया गया 'पवित्र समझौता' (Holy Alliance) शांति स्थापना के निमित्त विश्व को एकत्र कर पुलिस राज्य कायम करने का एक दुर्बल प्रयास था।

पुलिस वर्दी में अन्तर्राष्ट्रीयता के अवतार लेने के बाद उसकी प्रतिक्रियाएँ हुईं। मार्क्सवाद ने वर्ग-चेतना के आधार पर सभी देश के मजदूरों को एक करने का प्रयास किया और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूंजीवाद के विनाश के लिये संघर्ष किया। मार्क्सवादी राष्ट्रीय सरकारों और देश-प्रेम की भावना को सर्व-प्रहार वर्ग में विभेद पैदा करने वाला साधन समझते हैं, जिसे पूंजीवादी व्यवस्था अपनाती है। इसलिये वर्ग-चेतना से अभिभूत मजदूरों का अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर एकीकरण करना है, जिससे पूंजीवाद का विनाश कर सर्व मानव की एक सरकार कायम हो सके।

इस दिशा में किये गये प्रयासों में लीग ऑफ नेशन्स और संयुक्त राष्ट्र संघ का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। इन संस्थाओं की स्थापना से अन्तर्राष्ट्रीय चेतना को बड़ा बल मिला है। इनका उद्देश्य सर्वथा अन्तर्राष्ट्रीय है। इसलिये इन्हें अतिराज्य, या विश्व-सरकार कहा जा सकता है।

उच्चतर शक्तियों से नियन्त्रित राष्ट्रीय समूह अन्तर्भुक्त हैं। राष्ट्रीयता का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीयता की तुलना में सीमित है। राष्ट्रीयता में एक निश्चित राष्ट्र के प्रति भक्ति होती है। यहाँ राष्ट्र के अन्तर्गत बसने वाले जन की संस्कृति, आर्थिक, धार्मिक एवं अन्य मान्यताएँ ही एकतामूलक हैं। इसमें मानववादी भावना का भी अभाव नहीं है, किन्तु यह भावना जाति, जातीय संस्कृति, धर्म, इतिहास, परम्परा, अर्थ-नीति, राजनीति आदि में बँध जाती है और युद्ध-काल में अन्य राष्ट्रों तथा उनमें बसने वाले मानवों के प्रति घृणा-भावना उत्पन्न हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता की दृष्टि मानव-मंगल की दृष्टि से एक निश्चित समूह तक ही सीमित हो जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीयता का क्षेत्र राष्ट्रीयता से बहुत व्यापक है। इसके मूल में सर्व मानववाद की, विश्व-बन्धुत्व की भावना है। इतना निश्चित है कि अन्तर्राष्ट्रीयता का मूल आधार मानवतावाद है। यह राष्ट्रों की सीमा से दूर हटकर सम्पूर्ण मानव-मात्र में आत्मीयता का बोध कराती है और उनके कल्याण एवं सुख की भावना की ओर हमें उन्मुख करती है।

यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना राष्ट्रीयता की तरह ही नवीन है, किन्तु इसके विकास के बीज हम सुदूर अतीत में देखते हैं। भारतीय मानवतावादी विचारकों ने राष्ट्र की सीमा को विस्तार प्रदान कर सर्व मानव-मंगल की भावना का उद्घोष करते हुए कहा—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भाग्भवेत्।

प्राचीनकाल में कुछ ऐसे राष्ट्र भी थे जो राष्ट्रीय सीमाओं से परे हटकर एक दूसरे की सुख-सुविधा का ध्यान युद्ध एवं शान्ति के काल में रखते थे। इसके लिये निश्चित नियमों का विधान किया गया था। तात्पर्य यह कि आधुनिक अर्थ वहन करने वाले 'अन्तर्राष्ट्रीयता' शब्द के अभाव में भी उसकी अन्य मूलभूत चेतना का विकास लोगों में हो चुका था। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीयता शब्द का अर्थ निर्धारण अठारहवीं शती में हुआ, जब अंतर्राष्टीय विधि और अन्तर्राष्ट्रीयता, इन शब्दों को एक निश्चित बोधकता जेरेमी बेन्थम के द्वारा दी गई।

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में धार्मिक संस्थाओं का हाथ विशेष रूप से रहा है। जब धार्मिक संस्थाएँ रूढ़ियों से परे नहीं, उन्होंने मानव को ब्रह्माण्ड का ही एक खण्ड समझा और सम्पूर्ण से खण्ड के नियोजन के लिये मानव-मात्र की

एकता की आस्था प्रचारित की। यह आस्था उनकी आत्मगत भावना ही रही है, किन्तु इस आस्था ने एक नवीन चेतना का स्फुरण किया जिसे हम अंतर्राष्ट्रीयता कह सकते हैं। ईसाई धर्म ने पवित्र रोमन साम्राज्य की कल्पना के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संघ के निर्माण की आकांक्षा ही प्रकट की थी। बौद्ध धर्म ने भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संघ के संगठन के लिये प्रयास किया था और इस कार्य में उसे बहुत अंशों में सफलता भी प्राप्त हो चुकी थी। सली और रूसो ने भी पवित्र सन्धि (Holy Alliance) की कल्पना की। ये भावनाएँ अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के लिये हैं, जिनके प्रकाश में मानव-बन्धुत्व की भावना फूलती-फलती रही है।

आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना कल्पना-प्रसूत नहीं है, वरन् सिद्धान्त एवं वर्ग-संघर्ष की यथार्थ भूमि पर उत्पन्न है। प्रायोगिक विज्ञान ने मध्य-युगीन धार्मिक विश्व-बन्धुत्व की भावना से मध्यम वर्ग को मुक्त किया और विद्या के विस्तृत गणराज्य का निर्माण कर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को महत्व प्रदान किया। फ्रांसीसी क्रान्ति के फलस्वरूप पुरोहित और राजा के प्रति बैर-भाव और जन-स्वार्थ के लिये सीमा के अतिक्रमण की चेतना से संयुक्त एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय वर्ग ने संघर्ष किया। बुद्धिजीवियों ने सीमा का अतिक्रमण किया और विभिन्न राष्ट्र में बसने वाले आर्थिक स्तर पर संघटित अपने वर्ग से घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखा। फ्रैन्कलिन जैसे बुद्धिवादियों का नारा था, 'जहाँ स्वतन्त्रता है, वहीं मेरा देश है।' नैपोलियन द्वारा किया गया 'पवित्र समझौता' (Holy Alliance) शांति स्थापना के निमित्त विश्व को एकत्र कर पुलिस राज्य कायम करने का एक दुर्बल प्रयास था।

पुलिस वर्दी में अन्तर्राष्ट्रीयता के अवतार लेने के बाद उसकी प्रतिक्रियाएँ हुईं। मार्क्सवाद ने वर्ग-चेतना के आधार पर सभी देश के मजदूरों को एक करने का प्रयास किया और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूँजीवाद के विनाश के लिये संघर्ष किया। मार्क्सवादी राष्ट्रीय सरकारों और देश-प्रेम की भावना को सर्व-प्रहार वर्ग में विभेद पैदा करने वाला साधन समझते हैं, जिसे पूँजीवादी व्यवस्था अपनाती है। इसलिये वर्ग-चेतना से अभिभूत मजदूरों का अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर एकीकरण करना है, जिससे पूँजीवाद का विनाश कर सर्व मानव की एक सरकार कायम हो सके।

इस दिशा में किये गये प्रयासों में लीग ऑफ नेशन्स और संयुक्त राष्ट्र संघ का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। इन संस्थाओं की स्थापना से अन्तर्राष्ट्रीय चेतना को बड़ा बल मिला है। इनका उद्देश्य सर्वथा अन्तर्राष्ट्रीय है। इसलिये इन्हें अतिराज्य, या विश्व-सरकार कहा जा सकता है।

वर्तमान युग में शांति ही अन्तर्राष्ट्रीयता का एकमात्र अंग है। आज का मानव युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त है। वह शांति के लिये प्रयत्नशील है। इसलिये वह सभी राष्ट्रों में सद्भाव उत्पन्न करना चाहता है और चाहता है कि सभी राष्ट्र मिलकर विधि-निषेध का उल्लेख करें, जिससे युद्ध एवं शांति के काल का जीवन भी यथासाध्य सुखद एवं शांतिमय हो सके।

अन्तर्राष्ट्रीय भावना के विकास की पृष्ठ-भूमि गत दो पीढ़ियों में तैयार हुई है। फलस्वरूप आज विश्व आर्थिक दृष्टि से एक इकाई हो गया है। हम अब आर्थिक स्तर पर देश को दृष्टि में नही रखते, वरन् सम्पूर्ण विश्व को रखते हैं। आज विज्ञान ने अनेक अनुसंधानों के फलस्वरूप काल और दूरी पर विजय प्राप्त कर ली है, जिससे सम्पूर्ण विश्व सिमटकर आंगन सा दीखता है। हम जिन वस्तुओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर करते हैं, उन्हें हम विश्व-बाजार में खपा देना चाहते हैं। इसलिए हम विश्व को अपना बाजार समझते हैं। उद्योग-धन्धों के विकास के लिए आज पूंजी गतिशील हो गई है।

फलस्वरूप एक देश की पूंजी दूसरे देश में लगायी जाती है। इन परिस्थितियों के फलस्वरूप आज विश्व-मानव में एकीकरण की भावना का उद्भव स्वाभाविक भी है।

अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को लोग राष्ट्रीय भावना की विरोधिनी समझते हैं, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीयता की कल्पना तभी संभव है, जब राष्ट्रीयता को चुनौती न दी जाय और उसके अस्तित्व को पूर्व स्वीकृत कर लिया जाय।

अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का बुद्धिवादी वर्ग ने समर्थन किया है तथा उसके विकास के लिए प्रयत्न भी किया है, किन्तु इसके मार्ग में बाधाएँ भी हैं। सर्वप्रथम यह शंका की जाती है कि क्या राज्यों का सहयोगात्मक आधार पर एकीकरण सम्भव है, क्योंकि उनमें से कुछ जनवादी हैं, कुछ अधिनायकवादी और अन्य साम्यवादी। विभिन्न विचारकों ने इस तथ्य पर विचार किया है और तत्सम्बन्धी अपनी राय दी है। कान्ट अन्तर्राष्ट्रीय संघ में केवल गुण (Republics) को ही सम्मिलित करने के पक्ष में था। विलसन निरंकुशवाद (Autocracy) को उस संघ में शामिल नहीं करना चाहता था। मार्क्स और लेनिन वर्गहीन राज्यों का एकीकरण ही स्वीकार करते हैं। दूसरी कठिनाई यह है कि अन्तर्राष्ट्रीयता से अधिक बलवती भावना राष्ट्रीयता की है और इसीलिए राष्ट्रीय आधार पर ही पूंजी, श्रम तथा अन्य प्रकार के संगठन होते हैं। किन्तु इसके बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न संस्थाएँ स्थापित होती जा रही हैं।

वह राष्ट्रीयता जो उग्र है और विदेशियों को अपना शत्रु समझती है, अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में बाधा बन सकती है। ऐसी राष्ट्रीयता ही हेय तथा त्याज्य है, किन्तु जहाँ राष्ट्रीयता उग्र नहीं है, वहाँ अन्तर्राष्ट्रीयता का राष्ट्रीयता से कोई विरोध नहीं है।

राष्ट्रीयता और राजनीति—राष्ट्रीयता अपने राष्ट्र के प्रति वह प्रेमभाव है, जो राष्ट्र के उद्भव तथा विकास की रेखाओं में बँधकर चलता है। जब-तक राष्ट्रीयता मात्र प्रेम-भाव प्रदर्शन तक सीमित होती है, इसका रूप सांस्कृतिक होता है, किन्तु जब उसका उद्देश्य राष्ट्र का निर्माण, विकास होता है, तब उसका रूप राजनीतिक होता है। इसीलिए राष्ट्रीयता कभी सांस्कृतिक तथा कभी राजनीतिक रूप में अवतरित होती है। १६ वी शताब्दी की राष्ट्रीय चेतना में राजनीति तत्व को समाविष्ट करने का श्रेय मेजिनी को है, जिसने यह स्थापित किया कि राजनीतिक तथा राष्ट्रीय सीमाएँ एक हों। बाद में नैपोलियन तृतीय ने इस स्थापना को कार्यान्वित करने का प्रयास किया। इस काल के बाद से प्रत्येक राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्देश्य राष्ट्रीय राज्य का निर्माण, रक्षा और उसकी शक्ति का विकास हुआ। विल्सन के आत्म-निर्णय के कार्य-क्रम ने इसको बल दिया और यूरोप में अनेक राष्ट्रों में सार्वजनिक प्रभु-सत्ता की स्थापना की गई, जिसका विकास कालक्रमेण राष्ट्रीय जनतंत्र के रूप में हुआ।

जो राष्ट्र गुलाम होता है, वहाँ सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पर राजनीतिक राष्ट्रीयता प्रमुख हो जाती है। उस राष्ट के निवासियों का चरम उद्देश्य स्वतन्त्रता प्राप्त करना होता है। परतंत्र देश में शोषण आदि की समस्याएं भी होती हैं और उनके निवारण के लिए बलिदान भी करना होता है। मेजिनी ने ठीक ही कहा है कि सदियों से परतन्त्र राष्ट्र अपने आदर्श तथा आत्म-बलिदान के द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति की आकांक्षा बिदेशियों के प्रति घृणा एवं द्वेष के आधार पर फूलती-फलती है। इस प्रकार राष्ट्रीयता की भावना का सम्बन्ध राजनीति से हो जाता है। शासक नीति की राजनीतिक गतिविधि का शासित जाति की राष्ट्रीयता से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित है, क्योंकि उक्त गतिविधि के आधार पर ही राष्ट्रीयता की भावना तीव्र अथवा मन्द होती है।

मूलत: प्रत्येक राष्ट्रीयता का उद्देश्य एक राज्य की स्थापना तथा उसका चरम विकास करना होता है। ऐसी दशा में राजनीति राष्ट्रीयता की सहायिका बन जाती है और उसको नित्य विकसित करती रहती है।

कवि की स्वतंत्रता का प्रश्न : एताद्विषयक मत-मतान्तर—स्वातंत्र्य मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। सांस्कृतिक जीवन का अग्रदूत साहित्यकार (कवि) के जीवन की भी पहली शर्त है। व्यक्ति स्वातंत्र्य। जिस अनुपात में उसकी स्वतंत्र चेतना की सीमाओं और विवशताओं में बांधा जाता है उसी अनुपात में उसकी रचना अपूर्ण रह जाती है। उसकी स्वतन्त्र चेतना को जितना ही अधिक मुक्त रखा जाता है, वह जीवन की अनेक संभावनाओं की अभिव्क्ति के द्वारा उत्कृष्ट काव्य रचना प्रस्तुत करती है। विश्व-साहित्य की सर्वोत्तम कृतियाँ कवि की स्वतंत्रता के फलस्वरुप ही उत्पन्न हुई हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रख भारतीय शास्त्रों में "निरंकुशा: कवय:" कहा गया है। कवि की स्वतन्त्रता के हिमायती कवि को किसी सत्ता, मान्यता आदि के बन्धनों में बँधने वाला नहीं मानते। वे कवि को समाज के प्रति उत्तरदायी नही मानते। वे रचना का मूल उद्देश्य स्वांत: सुखाय समझते हैं। स्वांत: सुख के लिए कवि जिन अनुभूतियों का चयन जीवन के विविध क्षेत्रों से करता है, उनसे जनहित भी हो जाता है, लेकिन वह कवि का गौण का विषय है। जहाँ रवि की भी गति कुंठित है वहाँ भी कवि की प्रतिभा प्रविष्ट है, ऐसी उक्ति प्रचलित है।

किन्तु कवि की स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं कि कवि नैतिक बन्धनों से रहित होकर उच्छृंखलताओं पर उतर आए और अपनी अनैतिक रचनाओं से अराजकता फैला दे। स्वतन्त्रता के पक्षधर यह दलील देते हैं कि कवि क्रान्तदर्शी होता है, उसमें युगीन चेतना का जितना अधिक प्रस्फुटन होता है, उतना अन्य मानवों में नहीं। तब यह कैसे संभव है कि वह अपनी रचनाओं में उच्छृंखल हो जाय। इस स्वतन्त्रता का अर्थ दायित्वहीनता नही है, वरन् मर्यादा का निर्वाह है। कवि के समान चेतन प्राणी व्यक्ति स्वातन्त्र्य के द्वारा अपने सामाजिक दायित्व की रक्षा ही कर सकेगा। काव्य-रचना का उदाहरण देते हुए यह कहा जा सकता है कि स्वातन्त्र्य जब कवि को मिला तो उसने भक्ति-युग में अपूर्व काव्य हमें दिया है, किन्तु जब राजाश्रयों में पलने वाली रीतिकालीन कविता पर आश्रयदाता की प्रशंसा एवं मनोरंजन का बन्धन लगाया गया तो उत्कृष्ट रचनाएँ नहीं हो सकीं। उनमें स्थूलता एव चमत्कार का बाहुल्य ही रहा। वास्तव में जहाँ कवि की प्रतिभा को स्वतंत्रता नहीं रहती, वहाँ काव्य-चेतना का हनन होता है। जहाँ अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता कवि को नहीं है, वहाँ उसकी वृत्तियाँ आत्मनिष्ठ हो जाती हैं। उसका साहित्य अन्तर्मुख हो जाता है। बाह्य जगत् से दृष्टि खींचकर कवि अन्तर्मुख मन पर दृष्टि डालता है। छायावादी युग के पूर्व जब कवि की स्वतन्त्रता पर आक्षेप

हुआ तो छायावाद का जन्म हुआ। उसका अहं ही समाज और परिस्थिति का सत्य बन गया। वह जग-दर्शन नहीं, अपितु आत्म-दर्शन करता है। इसे संघर्ष से, जीवन-जगत् की सच्चाइयों से पलायन भी कहा जाता है।

जबसे कविता को जीवन की व्याख्या कहा गया है, कवि के सामने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से भी अधिक सामाजिक दायित्व के निर्वाह का प्रश्न उपस्थित हुआ है। साम्यवादी कवि पर सामाजिक दायित्व आरोपित करते हैं। वे व्यक्ति-स्वातंत्र्य और कवि-स्वातंत्र्य का विरोध करते है। वे मानते हैं कि व्यक्ति अपने आप में स्वतंत्र इकाई होने पर भी बिना किसी अपवाद के समाज पर निर्भर करता है। व्यक्ति यदि समाज से अलग होता है तो समाज नही टूटता, लेकिन व्यक्ति टूट जाता है। "इसलिए व्यक्ति को राजी-खुशी से या रो-धोकर, इसी समाज में रहना है।"

सवाल उठता है कि क्या व्यक्ति समाज का गुलाम है? इसका उत्तर मार्क्सवादी देते हैं कि व्यक्ति उस अर्थ में समाज का गुलाम नहीं है जिस अर्थ में घोड़ा गाड़ीवान का गुलाम है। व्यक्ति के व्यक्तित्व की रचना सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप होती है। इसलिए समाज के साथ रहकर व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर मिलता है। इसलिए उसका समाज-निरपेक्ष रहना संभव नहीं है।

इसके साथ ही यह प्रश्न उठता है कि साहित्य है क्या? क्या यह यथार्थ का प्रतिबिम्ब है, अथवा कलाकार के परिवेश का वस्तुगत चित्र है। मार्क्सवादी कहता है, नही। "साहित्य वर्ग चेतना का कल्पना-प्रसूत रूप है। "कला" वर्ग विशेष की मनःस्थितियों का विशिष्ट भण्डार है, जिसे कलात्मक रचना कहते हैं। इसीलिए मिखाइल लिफशिज कहते हैं कि हर साहित्यिक कृति पारिभाषिक टेलीग्राम (coded telegram) के रूप में परिवर्तित है और कला का सम्पूर्ण इतिहास वर्ग-चेतना के मूल अर्थों को छिपाने वाले प्रतीकात्मक चित्रों का संग्रह मात्र है। लेनिन यह मानते हैं कि "कला जनता की है और मजदूरों के विस्तृत समूह के अन्तर्गत इसकी जड़ें होनी चाहिए। यह जरूरी है कि जनता उसे समझे और प्यार करे।"

जब व्यक्ति स्वातंत्र्य के युग में कवियों ने अपने युग के आश्रयदाताओं की विलास-भावना की तृप्ति के लिए रचनाएँ की अथवा जीवन के संघर्ष से दूर भागकर व्यक्तिगत आनन्द को ही कला का उद्देश्य ठहराया तो प्रतिक्रिया स्वरूप समाज-चेतना का नारा उठाया गया और कहा गया कि जनता के लिए साहित्य-रचना होनी चाहिए, वह केवल महलों की ही विरासत न बने। "कला

के लिए" सिद्धान्त की निस्सारता सिद्ध की गयी कि साहित्य विचारों की अनुभूति है, उसका समाज से कोई अलग अस्तित्व नहीं है। स्टालिन के शब्दों में "कलाकार मानव आत्मा का इंजीनियर है।" उसकी रचना का उद्देश्य कला अथवा मन- बहलाव नहीं, बल्कि समाज का भौतिक और सांस्कृतिक कल्याण होना चाहिए।

मार्क्सवादियों की मान्यता है कि "कलाकार और साहित्यिक व्यक्तिवाद की शरण तभी लेता है जब वो सामूहिक जीवन में संघर्ष और असुविधा देखकर मैदान से भागना चाहता है। जब वह अपना और अपने वर्ग के हित के पूर्ण होने की सम्भावना नही देखता तभी वह आत्मरति को ही सुख बताने का दार्शनिक दंभ करता है। वह ऐसी स्थिति में ही साहित्य के द्वारा समाजवादी निर्माण के आदर्श को नही अपनाता।

सामाजिक दायित्व का प्रश्न साहित्यकार के लिए मूल प्रश्न है, किन्तु व्यक्तिवादी साहित्यकार इस दायित्व का प्रश्न उठते ही स्वाधीनता के हरण की बात करते है। उनकी मान्यता है कि सामाजिक उत्तरदायित्व के आधार पर राज्य लेखकों की रचनाओं को सेन्सर करता है और वर्ग चेतना को ही साहित्य का मूल तत्व मानकर रचना करने को बाध्य करता हैं। इसीलिए वह कवि की स्वतन्त्रता के नाम पर सामाजिक उत्तरदायित्व को स्वीकार नहीं करता।

कवि की स्वतत्रता का प्रश्न तात्विक प्रश्न है और इस तथ्य से कोई भी असहमत नही होगा कि कवि से प्रचार नहीं करवाया जा सकता, उसे प्रोपेगैन्डा का माध्यम नही बनाया जा सकता। प्रचारात्मक साहित्य स्थूल एवं सामयिक होता है। उसका दीर्घकालीन महत्व नहीं होता। आज का कवि इतना प्रबुद्ध है कि उससे यह आशा नही की जा सकती कि वह समाज के प्रति अनुत्तरदायी हो जाय। लेकिन काव्य में स्वतन्त्रता के नाम पर जिस असामाजिक तत्व का उद्घाटन आए दिन हो रहा है, उससे यह भी अनुमान लगाया जा रहा है कि कवि उत्तरदायित्वहीन हो उठे हैं।

इसके साथ नैतिकता का प्रश्न भी सम्बद्ध है। क्या कवि को वह सब कुछ कहने का अधिकार है जो स्वीकृत नही है और जो लोक-मंगल के प्रतिकूल है ? इस तथ्य से सभी सहमत हैं कि कवि-कर्म नैतिकता का अपवाद नहीं है। यह बात सही है कि कभी-कभी कवि को स्वीकृति नीति के प्रतिकूल भी लिखना पडता है, लेकिन वह तभी होता है, जब नैतिकता रूढ़िवादिता के कारण दुस्सह हो जाती है, लोक-प्रगति के मार्ग में बाधक बन जाती है। सामान्य

स्थिति में यदि वह मर्यादा की सीमा लांघने की चेष्टा करता है तो यह उसकी उच्छृंखलता का द्योतक है।

आज जिस स्वतन्त्रता की चर्चा हो रही है वहाँ मंगल, उपयोगिता आदि का प्रश्न नहीं है। वहाँ प्रश्न है सिर्फ स्वतन्त्रता का। कवि जो कुछ कहना चाहे, जो कुछ लिखना चाहे, लिखे। स्वतन्त्रता तथा दायित्व एक दूसरे के पूरक हैं। स्वतन्त्रताहीन दायित्व दासता है और दायित्वहीन स्वतन्त्रता उच्छृंखलता।

कवि के समाज के प्रति उत्तरदायी होने का मतलब यह नहीं है कि वह किसी वर्ग विशेष का झण्डा बरदार बने। कवि बाह्य जगत् की अनुभूतियों से प्रभावित होता है और उन अनुभूति-खण्डों का आकलन अपने काव्य में करता है, जिससे समाज को एक नई प्रेरणा मिले, गति मिले। यदि वह समाज को छोड़कर आत्म-रति के धोधे में छिप जाता है, सामाजिक संघर्षों, वास्तबिक जीवन से दूर रहता है तो उसका काव्य ह्रासमूलक हो उठता है। रस एवं सौन्दर्य की अनुभूति की अभिव्यक्ति करने वाला काव्य भी समाज-निरपेक्ष नही होता। वह समाज से प्रेरणा ग्रहण करता है और अपने जीवन के लिए सामाजिक परिस्थितियों तथा वृत्तियों के अनुरूप परिवर्तित होता है। इसी प्रकार सामाजिक जीवन के परिवर्तन के साथ ही मानव की सौन्दर्यानुभूति में भी परिवर्तन होते हैं।

कवि मात्र वर्ग-चेतना का गायक ही नहीं है। उसकी वाणी पर राज-सत्ता की मुहर की भी अपेक्षा नहीं है। वह राजनीति का अनुचर नही है। साहित्य स्वतन्त्र है और उसका सवाहक कवि भी स्वतन्त्र है, किन्तु राजकीय दण्ड-विधान से मुक्ति का यह तात्पर्य नही कि वह अपने साहित्य के लिए समाज के प्रति उत्तरदायी नही है। कवि सामाजिक प्राणी है। इसलिए उसे यह अधिकार नहीं कि वह अपनी "अनैतिकता से सम्पूर्ण समाज को अनैतिक बना दे। वह लोक-मंगल से अलग रहकर जी ही नहीं सकता। सच्चा कवि तो वही है जो स्वतन्त्र होकर अनुत्तरदायी नहीं है। वह समाज की प्रत्येक गतिविधि से प्रेरणा ग्रहण करता है तथा विषम परिस्थितियों में जनभावना को तीव्रता तथा उत्साह प्रदान करता है।

यह संभव नहीं है कि कवि अपने परिवेश से अछूता रहकर रचना करे। उसका सम्वेदनशील हृदय अवश्य ही सामाजिक परिस्थितियों से आलोड़ित-विलोडित होगा और उसका प्रभाव उसके मानस पर भी पड़ेगा। मानस में प्रति

तयों की अभिव्यक्ति से विलग होकर साहित्य-रचना

कदापि संभव नही है, जो साहित्य ऐसा होगा, वह सत् साहित्य नही कहा जा सकता ।

काव्य-कला पर राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव—ऊपर हम कह चुके हैं कि कवि सामाजिक उत्तरदायित्व से अलग नहीं रह सकता। यद्यपि उसके कवि-कर्म पर कोई सेन्सरशिप नहीं है । इस तथ्य से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में समाज का रूप प्रतिबिम्बित होता है। समाज अथवा राष्ट्र की प्रत्येक धड़कन का अकन काव्य में होता है ।

कवि संवेदनशील प्राणी होता है । इसलिए वह युग की प्रत्येक गति विधि का अंकन अपनी कविता में कर पाता है। उसके राष्ट्र के जीवन में जो उत्थान-पतन आते हैं, उनको वह परखता है और उनका सही अंकन अपने काव्य में करता है । साथ ही विभिन्न राष्ट्रीय समस्याओं के निदान में वह योगदान भी करता है ।

राष्ट्रीयता समग्र राष्ट्र की मूल भावना है। जब-जब राष्ट्र पर खतरा आता है और उसका जीवन संघर्षो की आग में झुलसने लगता है, कविता आगे आती है और जन-जीवन में नई प्रेरणा का संचार कर राष्ट्रीय भावना की पुष्टि करती है । विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जबकि राष्ट्र पर संकट की घड़ी उपस्थित होती है साहित्य अपनी सेवाएँ सबसे पहले अर्पित करता है । कविता अपनी वाणी से सर्वप्रथम उक्त समस्या के निदान के लिए जन-मानस का आह्वान करती है । कलाओं में सबसे अधिक जागरूक काव्य-कला ही है । अतः इसका राष्ट्र के दुःख-सुख के साथ चलना स्वाभाविक ही है ।

राष्ट्रीय भावना का विकास मूलतः उन स्थितियों में विशेष होता है, जब राष्ट्र पर विदेशी आक्रमण हो, तथा किसी अन्य उद्देश्य की सिद्धि की अपेक्षा हो। साहित्य ही ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा जन-चेतना की अभिव्यक्ति अनादि युग से हर देश में होती आई है । जब भी ऐसी स्थिति होती है काव्य का विद्रोही स्वर उठता है और जन अपनी भूमि अथवा संस्कृति की रक्षा एवं विकास के लिए सन्नद्ध हो जाता है। काव्य-कला पर राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव सदा ही रहा है । काव्य मूलतः राष्ट्रीयता की ही अभिव्यंजना है। प्रत्येक काव्य में राष्ट्रीय अथवा जातीय जीवन का ही चित्रण होता रहा है। राष्ट्रीय परिस्थितियों में ज्यों-ज्यों परिवर्तन होते जाते हैं, काव्य के रूप में भी उसी प्रकार परिवर्तन होते जाते हैं। राष्ट्रीय जीवन में जो उतार-चढ़ाव होते हैं उनका सही और यथार्थ अंकन काव्य के माध्यम से होता है। इससे स्पष्ट

है कि काव्य-कला पर राष्ट्रीयता का प्रभाव पड़ता है और उसकी प्रत्येक धड़कन का उत्तर काव्य-कला देती रही है।

उपसंहार—इस विवेचन से यह स्पष्ट लक्षित है कि राष्ट्रीयता राष्ट्र के प्रति वह प्रेम-भाव है जिसमें राष्ट्र के प्रभु-सत्ता प्राप्त करने, उसकी रक्षा करने तथा उसके गौरव एवं सम्मान वृद्धि की कामना वर्तमान रहती है। राष्ट्र की सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विकास की भावना भी इसमें अनुस्यूत है।

राष्ट्रीयता मानव की मूल प्रवृत्ति है। वह आदिम युग से ही ऐसे भू-भाग से अनुराग करता आ रहा है जहाँ के कण-कण से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। राष्ट्रीयता एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। यह भाव प्रत्येक मानव में आदि काल से वर्तमान है।

राष्ट्रीयता का अन्तर्राष्ट्रीयता से विरोध-भाव नहीं है। वह राष्ट्रीयता जो दूसरे राष्ट्रों के प्रति द्वेष-भाव नहीं रखती, वरन् उनके प्रति बन्धु-भाव रखती है, अन्तर्राष्ट्रीयता की पक्ति में ही आ जाती है।

राष्ट्रीयता अथवा देश के प्रति अनुराग दो दिशाओं में लक्षित होता है। एक, सांस्कृतिक क्षेत्र में और दूसरे राजनीतिक दिशा में। इस आधार पर राष्ट्रीयता के सांस्कृतिक तथा राजनीतिक दो रूप हो जाते हैं। वह, जो राष्ट्र के सांस्कृतिक उन्नयन की आकांक्षा रखती है, सास्कृतिक राष्ट्रीयता है और जो राजनीतिक अभ्युदय की ओर गतिशील है, राजनीतिक राष्ट्रीयता कही जाती है।

सांस्कृतिक राष्ट्रीयता जन्म-भूमि के प्रति प्रेम, अतीत के गौरव के प्रति सजगता, सचेत, सामाजिक पुनरुत्थान तथा भाषा के विकास आदि को लक्ष्य रखती है, सांस्कृतिक राष्ट्रीयता कहलाती है। इसे पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीयता भी कहा जाता है। जातीय गौरव के प्रति सचेत यह राष्ट्रीयता जातीय पुनरुत्थान चाहती है।

जहाँ एक राष्ट्र में अनेक जातियाँ निवास करती हैं वहाँ इस राष्ट्रीयता के कारण बड़ी बाधा उपस्थित होती है, क्योंकि सभी जातियाँ अपने जातीय गौरव का आख्यान प्रस्तुत करने लगती हैं। इसलिये वहाँ अन्तर्जातीय विभेद उत्पन्न हो जाता है। यह विभेद राष्ट्रीयता के लिये बाधक है।

राजनीतिक राष्ट्रीयता में राष्ट्र राजनीतिक विकास की दिशा प्रशस्त की जाती है। इसका पर्यवसान जनवादी भाव-धारा में होता है। राजनीतिक राष्ट्रीयता सम्पूर्ण राष्ट्र को एक इकाई मानती है। इस इकाई के प्रति प्रेम-भाव

उसमें होता है, खण्ड के प्रति नहीं। खण्ड के प्रति प्रेम-भाव भूमि तथा जन की खण्डित चेतना है। वह राष्ट्रीय भावना को विश्रृंखलित कर देता है। राजनीतिक राष्ट्रीयता इस खण्ड को ग्रहण नहीं करती। वह राष्ट्र की भूमि तथा जन को समग्रता में अपनाती है। यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता की भावना प्रत्येक काल में होती है, लेकिन परतन्त्रता तथा विदेशी आक्रमण के काल में इसमें अधिक तीव्रता आती है। इस अवसर पर बलिदान एवं उत्सर्ग की भावना का भी उद्‌भव एवं विकास होता है।

वह राष्ट्रीयता जो सांस्कृतिक क्षेत्र में जातीय गौरव-गान के बावजूद दूसरी जातियों के प्रति आदर-भाव रखती है तथा राजनीतिक क्षेत्र में पूरे राष्ट्र को राष्ट्रीय इकाई मानकर उससे अभ्युत्थान को अपना लक्ष्य समझती है, उत्तम एवं उदात्त राष्ट्रीयता है। यह अन्य राष्ट्रों के प्रति भी द्वेष-भाव नहीं, वरन् उदार विचार रखती है। ऐसी राष्ट्रीयता से ही प्रस्तुत प्रबन्ध का सम्बन्ध है।

जैसा कि कहा गया है, कवि अपने काव्य में जन-मानस को प्रतिफलित करता है तथा उसे नई दिशा देने का प्रयास करता है। जब राष्ट्र प्रभुत्व सम्पन्न राज्य होता है, उसके विकास की दिशा में कविता गतिशील होती है। विदेशी आक्रमण तथा परतन्त्रता की स्थिति में विदेशी शक्ति को देश के बाहर निकालने के लिये वह जन-मानस में उत्सर्ग एवं बलिदान की प्रेरणा भरती है। सांस्कृतिक उन्नयन की ओर भी कविता प्रवृत्त होती है तथा पुनरुत्थान की कामना करती है।

इस तरह काव्य में सांस्कृतिक तथा राजनीतिक दोनों प्रकार की राष्ट्रीयता का प्रतिफलन होता है। इस प्रबन्ध में आधुनिक हिन्दी काव्य में इसी प्रतिफलन के उद्‌भव तथा क्रमिक विकास का विश्लेषण एवं गवेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

———

द्वितीय अध्याय

भारतीय काव्य में राष्ट्रीयता की परम्परा

हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय चेतना का जो रूप आधुनिक काल में दृष्टिगत होता है उसकी एक परम्परा संस्कृत साहित्य से होती हुई आई है। यह बात दूसरी है कि उसका जो रूप हमें आधुनिक काव्य में मिलता है, वह सम्पूर्ण संस्कृत, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश तथा हिन्दी काव्य के आदि, भक्ति और रीति कालों मे नही है। इसका कारण है कि आधुनिक राष्ट्रीय भावना आधुनिक युग की देन है। इसलिए उसका पूर्ण प्रतिफलन आधुनिक हिन्दी काव्य मे ही हुआ है। लेकिन इतना स्पष्ट है कि आधुनिक राष्ट्रीयता की आंशिक अभिव्यक्ति उक्त काव्यों में अवश्य हुई है। आंशिक इसलिए कि राष्ट्रीयता के भूमि, जन और जन की संस्कृति सम्बन्धी विविध तत्वों मे से कुछ की अभिव्यक्ति उनमें है। राष्ट्रीयता के सांस्कृतिक पक्ष की अभिव्यक्ति संस्कृत काव्य की विशेषता रही है।

सस्कत—राष्ट्र बनाने, उसकी रक्षा करने, उसके प्रति अनुराग प्रकट करने की प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब संस्कृत साहित्य में है। जन्म-भूमि के प्रति प्रेम की सस्कृति काव्य में अनेक उक्तियाँ है। स्वस्थ राष्ट्रीय जीवन के विकास की ओर संस्कृत साहित्य का झुकाव रहा है। इसीलिए उसमें राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति मानित है। राधा कुमुद मुखर्जी के अनुसार "पितृ-भूमि के प्रति उत्कट प्रेम भाव संस्कृत साहित्य में आदि से लेकर अन्त तक अभिव्यक्त है।"

जैसा कि कहा गया है भूमि, जन और जन की संस्कृति के प्रति प्रेम-भाव राष्ट्रीयता है। भूमि के प्रति प्रेम-भाव की प्रथम अभिव्यक्ति वैदिक साहित्य में प्राप्त है। ऋग्वेद के वर्णन से ज्ञात है कि "प्रजा में राष्ट्र के उदय, संगठन और समुत्थान की चेतना प्रबुद्ध थी।" "उपसर्ष मातरम् भूमिम् (मातृ-भूमि की सेवा कर), चतेमहिस्वराज्ये (आओ हम स्वराज्य के लिए यत्न करें) आदि में राष्ट्रीय जागरण ध्वनित है। अथर्ववेद के पृथ्वी सुक्त में भूमि की अर्चना के गीत गाये गये है। भूमि को माता मानकर उसका दैवीकरण भी किया गया है। वैदिक ऋषियों ने कहा, "हे पृथिवि! जो तेरा मध्य भाग है और जो तेरा नाभि भाग है और अन्न आदि बलकारक पदार्थ जो तेरे शरीर से उत्पन्न

हैं, हमें उनमें प्रतिष्ठित कर, हमें पवित्र कर । तू सबकी उत्पादक होने के कारण मेरी माता है और मैं पृथिवी का पुत्र हूँ'':—

यत् ते मध्य पृथ्वी यच्च नम्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासुनोधेह्यभि न : पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उन : पिपर्त्तु । ३। १२। १२।

अथर्व वेद के २७ वें सूक्त में वृक्ष, नाना प्रकार की वनस्पतियों, समस्त पदार्थों तथा समस्त जगत् को धारण करने वाली पृथ्वी की स्तुति की गई है :

यास्यां वृक्षा वनस्पत्या ध्रुवास्तिष्टन्ति विश्वहा ।
पृथ्वीं विश्व धायसं धृतामच्छा वदामसि ।

इसी प्रकार ६३ सूक्तों में मातृ-भूमि के प्रति उदात्त प्रेम भावना प्रकट की गई है ।

अथर्ववेद के बाद मनुस्मृति में मातृ-भूमि के प्रति प्रेम-भाव व्यक्त किया गया है । उसमें मनु मातृ-भूमि के अनेक वरदानों की मुक्त-कंठ से प्रशंसा करते दीख पड़ते हैं । वे मातृ-भूमि द्वारा किये गये उपकारों के लिए भी मातृ-भूमि का गुणगान करते हैं । यह भूमि देवों के हाथ से निर्मित भी तो है ।

मनु के काल में देश की भूमि सम्बन्धी एकता तथा अखण्डता की चर्चा भी हुई । उस समय खण्ड अथवा प्रदेश की भावना से ऊपर देश-भूमि की समग्रता की भावधारा प्रवाहित थी । मनु ने आर्यावर्त्त की सीमा का उल्लेख करते हुए उसकी अखण्डता की ओर संकेत किया है :

आसमुद्रातु वे पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्त विदुर्बुधाः ।

विश्व के अन्य देशों से भारत की श्रेष्ठता का प्रतिपान भी मनुस्मृति में भारत के ब्राह्मणों के ज्ञान की प्रशंसा में उन्होंने कहा कि ''इस प्रदेश में उत्पन्न ब्राह्मण के पास से पृथ्वी के सम्पूर्ण मानवों को अपना-अपना आचार सीखना चाहिये''—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशदग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवः ।

आर्यों के उद्भव तथा उनके विकास की भी चर्चा मनुस्मृति में मिलती है । विदेशियों के आक्रमण से भी भारत की हानि संभव नहीं और न उनके परतन्त्र होने का प्रश्न उठता है, क्योंकि उनकी शक्ति के सामने विदेशी टिक

नहीं पाते थे । इसलिए बार-बार आक्रमण करके भी वहाँ म्लेच्छ (विदेशी) ठहरते नहीं हैं --

आर्या वर्तन्ते तत्र पुन: पुनरुद्भवति । आक्रम्याक्रम्यापि न चिरं तत्र म्लेच्छा स्थातारो भवन्ति ।

विष्णुपुराण में भी भारतवर्ष की महत्ता एवं गौरव का गान किया गया है । उसे स्वर्ग और अपवर्ग से भी श्रेष्ठ बताया गया है :—

नवयोजन साहस्रो विस्तारोऽस्य महामुने ।
कर्मभूमिरिच स्वर्गमापवर्ग च गच्छताम् ।

भारत-भूमि की महत्ता स्वर्ग तथा अपवर्ग से श्रेष्ठ कहना देश के प्रति अनुराग का ही द्योतक है । स्वर्ग-अपवर्ग की सारी सिद्धियों से युक्त भारत में जन्म लेकर देवगण अपने को धन्य मानते हैं :

गायन्ति देवा : किलगीतिकानि
धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गा स्पदमार्गभूते
भवन्ति भूय: पुरुषा सुरत्वात् ।
कर्माण्य संकल्पित तत्फलानि
सन्यस्त विष्णां परमात्म भूते ।
अवाप्य तां कर्म महीमनन्ते
तस्मिल्लय ये त्वमला:प्रयान्ति ।

अर्थात् देवगण भी यही निरन्तर गान करते हैं कि उन्होंने स्वर्ग और अपवर्ग के मार्गभूत भारतवर्ष में जन्म लिया है तथा जो इस कर्म-भूमि में जन्म लेकर फलाकांक्षा से रहित परिणाम स्वरूप श्री विष्णुभगवान को अर्पण करने से निर्मल होकर अनन्त में ही लीन हो जाते हैं वे पुरुष हम देवताओं की अपेक्षा भी अधिक धन्य हैं ।

विष्णु पुराण में भारतवर्ष की अखण्ड सीमा का भी कथन मिलता है, जिसमें एक सम्पूर्ण इकाई के प्रति आस्था भाव दृष्टिगत होता है :—

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र संतति ।

इसी प्रकार भविष्य पुराण में आर्यों का उत्तम स्थान हिन्दुस्तान है, ऐसा कहा गया है जो स्पष्ट ही आधुनिक काल में जोड़े गए अंश में मिलता है । यह भी कहा गया है कि इसके बाद के स्थानों में रहने वाले म्लेच्छ हैं :

हिन्दुस्थानमितिज्ञेयं राष्ट्रमार्यस्य चोत्तमम् ।
म्लेच्छ स्थानं परं सिन्धोः कृततेन महात्मना ।

—भविष्य पुराण

महाभारत भारतीय जनता का महान् राष्ट्रीय काव्य है । इसमें भारतीय जीवन का बड़ा यथार्थ और स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया गया है । भौगोलिक एकता की तरह ही निवासियों की एकता की ओर भी यहाँ के ऋषियों का ध्यान गया था और उन्होंने देश की राजनीतिक एकता स्थापित करने की दिशा में प्रयत्न किये थे । देश के विभिन्न भागों को एक समझा जाता था और चक्रवर्ती राज की स्थापना के द्वारा एकता को अक्षुण्ण रखने की चेष्टा की जाती थी । रामायण और महाभारत काल में होने वाले वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध यज्ञ चक्रवर्तित्व के लिए किये गये प्रयत्न ही हैं । 'महाभारत का प्रसिद्ध युद्ध भारतीय एकता का सुन्दर प्रमाण है । इस युद्ध में सब लोग सम्मिलित थे ।' इससे भारत की अखण्डता का ज्ञान प्राप्त होता है । अथर्ववेद में समान समिति और समान नीति (समानो मंत्रः समितिः समानी) कहकर जन की एकता का उद्घाटन किया गया है । इसी प्रकार समान उद्देश्य तथा समान विचार (समानं व्रत सह चित्तमेषाम्) के द्वारा भी उस काल में जन की एकता का उल्लेख हुआ है । इस प्रकार राष्ट्रीय जीवन तथा कार्यों की अभिव्यक्ति समिति आदि जैसी राष्ट्रीय सस्थाओं के माध्यम से होती थी । समिति में राष्ट्र के सम्पूर्ण जन-समूह का संयोग था ।

राष्ट्रीय भावना का बड़ा गौरवमय स्वरूप चाणक्य के अर्थशास्त्र में दीख पड़ता है । उन्होंने अपने अर्थशास्त्र में राष्ट्र का लक्षण बताते समय लिखा था कि 'इसके निवासियों को शत्रु द्वेषी होना चाहिये अर्थात् किसी भी अवस्था में शत्रु का अस्तित्व और प्रभुत्व देश के अन्दर सह्य नही हो सकता । चाणक्य का यह भी कथन था कि आर्य (भारतीय नागरिक) कभी 'दास' (दूसरे का गुलाम) नही बनाया जा सकता :'

म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेमाद्यातुम् वा नत्वे आर्यस्य दासभावः ।

इस प्रकार विदेशियों से देश की रक्षा की भावना चाणक्य के अर्थशास्त्र में वर्णित है ।

इस देश के निवासियों का प्रेम केवल भारत-भूमि के प्रति ही नहीं है, बल्कि इस देश के प्रत्येक कण से है । वनस्पति, पर्वत, नदी आदि के प्रति भी वही प्रेम-भाव यहाँ के निवासियों में वर्तमान है । देवदारु के प्रति स्नेह भाव व्यक्त करते हुए कालिदास ने बताया है कि इसे शकर पुत्रवत् पालते हैं । स्कन्द-

गुप्त की माता पार्वती के पयोधर का अमृत भी इसके लिए जाना-पहिचाना है। एकबार खाज से व्याकुल जंगली हाथी की रगड़ से उसकी छाल कट जाने पर पार्वती को उतना शोक होता है जितना असुरों के अस्त्रों से घायल सेनानी कार्तिकेय को देखकर :—

अमुं पुरः पश्यसिदेवदारुं पुत्री कृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुंभ स्तननिस्सृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसारयज्ञः।
कंड्यमानेन कटं कदाचिद्वन्य द्विषेनोन्मथिता त्वगस्य।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः।

पार्वती का देवदारु के प्रति यह स्नेह-भाव देश के कण-कण के प्रति उठने वाला प्रेम है। राष्ट्र-प्रेम से प्रभावित व्यक्ति के हृदय में ही वनस्पतियों के प्रति इतनी ममता हो सकती है। कालिदास ने कुमार सभव तथा रघुवंश में हिमालय के सौन्दर्य तथा संपदा का बड़ा विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। कुमार संभव में हिमालय को देवताओं का आत्मरूप कहकर संबोधित किया गया है :

अस्त्युत्तरस्यां दिशिदेवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधीऽवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।

इसी प्रकार संस्कृत साहित्य में भारत की विभिन्न वनस्पतियों के सौंदर्य का वर्णन किया गया है। उनकी महत्ता का गान भी कवियों ने किया है।

प्राकृत तथा पालि साहित्य में वीर भाव की अभिव्यक्ति यत्र-तत्र हुई हैं लेकिन राष्ट्रीयता के किसी रूप की व्यंजना उनमें नहीं मिलती।

अपभ्रंश काव्य में भी राष्ट्रीय भावना का अभाव ही है। लेकिन इस काल में वीर रस के कुछ दोहे प्राप्त हैं जिनमें वीरता का उदात्त रूप दृष्टिगत होता है। ये दोहे नायिका द्वारा अपने प्रियतम की वीरता की प्रशंसा में कहे गये हैं। नायिका सखि से कहती है कि मेरे प्रियतम में दो दोष हैं। एक तो दान करते हुए मैं बच जाती हूँ और दूसरे युद्ध करते समय तलवार :

महु कंत हो बे दोसड़ा हेलि मझंखहि आलु।
दन्तु हो हउं पर अव्वरिअ जूज्झं तहो करवालु।

त्याग, वीरता, नय और धर्मनिष्ठता की प्रशंसा एक दोहे में है :

सबधु करेप्पिणु कधिपमइं त सुपर समलउं जम्मु।
जासुन चाउ न चारहडि नय पम्ह द्वउ धम्मु।

इसी प्रकार अन्य दोहों में वीरता के प्रतिमान उपस्थित किये गये हैं। वीर-रस के ये दोहे राष्ट्रीय काव्य के अन्तर्गत नहीं आते, क्योंकि इनमें न तो देश-

प्रेम की भावना है और न राष्ट्रीयता के अन्य तत्व ही । इसलिए इन्हें राष्ट्रीय भावना का काव्य नहीं कहा जा सकता ।

प्राचीन भारतीय साहित्य में अभिव्यक्त राष्ट्रीयता के रूप—प्राचीन भारतीय साहित्य में अभिव्यक्त राष्ट्रीयता में मूलतः भौगोलिक एकता के प्रति आस्था एवं प्रेम भाव वर्तमान है । वैदिक काल में देश-प्रेम का आधार पृथ्वी माता है । 'पृथ्वी का दैवीकरण सस्कृत साहित्य की एक मूल प्रवृत्ति है, जो अन्य देशों के साहित्य में अप्राप्य है ।' सस्कृत साहित्य मे उल्लिखित ग्राम देवता, कुल देवता तथा क्षेत्र देवता जैसे शब्द स्थान के प्रति प्रेम के परिचायक हैं । स्थान की पूजा देवताओं की तरह होने का कारण यह था कि 'स्थान सांसारिक वैरियों से निवासियों की रक्षा करता था, उनके जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करता था तथा उन्हें मानसिक तथा आध्यत्मिक उन्नति करने का अवकाश देता था ।' इसलिए आर्य जनों के हृदय में ऐसे प्राकृतिक तत्वों के प्रति श्रद्धा उमड पड़ती थी और वे उनकी देवता की तरह पूजा करते थे, उनकी प्रार्थनाएँ की जाती थी । इस प्रकार की प्रार्थनाएँ पृथ्वी, पर्वतों तथा नदियों आदि के प्रति की जाने लगीं । नदियों, पर्वतों आदि का उनके आर्थिक जीवन में बडा महत्वपूर्ण स्थान था । इसलिए उनकी पूजा भी होने लगी । ऋग्वेद के नदी सूक्त में नदियों के उपकारों के लिए उनकी प्रार्थना की गई है ।

स्थान अथवा राष्ट्र के अन्य प्राकृतिक तत्वों के प्रति अभिव्यक्त श्रद्धा को कवि-कल्पना की अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति नही समझना चाहिये । उसमें जीवन की यथार्थता, सत्य तथा जनता की आस्था प्रतिबिम्बित होती है । इस तरह देश-भक्ति का यहाँ उदासीकरण हो जाता है और वह धर्म का एक अग बन जाती है । यहाँ देश-भक्ति राष्ट्र की आर्थिक अथवा भौतिक उन्नति तक ही सीमित नही रह जाती, बल्कि धर्म भावना के रूप में ग्राह्य होकर जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बन जाती है ।

भूमि के अतिरिक्त जन की एकता की ओर भी तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना उन्मुख है । एक स्थान में रहने वाले लोगों में परस्पर स्नेह एवं सद्भाव की वृद्धि हो जाती है तथा वे समान रूप से सोचते-विचारते हैं । वैदिक युग में वर्णित विभिन्न समितियाँ आदि इस एकता को अक्षुण्ण रखने की ओर ही संकेत करती है । इस प्रकार देश में रहने वाले लोगों का अपना समाज बन जाता है जो जन्म-भूमि की रक्षा तथा सेवा के लिए तत्पर दीख पड़ते हैं । इस रक्षा तथा सेवा-भाव की अभिव्यक्ति भी वैदिक युग में हुई है । इससे देश प्रेम की भावना दृढ़तर होती गयी और तब अपने देश को भारतीय लौकिक देशों से कौन कहे स्वर्ग और अपवर्ग से भी श्रेष्ठ समझने लगे ।

धार्मिक शक्तियों, रीति-रिवाजों, राजनीतिक संस्थाओं के माध्यम से भी जन की एकता संपुष्ट होती रही है, इसका प्रमाण संस्कृत साहित्य में उपलब्ध है। भौगोलिक एकता का भाव जन की एकता को दृढ़ करता रहा है। देश भर में तीर्थ-यात्रा का विधान प्रचलित था। इससे लोगों में भौगोलिक एकता की महती चेतना का उदय होता था और वे सम्पूर्ण देश को एक इकाई मानते थे।

धार्मिक भाव से परिचालित देशवासी विभिन्न तीर्थों में जाते थे और प्रत्येक तीर्थयात्री को भ्रातृ-भाव से देखते थे। इस प्रकार विशाल भ्रातृ-भाव का उदय भी देश में दीख पडता था। पूरी भारतीय जनता को पृथक् कर देती है, लेकिन इन धार्मिक संस्थाओं से आत्मा का मिलन हो जाता है।

वैदिक युग से आज तक भारत को अपना देश मानने की प्रवृति रही है और देश की भौगोलिक तथा जनता की एकता कायम रही है। रिवाजों तथा अन्य धार्मिक कृत्यों में राजनीतिक संस्थाओं ने देश की सांस्कृतिक एकता को भी अक्षुण्ण रखा है। इसलिए भारतीय जीवन में राष्ट्रीयता का उदय तथा विकास होता रहा है।

प्राकृत, पालि तथा अपभ्रंश साहित्य में वीरता तथा पराक्रम की भावना सदा जागती रही है, लेकिन राष्ट्रीयता नाम की कोई चीज उस समय नहीं थी। कारण कि देश की एकता का भाव उन दिनों पैदा ही नहीं हुआ। विभिन्न राजे एक-दूसरे से स्वार्थ के लिए लड़ते रहे। इसलिए वीर-रस की छिट-पुट रचनाएँ मिल जाती हैं। राजनीतिक विश्रृंखलता ने भूमि, जन तथा उनकी संस्कृति में भी खण्डता का विकास किया। सम्पूर्ण देश तथा जन-समूह को अपना समझने की तथा उसके प्रति प्रेम-भाव प्रकट करने की जगह उन्होंने अपने प्रान्त के प्रति ही प्रेम भाव प्रदर्शित किया। वे वैयक्तिक स्वार्थ-साधन के लिए विदेशियों की सहायता लेने में भी नही हिचके। इसलिए उस काल में अपने देश या प्रान्त की भावना अधिक उद्बुद्ध थी, किन्तु इन राज्यों में सच्ची राष्ट्रीयता की लगन न थी। अब भी राजा ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था अत: राजा के प्रति आदर-भाव था। राष्ट्र की भावना जागृत न हो पायी थी। स्पष्ट है कि देश के विभिन्न राज्यों में विभक्त होकर अपने राज्य के प्रति प्रेम-भाव होने के कारण उनमें प्रान्तिक अस्मिता थी। देश को सम्पूर्ण इकाई मानकर उसके प्रति आदर भाव नहीं प्रकट किया गया। इसलिए इस साहित्य में संस्कृत साहित्य की तरह राष्ट्रीय चेतना न उद्बुद्ध हो पाई।

सीमाएँ और संकीर्णताएँ—वैदिक साहित्य में राष्ट्रीयता का विशद एवं स्वरूप दृष्टिगत होता है। प्राकृत, पालि तथा अपभ्रंश साहित्य में

उसका अभाव दीख पड़ता है। तो क्या संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीय चेतना अपने पूरे विकास पर थी ? यदि परिस्थिति सापेक्ष दृष्टि से विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन राष्ट्रीयता अपने शुद्ध एवं उन्नत रूप में प्रकट हुई थी। लेकिन उसकी भी सीमाएँ थीं। उन दिनों आवागमन के साधनों का अभाव था। इसलिए सम्पूर्ण देश की जनता के साथ सम्बन्ध स्थापित करना बड़ा कठिन था। ऋषिगण अवश्य ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर देश के अन्य भागों के प्रति प्रेम भाव जगाते रहे हैं, लेकिन सम्पूर्ण देश की जनता के साथ सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव नहीं था। इसलिए जन की एकता इतनी अधिक नहीं हो पाई थी। भौगोलिक एकता तथा राष्ट्र की अखण्डता का भाव लोगों में अवश्य वर्तमान था, जो उन्हें राष्ट्रीय चेतना से अभिभूत किये रहा। सांस्कृतिक एकता का भाव भी इस काल में दृष्टिगत होता है। विदेशी शक्ति के आक्रमण से देश की रक्षा का भाव भी वर्तमान था। इस प्रकार राष्ट्रीयता के उद्‌बुद्ध होने में न कोई विशेष बाधा थी और न देश में उसका अभाव था।

उस काल की राष्ट्रीयता की भी एक सीमा है। वह धार्मिक है। देश-भूमि के प्रति जो भाव दृष्टिगत होता है, वह धर्म का एक अंग बनकर आता है। इसलिए उसमें साम्प्रदायिक स्पर्श आ गया था।

प्राकृत, पालि तथा अपभ्रंश कालीन काव्य अनेक सीमाओं और संकीर्णताओं के कारण राष्ट्रीय चेतना से अलग ही रहा। राज्यों की विशृंखलता, एक-दूसरे के साथ बैर-भाव, प्रांतिक अस्मिता, स्वार्थ के लिए विदेशियों की सहायता, देश की अखण्डता का अविश्वास होना, धार्मिक मतों की वृद्धि से लौकिक जीवन के प्रति उदासीनता आदि अनेक सीमाओं के कारण उसमें राष्ट्रीय भावना न जग सकी।

राष्ट्रीयता का आदर्श रूप—राष्ट्रीयता का आदर्श रूप निश्चित करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। कठिन इसलिए कि विभिन्न मत-मतान्तरों के कारण आदर्श रूप में भी परिवर्तन संभव है। राष्ट्रीयता का वह रूप आदर्श है जिसमें राष्ट्र की भूमि, जन और जन की संस्कृति की अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से हो। जिसमें किसी एक का भी अभाव दृष्टिगत हो उसे आदर्श रूप नहीं कहा जा सकता।

भूमि, जन और जन की संस्कृति एक दूसरे से ग्रथित हैं। किसी भी एक में इसके तत्व गर्भित हैं। भूमि के प्रति जो प्रेम हो उसमें खण्ड का भाव उचित नहीं है। जहाँ राष्ट्र के एक भू-भाग के प्रति अनुराग उदित होता है वहाँ राष्ट्रीयता खंडित हो जाती है और उसका अभाव ही वहाँ समझना चाहिये। राष्ट्र

की सम्पूर्ण भूमि को एक इकाई मान कर उसकी सेवा तथा रक्षा का भाव राष्ट्रीयता का प्रथम आवश्यक तत्व है। वैदिक युग में अथवा मध्य-युग के पूर्व-वर्ती काल में खण्ड के प्रति आस्था नहीं है, सम्पूर्ण इकाई के प्रति प्रेम-भाव लक्षित है। मध्य-युग में सम्पूर्ण देश में कई खण्ड राज्य स्थापित हुए। उन खण्डों के प्रति ही प्रेम-भाव प्रकट किया गया। अथवा यों कहें कि उस तरह का प्रेम भाव प्रकट करने का अवकाश ही नहीं मिला, क्योंकि कवियों ने या तो ईश्वर सम्बन्धी अपने विचार व्यक्त किये और धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावों का निदर्शन अपने काव्य में किया अथवा अपने आश्रयदाताओं की प्रेम एवं उत्साह विषयक घटनाओं की चर्चा की। इसलिए सम्पूर्ण अथवा खण्ड के प्रति प्रेम-भाव की अभिव्यक्ति उस युग में दृष्टिगत नही होती।

भूमि की इकाई के साथ जन की इकाई के प्रति भी आस्था एवं प्रेम निरूपण राष्ट्रीयता के आदर्श रूप के लिए अपेक्षित है। वैदिक ऋषियों का दृष्टिकोण मानवतावादी था। इसलिए धार्मिक, राजनीतिक तथा राजकीय कार्यों में सबका सहयोग प्राप्त करने के लिए व्यवस्थाएँ थी। इस प्रकार उस युग में मानव अथवा जन को सम्पूर्ण इकाई माना गया और उनकी अभिव्यक्ति हुई।

मध्य-युग में उपर्युक्त कारणों से जन के प्रति भी ऐसी कोई आस्था दृष्टिगत नहीं होती। यहाँ सामन्ती गाथाओं के आधार पर व्यक्तियों के चरित्रों को उछालने की कोशिशें दृष्टिगत होती हैं।

सांस्कृतिक चेतना की इकाई का पूर्ण निर्वाह वैदिक युग में हुआ और एक भूमि पर बसने वालों के लिए समान लागू किये गये। साथ ही राष्ट्रीय विचार-धारा की एकता बनाये रखने की चेष्टा भी की गई। मध्य-युग में ऐसी कोई चेष्टा लक्षित नहीं होती।

राष्ट्रीयता का आदर्श रूप-भूमि, जन और उसकी एकता के संयोग से ही संघटित होता है। जहाँ किसी एक के प्रति भी उदासीनता का भाव लक्षित होता है, वहाँ वह आदर्श विकृत हो जाता है।

काव्य-कला पर राष्ट्रीयता का प्रभाव—आर्यों की महती राष्ट्रीय चेतना के विकास क्रम द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त काल में उनकी एक अविच्छिन्न राष्ट्रीय परम्परा थी और उसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वर्तमान था। इसलिए काव्य-कला पर भी तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव लक्षित होता है।

वैदिक युग की भाषा संस्कृत थी। सभी काव्यों की रचना का माध्यम संस्कृत को ही बनाया गया। उस युग में ही रसमयी पद्धति ऋषियों ने अपनाई

और ऋग्वेद से लेकर अश्वघोष तक रसमयी काव्य-परम्परा की गति अव्याहत बनी रही। गेय पदों की रचना भी वैदिक युग की विशिष्टता रही है। इसलिए कोमल कान्त पदावली में गेय पदों की रचना सभी कवियों ने की है। "ऋग्वेद के मंत्रों से लेकर आजतक मनोमुग्धकारी स्तोत्रों का यह प्रवाह अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होता आ रहा है।

प्रारम्भ में संस्कृत काव्य में स्वाभाविक अभिव्यंजना होती रही। इसलिए आठवीं शताब्दी के पूर्व लिखे गये काव्यों में इस राष्ट्रीय परम्परा के अनुरूप अलंकार विहीनता के दर्शन होते हैं। "अलंकारों की सजावट से चमत्कृत शैली का उदय सप्तम तथा अष्टम शताब्दी की एक घटना है और उसका भी एक कारण है।" वह यह कि बौद्ध तथा जैन दार्शनिकों के वेद विरोधी तर्कों का खण्डन करने के लिए ब्राह्मणों ने अलंकारपूर्ण शैली का प्रयोग किया। इसलिए उसके पूर्व का काव्य स्वाभाविक तथा अलकारपूर्ण है। इस परम्परा के बाद ही अलंकार सम्प्रदाय का उद्भव तथा विकास हुआ। इस परम्परा में भी अलंकार मंडित काव्यों की रचना होती रही। वैसे प्राचीन काल में भी अलकार का ज्ञान लोगों को था, लेकिन अलंकार की चमत्कारपूर्ण शैली का विकास आठवीं शताब्दी के आस-पास ही माना जाता है।

वेदों में व्यवहृत छंदों का उपयोग बाद में नहीं हो सका और मालती, प्रहर्षिणी, प्रभिताक्षरा तथा वसन्ततिलका जैसे छन्दों का उपयोग होने लगा। इनके अतिरिक्त वक्त्रा, इन्द्र बज्रा, उपजाति, शालिनी, वंशस्थ आदि छन्द व्यवहार में आने लगे।

रस परम्परा भारतीय काव्य की आदिम परम्परा रही है। काव्य में रस का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इसके अभाव में काव्य निरर्थक तथा सारहीन हो जाता है। इस रसवादी परम्परा का निर्वाह आलोच्य काल के अन्त तक होता रहा है।

प्राकृत, पालि तथा अपभ्रंश भाषाओं के संघर्ष में संस्कृत धीरे-धीरे दबती गई और इनका विकास होता रहा। इस राष्ट्रीय परिवर्तन को भी काव्य ने ग्रहण किया। किन्तु एक बार पुनः संस्कृत साहित्य मुसलमानों द्वारा फारसी के व्यवहार के विरोध में ऊपर उठने लगा। इस प्रकार भाषा के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति दृष्टिगत हुई। सर्वाशंतः यह कि आलोच्य काल की काव्य- कला ने राष्ट्रीय परम्पराओं के प्रभाव को ग्रहण किया तथा उसके अनुकूल वह गतिशील होती रही और समय-समय पर परिवर्तन भी स्वीकार किया, क्योंकि राष्ट्रीय भावना के परिवर्तन को उसने अपनाया है।

———

तृतीय अध्याय

प्राचीन हिन्दी कविता और राष्ट्रीय भावना

प्राचीन हिन्दी कविता और राष्ट्रीय भावना—कविता तथा राष्ट्रीयता का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। जैसा कि हम देख चुके हैं, वैदिक काल से आधुनिक काल तक के काव्य में राष्ट्रीय भावना विविध रूपों में प्रतिफलित होती रही है। राष्ट्रीय काव्य की इस सुदीर्घ परम्परा को विचारक झुठलाते रहे हैं और वे आधुनिक युग में ही राष्ट्रीयता का उद्भव एवं विकास स्वीकार करते हैं।

व्यापक अर्थ में राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रीय गौरव तथा जातीय जीवन की विवृति करने वाला काव्य राष्ट्रीय काव्य कहा जा सकता है। इस प्रकार "क्लासिक्स" भी राष्ट्रीय कवाय के अन्तर्गत आ जायगा, क्योंकि राष्ट्र की सांस्कृतिक परम्परा का आख्यान उसमें प्राप्त है। सांस्कृतिक अभ्युत्थान की भाव-धारा ऐसे काव्य का अनिवार्य अंग ठहरती है। इस व्यापक दृष्टि कोण से राष्ट्र का सम्पूर्ण काव्य राष्ट्रीय ही कहा जायगा।

किन्तु इस प्रबन्ध में राष्ट्र को पृथक् इकाई मानकर, राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक भूमि पर उस इकाई की गम्भीर चेतना को ही राष्ट्रीय चेतना कहा गया है और इस भावधारा को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले काव्य को राष्ट्रीय काव्य स्वीकार किया गया है। इस प्रकार इस सीमित अर्थ में आधुनिक राष्ट्रीयता की १६ वी शताब्दी में शुरू हुई जिसका प्रतिफलन भारतेन्दु युगीन काव्य मे प्रकट हुआ। इस युग तथा परवर्ती युग में राष्ट्र की पृथक् इकाई की गम्भीर चेतना उद्भुत हुई। इसमें राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति की अदम्य आकांक्षा है। इसमें राष्ट्र की स्वाधीनता की सुरक्षा और सुदृढ़ करने का भाव जगमगा रहा है। इसलिए आधुनिक राष्ट्रीय चेतना का उद्भव काल भारतेन्दु युग है।

जीमर्न ने अपनी पुस्तक "राष्ट्रीयता और सरकार" में लिखा है कि "मेरी दृष्टि में राष्ट्रीयता का प्रश्न सामूहिक जीवन, सामूहिक विकास और सामूहिक आत्म सम्मान से सम्बद्ध है।" इसलिए राष्ट्रीयता सम्पूर्ण राष्ट्र की चेतना है। इकाई के खण्ड की चेतना राष्ट्रीय काव्य नहीं है। वह राष्ट्र के खण्ड का आख्याता नही है, वरन् समग्र इकाई का व्याख्याता है। इसी समग्रता

की ओर संकेत करते हुए बेलिन्स्की ने कहा है, "किन्तु राष्ट्र का सर्वोच्च जीवन प्रमुखतया उसके ऊपरी स्तरों में, बल्कि अधिक सही शब्दों में कहा जाय तो समग्र जनता में— व्यक्त होता है। इसलिए अपनी प्रेरणा की सामग्री के रूप में यदि आप उसके केवल एक अंग को चुनते हैं तो अनिवार्यतः एकांगीपन के दोषी ठहरेंगे।"

इसी सम्पूर्ण इकाई का उल्लेख करते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "जब हम किसी साहित्य के इतिहास को पढ़ने बैठते हैं तो वस्तुतः उस जाति की सम्पूर्ण चिन्ता-राशि, अनुभूति-परम्परा और संवेदनशीलता का परिचय पाना चाहते हैं।" स्पष्ट है कि राष्ट्रीय काव्य में खण्ड की अभिव्यक्ति नहीं होती, उसमें राष्ट्र की सम्पूर्ण इकाई अभिव्यक्त होती है।

आदिकाल—हिन्दी साहित्य का आदिकाल विश्रृंखलता का युग कहा जा सकता है, क्योंकि उस समय उत्तरी भारत में राजनीतिक अव्यवस्था व्याप्त थी। राष्ट्र कई भागों में विखंडित था तथा उसमें राजनीतिक एकीकरण का अभाव था। हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत में कई बड़े-बड़े हिन्दू राज्य स्थापित हो गये। ये राजे एक-दूसरे से अपनी शक्ति के विस्तार के लिए लड़ते रहे। इसलिए भारत भर में फूट की ज्वाला धधक रही थी। ऐसे अवसर पर ही मुसलमानों की चढ़ाई भारत पर हुई। मुसलमानों तथा पड़ोसी राज्यों के साथ संघर्ष, मैत्री, संधि और पुनः युद्ध का बोलबाला पूरे काल मे था। इस काल की राजनीतिक प्रवृत्ति निरंकुश एकतंत्र की ओर थी।

मध्य-युग में सामंती व्यवस्था की प्रधानता थी। इस युग की राजनीतिक विशृंखलता, अनिश्चितता तथा अरक्षा की भावना ने सामंतवाद को प्रोत्साहित किया। विदेशी आक्रमण तथा लूट-मार से रक्षा के लिए जनता स्थानीय सैनिक नेता को अपना शासक मानकर उसके प्रति भक्ति प्रकट करती थी तथा उसे कर चुकाती थी। इस प्रवृत्ति ने जीवन के दृष्टिकोण को भी प्रभावित किया और जनता में स्थानीयतावाद का उदय हुआ। विदेशी आक्रमण को सामूहिक रूप से रोकने की भावना उसमें नही थी, वरन् किसी प्रकार अपनी स्थानीय राज्य-सीमा तथा सत्ता बनाये रखने की समस्या प्रमुख थी। सामंतों की दृष्टि-जन कल्याण की ओर न होकर अपने शक्ति-प्रदर्शन की ओर अधिक थी। इसलिए वे युद्ध करते थे तथा दरबारी तड़क-भड़क की ओर अधिक उन्मुख थे।

स्थानीयतावाद की प्रवृत्ति के कारण जनता के सामने आसेतु हिमाचल देश देश की मूर्ति का कभी नहीं आई। वे स्थानीयता के खण्ड वृत्त में ही बँधे हुए थे। "सार्वदेशिकता का स्थान अब क्षुद्र स्थानीयता लेने लगी। अब भारत के

बदले प्रान्तीय राज्यों और राजवंशों का महत्व बढ़ गया। इस प्रकार मध्य-युग में राष्ट्रीयता अथवा देश-भक्ति खंडित हो गई।

चाणक्य के अर्थशास्त्र में यह उल्लेख है कि आर्यों को शत्रु द्वेषी होना चाहिये। मध्य-युग में यह भावना मिट गई, विदेशियों को रोकने का सम्मिलित प्रयास इस युग में नहीं हुआ और इसीलिए इस काल में भारत पर विदेशियों के अनेक आक्रमण हुए। इसका कारण राजनीतिक विश्रृंङ्खलता की घातक प्रवृत्तियों का प्रभाव है जिसके कारण "देश के निवासियों के हृदय से राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की भावना लुप्त होने लगी। देश की भौगोलिक इकाई के प्रति चेतना और जागरूकता, उसको अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए तैयारी और विदेशी आक्रमणों से उसकी रक्षा करने में कटिबद्धता और आवश्यकता पड़ने पर जीवन का बलिदान करने की साधना लोगों में कम होने लगी।" इस प्रकार मध्य-युग में राष्ट्रीय-चेतना का सर्वथा अभाव था।

कहा जा चुका है कि मध्य-युग में देश की विशालता की चेतना स्थानीयता-वाद में प्रस्फुटित हुई थी। यह स्थानीयतावाद स्थानीय सैनिक शासकों के प्रति राज भक्ति के रूप में प्रकट हुआ। इस तरह राष्ट्रीय चेतना तथा देश-भक्ति की भावना विश्रृंखलता की इन परिस्थितियों के कारण राज-भक्ति के रूप में प्रकट हुआ। राष्ट्र और देश के प्रति पलने वाले अनुराग एवं भक्ति ने राजाओं की ओर अपना ध्यान किया। स्वतत्रता तथा बलिदान की चेतना ने चाटुकारिता तथा सेवा-वृत्ति का रूप ग्रहण किया।

आपसी संघर्षों तथा विदेशी आक्रमणों के कारण उक्त काल में वैयक्तिक वीरता तथा बलिदान के अनुपम मिलते हैं, क्योंकि उपर्युक्त परिस्थितियों ने वीरता की भावना को मन्द नहीं होने दिया। लेकिन उक्त वीरता का उपयोग वैयक्तिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए किया जाता था सामूहिक हित की दृष्टि से नहीं। राष्ट्रीयता हित तथा विदेशी आक्रमणों के अवरोध की दिशा में उसका उपयोग नहीं किया जा सका। वैयक्तिक कर्त्तव्य का पर्यवसान राष्ट्रीय कर्त्तव्य में उस काल का मनुष्य नहीं कर पाया था।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता कि मध्ययुगीन विश्रृंङ्खलता के कारण सम्पूर्ण देश को इकाई मानकर उसकी रक्षा, विकास तथा विदेशी आक्रमण के प्रतिरोध की भावना मनुष्यों में नहीं जग सकी। इसलिए राष्ट्रीय चेतना अथवा देश-प्रेम उस युग में उद्‌बुद्ध नही दीख पड़ता। यह राष्ट्रीयता स्थानीयतावाद तथा राजभक्ति के रूप में अभिव्यक्ति पा सकी। वैयक्तिक वीरता तथा बलि-दान की भावना इस युग में है, लेकिन उसे सामूहिक कर्तव्य की दिशा प्रदान

करने का भाव नही उत्पन्न हो सका। इसलिए आदिकालीन काव्य में राजभक्ति तथा वीर रसात्मक रचनाएँ विशेष मिलती हैं, राष्ट्रीय काव्य आदिकाल में नही रचा जा सका।

आदिकालीन वीर काव्य में आश्रय दाताओं की कीर्ति, युद्ध-सज्जा, गर्वोक्तियाँ, युद्ध एवं वीरतापूर्ण कार्य-कलापों का चित्रण किया गया है। इसे ही वीर-काव्य कहा गया है। डा० प्रेमशंकर इस वीर काव्य को राष्ट्रीय काव्य मानते हुए लिखते है, "हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना का आरम्भिक स्वरूप वीरगाथा काल की कविताओं में प्राप्त होता है।" इन कविताओं में विदेशी आक्रमणकारी यवनों से प्रति विरोध भाव व्यक्त हुआ है। जैसे पृथ्वीराज रासो में यवनों को "म्लेच्छ" संबोधित किया गया है और पृथ्वीराज के आक्रमण से राहु-केतु की तरह उनके खंडित होने का वर्णन किया गया है।

हने राज प्रथिराज सामंत सतं। भये म्लेच्छ अद्धे मनोराह केतं।

यवनों को असुर भी कहा गया और उनके प्रति विरोध भाव प्रकट किया गया है—

असुर गह्य प्रथिराज। सुनत संजोगि परिय धर।

इस प्रकार आदिकाल में हिन्दू संस्कृति का मुस्लिम सस्कृति के प्रति विद्रोह भाव रासो तथा अन्य काव्यों में है। इसी विद्रोह के कारण यवनों को "असुर" तथा "म्लेच्छ" नाम दिये गये हैं तथा उनके प्रति द्वेष तथा घृणा भाव व्यक्त किया गया है। लेकिन यह विरोध-भाव भी सामूहिक न होकर वैयक्तिक था। धार्मिक क्षेत्र में इस तरह की विरोध भावना धार्मिक एव साम्प्रदायिक है। केवल इस आधार पर ही हम आधुनिक अर्थ में उक्त काव्य को राष्ट्रीय नही कह सकते। यदि हम अधिक उदारतावश उसे राष्ट्रीय काव्य मानें भी तो डा० प्रेमशंकर के शब्दों में कहेगे कि "इस प्रकार की कविता राष्ट्रीय कविता का अत्यन्त संकुचित एवं विकृत रूप है। इसे चारण काव्य कहना अधिक उपयुक्त होगा।" चारण काव्य अभिप्रेत अर्थ मे राष्ट्रीय काव्य नही कहा जा सकेगा। इसलिए उस युग की कविता को राष्ट्रीय कहना असंगत ही लगता है।

भक्ति-काल—भक्ति-काल में भी राष्ट्रीय काव्य रचना नहीं हो सकी। विभिन्न धार्मिक आन्दोलनों, मत-मतान्तरों के संघर्ष में उलझी जाति राजनीतिक संघर्ष के लिए नही उठ सकी। संभवतः पराभव की निराशाजनक चेतना ने ही उन्हें अलौकिक मुक्ति की प्रेरणा प्रदान की और उन्होंने लौकिक समस्याओं- सांस्कृतिक तथा राजनीतिक समस्याओं- की ओर ध्यान नहीं दिया। इसलिए विदेशी शासन तथा अत्याचार के बावजूद उसके विरोध का भाव अथवा

राष्ट्रीय चेतना इस काल में उद्बुद्ध नहीं हो सकी। वीर-काव्य की रचना भी इस काल में कोई खास नहीं हुई।

मार्क्सवादी आलोचक मध्यकालीन धार्मिक आन्दोलन को काव्यात्मक पुनर्जागरण का प्रथम उत्थान मानते है। उनके अनुसार राष्ट्रीय पुनर्जागरण की धारा भारतेन्दु युग में नही फूटी, वरन् भक्ति युग में उगी। भारतीय राष्ट्रीय पुनर्जागरण का नेता वे लोग भारतेन्दु को न मानकर कबीर को मानते हैं। भारतेन्दु युगीन पुनर्जागरण को वे पुनरुत्थान का द्वितीय विकास काल मानते हैं। शिवदान सिंह चौहान ने आलोचना के इतिहास शेष अंक मे इस पर विस्तार के साथ विचार किया है। डा० रामविलास शर्मा भी भक्ति आन्दोलन को जातीय आन्दोलन का सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब स्वीकार करते हैं।

इतनी बात सही है कि उस काल में हिन्दू-धर्म पर इस्लाम का आक्रमण हुआ था। इस सर्वमत, एवं सस्कृति के आक्रमण की प्रतिक्रिया में हिन्दू धर्म रक्षा के लिए उद्धत हुआ और उसके लिए विविध स्थितियाँ अपनाई। कृष्ण भक्ति शाखा के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य ने इस सांस्कृतिक अथवा धार्मिक अरक्षा के सम्बन्ध में "कृष्णाश्रय" नामक अपने ग्रन्थ में कहा है, "देश म्लेच्छाक्रान्त है, गंगादि तीर्थ दुष्टों द्वारा भ्रष्ट हो रहे हैं, अशिक्षा और अज्ञान के कारण वैदिक धर्म नष्ट हो रहा है, सत्पुरुष पीड़ित तथा ज्ञान-विस्मृत हो रहा है। ऐसी स्थिति में एकमात्र कृष्णाश्रय में ही जीवन का कल्याण है।"

इस कथन से प्रकट है कि सांस्कृतिक आक्रमण के विरोध का भाव उक्त काल में उभरा और उसने भक्ति के प्रचार के माध्यम से सांस्कतिक पुनरुत्थान की ओर अभियान किया। राजनीतिक अभ्युत्थान की चर्चा उस समय नही की जा सकती थी, क्योंकि देश कमजोर था और मुस्लिम सेना के विरोध की शक्ति उसके पास नही थी।

इस सांस्कृतिक पुनर्जागरण के पीछे राष्ट्र की इकाई का भाव नही था। यह मात्र धार्मिक पुनर्जागरण कहा जा सकता है। वह अभियान भी बड़े विश्रृंखल रूप मे हुआ था। इसलिए यह कहा जा सकता है कि भक्तिकाल की सांस्कृतिक अथवा धार्मिक जागरण की भावना राष्ट्रीय भावना नही थी।

रीतिकाल--आदिकाल में अव्याहत रूप से बढ़ने वाला वीरकाव्य रीतिकाल में पुनः विकसित हुआ। इस काल में वीरकाव्य रचे जाने का कारण है औरंगजेब की निरंकुशता। हिन्दुओं के नैतिक एवं धार्मिक विश्वासो को कुचलने वाले औरंगजेब का राज्य काल मुगल साम्राज्य के इतिहास का अशान्तिकाल था। उस समय प्रायः जमींदारों, राजाओं तथा हिन्दुओं के धार्मिक उपद्रव एव विद्रोह

हुए और औरंगजेब का अधिक श्रम इन विद्रोहों को शान्त करने में बीता। "सबसे विकट उपद्रव आगरा, अवध और इलाहाबाद के सूबों में हुए। आगरा प्रान्त में गोकुल के नेतृत्व में जाटों ने, अवध में बंस राजपूतों ने और इलाहाबाद में हरदी तथा अन्य जमींदारों ने शासन को अन्यायपूर्ण नीति के विरुद्ध किया। औरंगजेब ने जब मथुरा में केशवदास तथा काशी में विश्वनाथ का मंदिर ध्वस्त किया तो उसकी हिन्दू विरोधी भावना का प्रतिकार हिन्दुओं की ओर से हुआ। बुन्देलखण्ड के चम्पतराय और बाद में उनके पुत्र महाराज छत्रसाल जीवन के अन्त तक उसका विरोध करते रहे। जयपुर को औरंगजेब द्वारा अधिकार में ले लेने के बाद मेवाड़ और मारवाड़ उसके विरुद्ध हो गये। गुरु तेगबहादुर की हत्या और गुरु गोविन्द सिंह के बच्चों पर किये गये अत्याचार से सिखों में सैनिक शक्ति का जागरण हुआ। औरगजेब की धार्मिक असहिष्णुता के फलस्वरूप दक्षिण में मराठे शिवाजी के नेतृत्व में विद्रोही बन बैठे।

इन घटनाओं का इतना व्यापक प्रभाव हुआ कि हिन्दू जाति में आत्म-रक्षा की भावना जाग्रत हुई और विभिन्न समुदायों ने इसके लिए अपनी शक्ति का विकास प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे सम्पूर्ण राष्ट्र में मुसलिम विरोधी भावना का विकास हुआ और इससे तत्कालीन काव्य भी अछूता नही रहा। सांस्कृतिक राष्ट्रीय चेतना का विकास राजनीतिक एवं धार्मिक चेतना के सम्मिलित रूप में हुआ और औरंगजेब तथा मुसलमानों के विरुद्ध लड़ने वाले राजाओं को कीर्ति, वीरता आदि का वर्णन इस काव्य में खूब हुआ।

इस काल के राष्ट्रीय कवि भूषण हुए। शिवा जी गुरु रामदास ने दक्षिण के हिन्दुओं में राष्ट्रीय पुनर्जागरण की भावना भरी और शिवाजी ने हिन्दू संस्कृति एवं धर्म का विरोध करने वाले औरंगजेब के खिलाफ विद्रोह किया। भूषण ने इन्हीं शिवा जी की राष्ट्रीय भावना का वर्णन किया है। यह वर्णन डा० नगेन्द्र के शब्दों में "अत्युक्तिपूर्ण होते हुए भी वस्तुस्थिति से बहुत दूर नही है।"

भूषण ने अपने चरित नायक शिवाजी को रघुकुल राजाराम और औरंगजेब को रावण की तरह विधर्मी एवं अत्याचारी माना है। वीर दर्प पूर्ण उक्तियों के द्वारा वे अन्त में उसे कंस भी कह लेते हैं और हिन्दू विरोधी औरंगजेब के प्रति अपना समस्त आक्रोश व्यक्त करते हैं :—

तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ बस पर सेर सिवराज हैं।

हिन्दुओं की मर्यादा, प्रतिष्ठा महाराजा शिवा जी के धर्म संस्थापक कार्यों के फलस्वरूप बढ़ी। तुर्कों का सारा अभिमान नष्ट हो गया। शिवराज की धाक से दिल्ली पति का हृदय धक-धक करता है। उसने युद्ध में इतने मुसलमानों (बिना चोटी वाले) का काम तमाम किया कि रणचण्डी उन्हें खाकर स्थूल शरीर हो गई :—

डाढ़ी के रखैयन की डाढ़ी सी रहित छाती,
बाढ़ी मरजाद जस-हर हिन्दुआने की।
कढ़ि गई रैयत के मन की कसक सब
मिटि गई ठसक तमान तुरुकाने की।
भूषण भनत दिल्लीपति दिल धक-धक
सुनि-सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चण्डी बिना चोटी के चबाय सीस
खोटी भई सम्पति चकता के घराने की।"

भूषण के अनुसार शिवा जी द्वारा औरंगजेब की खिलाफत का एक ही कारण है और वह है हिन्दुओं को उबारना। इसलिए वे तुरकों को मारने के लिए बढ़ते है :—

भूषन जहान हिन्दुआन के उबारिबे को,
तुरकान मारिबे को बीर बलकत है।

वीर शिवा जी जब तलवार की मूठ पर हाथ रखते हैं तभी तुर्कों के प्राण निकल जाते हैं—

भूषन भनत जबै धरयो कर मूठ पर,
तबे तुरुकन के निकसि गये जियरे।

भूषण के अतिरिक्त केशवदास, जटमल, मतिराम, मान कवि, लाल कवि (गोरेलाल), श्रीधर (मुरलीधर), सूदन, गुलाब कवि, पद्माकर, जोधराज आदि कवि हुए जिन्होंने वीर काव्य की रचनाएँ कीं। इन कवियों ने अपने ग्रन्थों में अपने चरित नायकों को युद्ध वीर के रूप में चित्रित किया है। इसके अतिरिक्त दान-दया-धर्म वीर के रूप में भी उनका वर्णन मिलता है। वेद, गौ, ब्राह्मण और हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये ये पात्र सदैव परिकर बद्ध रहा करते थे।' 'भूषण के चरित नायक' अन्याय दमन में तत्पर, हिन्दू धर्म के संरक्षक, दो इतिहास प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिन्दू जनता के हृदय में उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती

गई। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भूषण आदि की वीरतामयी कविताएँ मात्र दरबारी अतिशयोक्तिपूर्ण उक्तियाँ ही नहीं थी, वे जनता के हृदय की अभिव्यक्तियाँ भी थीं।

राष्ट्रीयता के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप—राष्ट्रीय काव्य को संकुचित अर्थ में देखने की परम्परा मिटनी चाहिये, इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है। राष्ट्रीय कविता का व्यवहार कई अर्थों में होता है। राष्ट्रीय कविता पद प्रथमत: उस कविता के लिए व्यवहृत होता है, जिसमे देश-प्रेम एवं जाति-प्रेम व्यक्त होता है। यह भावना ही बहुत व्यापक, जब तक रही है। दूसरे इसका प्रयोग उन समस्त रचनाओं के लिये होता है, जो किसी देश की जातीय विशेषताओं को प्रकट करती है। तीसरे, 'परम्परा के प्रति जाग्रत रूप मे भी कभी-कभी राष्ट्रीय साहित्य का व्यवहार होता है।' इस प्रकार के राष्ट्रीय साहित्य के लिये 'क्लासिकल' शब्द प्रयोग में आता है। टी० एस० इलियट ने 'क्लासिक क्या है' मे इसका विस्तार से विवेचन किया है। क्लासिकल साहित्य को राष्ट्रीय साहित्य मानने की परम्परा का विकास अभी नही हुआ है।

इससे स्पष्ट है कि हिन्दी में राष्ट्रीय काव्य उसे ही माना गया है, जिसमें देश-प्रेम की भावना प्रबल हो। ऐसा काव्य उस समय खूब रचा जाता है, जब देश में राजनीतिक गुलामी हो अथवा उस पर कोई बाह्य आक्रमण हो। किन्तु श्री शिवदान सिंह चौहान कबीर से हिन्दी राष्ट्रीय काव्य का प्रारम्भ मानते हैं। इस प्रकार पुनर्जागरण विषयक कविताओं का स्थान भी राष्ट्रीय साहित्य के अन्तर्गत आ जाता है।

जो लोग देश-प्रेम अथवा विदेशी दासता की प्रतिक्रिया स्वरूप रचे काव्य को ही राष्ट्रीय काव्य मानते हैं, उनके लिये आधुनिक काल से भारतेन्दु, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, दिनकर आदि ही राष्ट्रीय कवि हैं, लेकिन किसमें इतना साहस है कि तुलसी-सूर जैसे कवियों को अराष्ट्रीय कहे। तब इन्हें भी राष्ट्रीय कवि मानना ही होगा, क्योंकि इनके काव्य में जातीय जागरण की झलक है, अभिव्यक्ति है और है उसकी जीवन्तता का स्वरूप। उनकी कविता का आधार जातीय है और अपनी रचनाओं के द्वारा उन्होंने जातीय प्रगति और आजादी की आकांक्षा उत्पन्न की। इस प्रतिमान के आधार पर शायद ही कोई कवि अराष्ट्रीय सिद्ध हो और तब सम्पूर्ण काव्य को हमें राष्ट्रीय मानना पड़ेगा।

तब सवाल उठता है कि क्या उन्हें राष्ट्रीय मान लिया जाय ? नही। इस साहित्य को अराष्ट्रीय मानना उनके साथ अन्याय करना होगा, लेकिन हर युग

में राष्ट्रीय कविता के दो रूपों में से एक रूप का प्राधान्य होता है। प्रत्यक्ष राष्ट्रीय काव्य वह है जिसमें विदेशी आक्रमण या दासता की प्रतिक्रिया स्वरूप देश-प्रेम की भावना का प्रतिफलन हो और अप्रत्यक्ष राष्ट्रीयता वह है, जिसमें राष्ट्रीय जीवन का अंकन तो हो, लेकिन वह किसी विशिष्ट लक्ष्य-सिद्धि के निमित्त न हो, विदेशी तत्वों के उन्मूलन के लिए उसमें देश प्रेम का प्रत्यक्ष राग न अलापा गया हो। इसी रूप में हम आदिकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल की कविताओं को रख पायेंगे। इन कालों में अभिव्यक्त कविता का राष्ट्रीय रूप देश को एक इकाई मानकर नहीं रचा गया और न ऐसे देश के प्रति प्रेम भाव ही प्रकट किया गया। इसलिए आदिकाल की म्लेच्छ विरोधी भावनाओं से भरा हुआ वीरकाव्य, भक्तिकाल का सांस्कृतिक पुनर्जागरण से समन्वित राष्ट्रीय काव्य तथा रीतिकालीन मुस्लिम विरोधी वीरदर्पपूर्ण कविताएँ अप्रत्यक्ष राष्ट्रीय काव्य के अन्तर्गत जाती हैं। इन कविताओं के माध्यम से देश की अखण्डता की न तो सूचना मिलती है और न विदेशियों को सामूहिक रूप से परास्त कर विदेशी तत्वों को देश से बाहर करने वाली देश-प्रेम की भावना। ऐसी दशा में इन्हें अप्रत्यक्ष राष्ट्रीय काव्य ही कहा जा सकता है। हिन्दी कविता में राष्ट्रीय चेतना का विकास भारतेन्दु काल से प्रारम्भ होता है।

न्यूनता के कारण—यह विचारणीय है कि आदिकाल से रीतिकाल तक की सुदीर्घ अवधि में यह देश परतंत्र रहा और उसने विदेशियों के विविध अत्याचारों का सहन किया, लेकिन विरोध की भावना काव्य में प्रतिध्वनित न हो सकी। राष्ट्र-प्रेम की चेतना लोक में नहीं जाग सकी और सारी जाति सुषुप्त पड़ी रही। इस परिस्थिति का मूल कारण क्या है? राष्ट्रीय काव्य की रचना किन परिस्थितियों के अन्तर्गत नहीं हो सकी?

आदिकाल की कविता मुख्यतः राजाश्रित थी। और 'राजाश्रित कवि अपने राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों के साथ किया करते थे और अपनी वीरोल्लास भरी कविताओं से वीरों को उत्साहित किया करते थे। दरबारी वातावरण से निकलकर देश की ओर देखने का उन्हें अवसर ही नहीं मिल सका। दूसरी बात यह थी कि उस काल के राजाओं में एकता नहीं थी। वे आपस में इतना अधिक लड़ते थे कि सामूहिक रूप से विदेशी शक्ति के विरोध की भावना उनमें नहीं आ सकी। वे अपने राज्य की मंगल-कामना तक ही सीमित थे। प्रतिपक्षी के हार जाने या मर मिटने की प्रसन्नता ही उनके मन में थी। ऐसी अनेकतामूलक परिस्थिति में राष्ट्रीय कविता का उत्थान संभव नहीं था। तीसरे, उस काल के राजाओं की मनोवृत्ति

घोर शृंगारिक थी। ऐसी दशा में देश-प्रेम की चेतना से उनका अभिभूत होना सहज सभव नही था। इन सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियों मे आदि कालीन कविता राष्ट्रीय नही हो सकी।

भक्तिकालीन काव्य के देशोन्मुख न होकर ईश्वरोन्मुख होने के कारण की ओर सकेत करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके देव मन्दिर गिराये जाते थे, देव मूर्तियाँ तोड़ी जाती थी और पूज्य पुरुषों का अपमान किया जाता था और वे कुछ नही कर सकते थे, ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे।' इसलिए देश-प्रेम के स्थान पर भक्तिकाल की प्रवृत्ति ईश-प्रेम की ओर उन्मुख हुई और राष्ट्रीय कविता की सांस्कृतिक धारा का विकास हुआ।

इसके अतिरिक्त एक और कारण था कि देश के राजनीतिक परिवर्तन के बावजूद इस काल में भक्ति के कारण जनता के हृदय में शून्य अथवा अभाव नही व्याप्त हो सका। एक कारण यह भी था कि 'प्रेम स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानो दोनो को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेद-भाव के दृश्यो को हटा कर पीछे कर दिया।' धीरे-धीरे हिन्दू और मुसलमानों में आपसी प्रेम-भाव का विकास होने लगा और मुसलमानों को विदेशी मानकर उनका विरोध करने की भावना प्रायः लुप्त-सी होती गई।

किन्तु धार्मिक क्षेत्र में जिस हस्तक्षेप का परिचय दिया जाता था उसके फलस्वरूप भक्त कवियों ने आशावादी दृष्टिकोण से भक्ति का आलम्बन किया और जनता के हृदय को शून्य महसूस करने से बचा दिया। इन परिस्थितियों में भक्तिकालीन काव्य प्रत्यक्ष राष्ट्रीय काव्य न होकर सांस्कृतिक हो गया और इसलिए अप्रत्यक्ष राष्ट्रीय काव्य के रूप में प्रकट हुआ।

आदिकाल की ही परिस्थितियाँ रीतिकाल में भी थी। शृंगारिक, मनोवृत्ति, विरोध मे स्वर उठाने की असमर्थता, आपसी फूट आदि के कारण इस काल में भी राष्ट्रीय काव्य का उन्मेष शुद्ध रूप में न हो सका। उसका दरबारी रूप वीर-काव्य के रूप मे प्रकट हुआ, जिसमें अपने आश्रय दाताओं की वीरता, पराक्रम और उत्साह का वर्णन किया गया।

तथाकथित साम्प्रदायिकता या युगानुकूल राष्ट्रीयता—आदिकाल के वीर-काव्य को राष्ट्रीय कविता मानते हुए भी डा० प्रेमशंकर ने विजातियों द्वारा

परिचालित तत्कालीन आक्रमण के आधार पर कहा है, 'वीरगाथाकाल की राष्ट्रीय भावना धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक अधिक है।' इसी प्रकार रीति-कालीन वीरकाव्य में भी साम्प्रदायिकता के स्वरूप के दर्शन समीक्षक करते है। भक्ति-कालीन काव्य को राष्ट्रीय मानने की परम्परा का विकास अभी हो ही नही पाया है। इसलिए आधुनिक काल के पूर्व के सम्पूर्ण राष्ट्रीय काव्य को साम्प्र-दायिक मानने की प्रवृत्ति अभी हिन्दी साहित्य में है।

अब सवाल उठता है कि साम्प्रदायिकता है क्या ? किसी देश में बसने वाली एक से अधिक जातियाँ जब पारस्परिक सहयोग एव सहिष्णुता की भावना त्याग कर अपनी संस्कृति के विकास-निकास के लिए चिन्तनशील हों तथा उसके लिए पारस्परिक द्वन्द्व एव तज्जनित द्वेष की सीमा पर आ जायें तो उसे साम्प्रदायिक भावना कहा जायगा। एक-दूसरे को विजातीय मानकर द्वेष एवं कलह की सृष्टि करने वाली जातीय भावना ही साम्प्रदायिकता है। तो क्या इस तरह की भावना तत्कालीन काव्य मे थी, अथवा क्या हिन्दुत्व की भावना व्यक्त करने वाला काव्य मात्र साम्प्रदायिक है।

आदिकाल से रीतिकाल तक की लम्बी अवधि तक विभिन्न धार्मिक आन्दोलन हुए और उनकी प्रतिक्रिया हिन्दू धर्म पर हुई, लेकिन सबसे बड़ी घटना राजनीतिक तथा धार्मिक दृष्टि से थी मुसलमानो का आक्रमण तथा उनका हिन्दू-धर्म विरोध। इस लम्बी अवधि में मुसलमान विदेशी शासक के रूप मे ही रहे। विदेशी शासन का विरोध अनेक राजाओ, महाराजाओं तथा जमीदारों ने किया, लेकिन आपसी फूट के कारण उनमें इतनी शक्ति नही थी कि वे मुसलमानो अथवा मुगलो के सामूहिक तथा संगठित आक्रमण को रोक सके, लेकिन ऐसा नही हुआ कि हिन्दू, जो उस युग के शासक थे, चुप बैठे रहे और उन्होंने इस शासन-सत्ता का विरोध नही किया। किया और खूब डटकर किया, लेकिन वे दबा दिये गये। इसलिए मुसलमानो का विरोध तथा उनको दुश्मन समझना युग के अनुकूल था। उस समय मुसलमान ही आक्रमक थे, विदेशी थे और हिन्दू जनता एवं राजाओं के दुश्मन थे। उस समय तक वे भारत में पूर्ण रूप से बसे न थे और न ही उनके मन में भारत के प्रति कोई ममता थी। यह बात सही है कि कुछ मुगल राजाओं ने हिन्दुओं के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था, लेकिन इससे हिन्दुओं के दिल का घाव भरा नही, बल्कि उन्होने यह समझा कि ऐसा उनकी सस्कृति एवं धर्म को नष्ट करने के लिए किया जा रहा है। यह वैवाहिक सम्बन्ध स्वेच्छा से, प्रेम से नही स्थापित हुआ था। यह विजित जाति की परवशता थी। और उसकी प्रतिक्रिया होना आवश्यक था।

यदि प्रेम-सम्बन्ध को स्वीकार भी किया जाय तो यह भी सही है कि अनेक राजाओं ने अपनी हिन्दू-विरोधी नीति से हिन्दुओं को यह समझने के लिए बाध्य किया कि वे पराजित हैं, क्योंकि उनके धर्म पर जो आक्रमण हुआ वह इस बात का द्योतक था। भिन्न संस्कृति एवं धर्मावलम्बी मुसलमानों को विरोधी, विदेशी, अपनी जाति का दुश्मन मानकर यदि म्लेच्छ, राक्षस आदि कहा गया तो उसे साम्प्रदायिकता नही कहा जा सकता। आधुनिक काल में भी राष्ट्रीय आन्दोलनों के समय अँग्रेजों तथा ईसाइयत का विरोध हुआ था। इस कारण राष्ट्रीय आन्दोलन को साम्प्रदायिक नहीं कहा जा सकता। इसी परिप्रेक्ष्य में देखने पर विदेशी मुसलमानों तथा उनके धर्म के बहिष्कार और विरोध की एवं हिन्दू धर्म के संगठन के लिए हिन्दुत्व भावना के विकास की आवश्यकता थी। अतः इसे हम साम्प्रदायिक नहीं कह सकते।

इसे हम युगानुकूल राष्ट्रीयता कहें तो अधिक न्याय-संगत तथा विवेक-पूर्ण होगा। कारण कि विदेशी आक्रमण राजनीतिक एवं धार्मिक होने के कारण राजनीतिक एवं सैनिक युद्ध में पराभूत हिन्दू जाति का संगठन करना सर्वथा युग के अनुकूल था। उस समय लिखे गये वीर काव्यों मे हिन्दुत्व की बू पाने वाले समीक्षक वस्तुतः आधुनिक युग की पृष्ठ-भूमि पर उस काव्य का मूल्यांकन करते हैं।

धर्म हिन्दू जनता का प्राण है। उस काल में धार्मिक भावना और जोर पर थी। अतः उस समय हिन्दुत्व की भावना का प्रबल होना तथा उस पर नाना दिशाओं से आक्रमण करने वालों के प्रति घृणा की भावना का उदय होना सर्वथा युग के अनुकूल था। यदि हम तत्कालीन पृष्ठ-भूमि पर उस साहित्य का मनन एव विश्लेषण करे तो यह स्पष्ट हो जायगा कि तत्कालीन काव्य युगानुकूल राष्ट्रीयता का ही रूप था, उसमें साम्प्रदायिकता नही थी।

विशेषताएँ, सीमाएँ तथा आदर्श रूप—इन तीन कालो की विशेषताओं का उल्लेख करना सामान्य कार्य नही है। कारण कि इन कालों में विभिन्न परिस्थितियों के आरोह-अवरोह के कारण राष्ट्रीय कविता में अनेक परिवर्तन होते गये। आदिकाल में चारण कवियों के चरित काव्य मिलते है। इनमें मुख्यतः राजस्तुति, युद्ध, विवाह आदि के वर्णन हैं। इन रचनाओं में कोई नवीनता नही है, लेकिन इनमें नवीन प्राणों का स्पन्दन एक बात में विशेष रूप से लक्षित होता है। "वह है इस श्रेणी की रचनाओं की वीर पदोक्तियाँ।" इन वीरों की स्त्रियाँ अपने पति की वीरता पर अभिमान करने वाली होती थीं। इसलिए वीरता से भरी हुई कविताएँ लिखने वाले चन्द, जगनिक आदि कवि

निश्चित रूप से युग की विशेषताओं को राष्ट्रीय भावना से संवलित करके रख सके हैं ।

भक्तिकाल में भक्ति की ओर सम्पूर्ण जनता का ध्यान गया और भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं से जनता के शून्य हृदय को एक आधार दिया। उन्होंने जातीय समृद्धि एवं संगठन को ध्यान में रखकर रचनाएँ की । इस दृष्टि से उन्होंने जातीय जीवन के धार्मिक एवं सांस्कृतिक पक्ष का उन्नयन किया और राष्ट्रीय पुनर्जागरण का सूत्रपात किया ।

रीतिकाल की रचनाओ में आदिकालीन प्रवृत्तियों का पुन: उन्मेष होता है । वीर एवं शृंगार रस की रचनाओं से यह काल भरा पड़ा है। इन लोगों ने अपने युग के जातीय नेताओं की स्तुति की है, उनकी वीरता एवं यश का वर्णन किया है । इस प्रकार उन्होने खंडित होते हुए जर्जर हिन्दू-धर्म की रक्षा करने वाले आक्रमणकारी मुसलमानों के विरोध में अपने चरित नायकों की वीरता का यश गाया ।

इन कालों की सीमाएँ भी है । उस काल में अनेक बन्धनों एवं व्यवधानों के कारण राष्ट्रीय कविता को पूर्णत: फूलने-फलने का मौका नही मिल सका। एक ओर दरबारी संस्कृति थी तो दूसरी ओर आपसी फूट एवं युद्ध थे, जिनके कारण कविता दरबारों में फूली-फली । भक्तिकाल की कविता राजाश्रित नही रही, लेकिन उसका स्वर ही भिन्न है। ऐहिकता को छोड़कर पारलौकिक धरातल पर सारी समस्याओं समाधान करने वाले इन कवियों के सामने भी यही सीमाएँ हैं, जिनके कारण उनके काव्य की दिशा विदेशी आक्रमण एवं अत्याचार के बावजूद धरती की ओर न होकर स्वर्ग की ओर थी ।

इस काल का आदर्श था अपने खण्ड राज्य की स्वतन्त्रता कायम रखना तथा अपने धर्म को विजातीय से आक्रान्त न होने देना । इन दोनों आदर्शों की अभिव्यक्ति उनके काव्य में पूर्ण रूप से हुई है । आदिकाल की कविता में भी इन आदर्शों के निर्वाह की भावना स्पष्ट लक्षित होती है । भक्तिकाल का आदर्श अवश्य पारलौकिक मुक्ति प्राप्त करना था, लेकिन उसके मूल में भी लौकिक परतंत्रता ही थी । यों कहा जाय तो सम्पूर्ण भक्ति साहित्य में लौकिक चेतना की इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आध्यात्मिक मुक्ति की ओर भक्तों का ध्यान गया । रीतिकाल में भी आदिकालीन आदर्शों का पुन: प्रकटीकरण हुआ और वीरता एवं धर्म रक्षा का आदर्श स्थापित किया गया । इस काल के नेताओं में यही आदर्श अपने उदात्त रूप में वर्त्तमान है ।

चतुर्थ अध्याय

भारतेन्दु-युग (१८५७ ई०-१९०० ई०)

काल-सीमा का निर्धारण-युक्तियाँ-नामकरण

भारतेन्दु-युग की काल-सीमा की व्याप्ति आचार्य शुक्ल ने सम्वत् १९२५ से १९५० तक मानी हैं। लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के अनुसार "हिन्दी साहित्य के इतिहास में १८५० से १९०० ई० तक का समय भारतेन्दु काल के नाम से अभिहित किया जाता है।"

१८५७ ई० राष्ट्रीयता के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। इसने भारत की राष्ट्रीय चेतना में युगान्तरकारी परिवर्तन किये। इसलिए काव्य में राष्ट्रीय चेतना के उद्भव और विकास का विश्लेषण १८५७ ई० से ही प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रारम्भ किया गया है। राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति की ऐसी कोई घटना इसके पूर्व नहीं घटी थी। इसलिए इस काल-बिन्दु से ही राष्ट्रीयता के विकास का विवेचन आरम्भ किया गया है। १९०१ ई० से हिन्दी साहित्य के इतिहास में द्विवेदी-युग का प्रारम्भ होता है। राष्ट्रीय चेतना के इतिहास में भी यह वर्ष नया मोड़ है। १९०१ ई० में सप्तम एडवर्ड भारत के सम्राट् बने, और लार्ड कर्जन के भारत विरोधी-कार्य इस काल में ही प्रारम्भ हो गये थे, जिनके कारण राष्ट्रीय चेतना में परिवर्तन हुए। इसलिए १८५७ ई० से १९०० ई० तक भारतेन्दु-युग का विस्तार माना गया है।

भारतेन्दु इस युग की राष्ट्रीय चेतना के प्रबल उन्नायकों में थे। उन्होंने राष्ट्रीय गीत गाये और जन-मानस में राष्ट्रीय भावना जगाई। इसलिए उनके नाम से इस युग को अभिहित करना सर्वथा युक्तियुक्त है।

(क) परिस्थितियाँ

राजनीतिक—भारतेन्दु का काल राजनीतिक दृष्टि के पुनर्जागरण का काल कहा जा सकता है, क्योंकि इस काल में जिस राजनीतिक भावना का उद्भव हुआ, उसका भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इस युग की प्रथम तथा महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना १८५७ का स्वतंत्रता संग्राम है, जिसमें अँग्रेजी शासन समाप्त करने का प्रयत्न किया गया था। यों १८५७ के विद्रोह के सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर है, लेकिन हम उसे स्वतंत्रता की पहली लड़ाई मानकर ही विषयों का उल्लेख करेंगे।

यह विद्रोह भारतीय जनता की स्वतंत्र होने की इच्छा की द्योतक थी, किन्तु अनेकानेक कारणों से उस युद्ध में भारतीयों की विजय नही प्राप्त हो सकी और अंग्रेजों ने उन्हें सुदीर्घ काल तक के लिए गुलाम बना लिया। विद्रोह के बाद की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी भारतीय शासन का ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से इंग्लैंड के मत्रिमण्डल के हाथ में चला जाना। भारतीय जनता कंपनी के शासन से त्रस्त एवं दुःखी थी। अतः इस परिवर्तन का स्वागत सबने किया और अँग्रेजी राज्य के प्रति उनके मन में अच्छी धारणाओं का विकास हुआ। १८५८ ई० में महारानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र पढ़ा गया, जिसमें भारतीय जनता के दुःख दूर करने का आश्वासन दिया गया था। शिक्षित भारतीय जनता ने इस घोषणा-पत्र को अपने अधिकारों का 'मैग्नाकार्टा' समझा।

इस युग में भारतीय जनता में राजनीतिक चेतना का विकास होने लगा था। सन् १८६६ ई० में दादा भाई नौरोजी ने लन्दन में ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन की स्थापना की। इसका उद्देश्य भारतीय समस्याओं की ओर इगलैंड की जनता का ध्यान आकृष्ट करना था। उन्नीसवी शताब्दी के सातवें दशक के आस-पास रानाडे ने सार्वजनिक सभा का सगठन किया।

भारतवासी विक्टोरिया को महारानी मान चुके थे और यह आशा लगाये थे कि उन्हें भी सरकारी नौकरी में उचित स्थान दिया जायगा। सन् १८७१ ई० में इसकी पुष्टि भी हुई, जब श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी आइ० सी० एस० में ले लिये गये। किन्तु १८७३ ई० मे उन पर झूठे आरोप लगाकर नौकरी से हटा दिया गया। उनका एक मात्र अपराध था कि वे भारतीय थे। इस प्रकार उन्हें नौकरी से हटा कर भारतीयों को सरकार ने अपमानित किया।

श्री बनर्जी निराश नही हुए और वे १८७६ मे इंग्लैंड से बैरिस्टरी पास कर लौटे। उसी वर्ष उन्होने 'इण्डियन एसोसिएशन' की नीव डाली। इसका लक्ष्य पढ़े-लिखे मध्य-वर्ग का संगठन करना था।

१८७६ ई० में आइ० सी० एस० के लिए अपेक्षित अवस्था २१ वर्ष से घटाकर १९ वर्ष कर दी गई। इसका एक मात्र उद्देश्य था भारतीयों का उसमे प्रवेश असम्भव बना देना। श्री बनर्जी ने सरकार के इस रुख का विरोध किया और भारतीय जनता को, देश मे घूम-घूम कर इस तथ्य से अवगत कराया। साथ ही इण्डियन एसोसिएशन के साथ काम करने वाली संस्थाओं का संगठन भी उन्होंने किया। फलस्वरूप देश में जागृति की एक लहर व्याप्त हो गई और देश भर में संस्थाओं का जाल फैल गया।

इस वर्ष की अन्य महत्वपूर्ण घटना महारानी विक्टोरिया का दिल्ली दरबार है। भारत की साम्राज्ञी होने के उपलक्ष में यह आयोजित था। इस दरबार में प्रतिष्ठित भारतीयों, राजे-महाराजों ने उन्हें भारत की साम्राज्ञी स्वीकार कर लिया। इसी वर्ष देश में भीषण अकाल भी आया, जिसमें सरकारी सहायता के अभाव के कारण अनेक प्राणी काल-कवलित हुए।

भारत के हिन्दी पत्रों में अँग्रेजी शासन के प्रति असतोष प्रकट किये जाने के फलस्वरूप देश में जागृति फैलने लगी थी। इसे सरकार ने राजविरोधी समझा और हिन्दी पत्रों के राज विरोधी कार्यों को रोकने के लिए १८७८ ई० में वर्नाक्यूलर प्रेस अधिनियम पास किया गया। देश भर में व्याप्त इण्डियन एसोसिएशन ने इसका विरोध किया। चार वर्षों के बाद इस अधिनियम को रद्द कर दिया गया।

१८७८ ई० में ही शास्त्रास्त्र अधिनियम भी पारित हुआ जिसके अनुसार बिना लाइसेंस के हथियार रखने, ले चलने तथा व्यापार करने पर रोक लगा दी गयी। यूरोपियन, ऐंग्लो इण्डियन तथा कुछ सरकारी अफसर इससे बरी थे। इस विभेद की रेखा के कारण जनता में असंतोष व्याप्त हो गया था।

१८८३ ई० में इलबर्ट बिल पेश हुआ, जिसके अनुसार भारतीय मजिस्ट्रेटों को यूरोपियन अधिकारियों के मुकदमे सुनने का अधिकार दिया जाने को था। अँग्रेजों को यह मजूर नही था। इसलिए उन्होंने इसका जोरदार विरोध किया। उनके विरोध के फलस्वरूप उस बिल को वापिस ले लिया गया। उसी वर्ष इण्डियन एसोसिएशन द्वारा एक राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में श्री बनर्जी ने देशवासियो मे देश-सेवा के लिए सगठित होने की अपील की। १८८४ ई० में भी इण्डियन एसोशिएसन का प्रान्तीय सम्मेलन हुआ। १८८५ ई० में बम्बई में बाम्बे प्रेसिडेन्सी एसोसिएशन की स्थापना हुई और उसी वर्ष बम्बई में कांग्रेस की स्थापना हुई।

कांग्रेस की स्थापना इस युग की एक महत्वपूर्ण घटना है। कांग्रेस के जन्म के पूर्व लोगों में अँग्रेजी राज्य से घोर निराशा हो गयी और इसके फलस्वरूप वे कुछ-न-कुछ कर गुजरना चाहते थे। इस राजनीतिक अशान्ति के भीतर-भीतर बढ़ने की बात को मि० ह्यूम जानते थे। उनके हाथ ऐसी रिपोर्टों की जिल्दे लगीं, जिनमे भिन्न जिलों मे बगावत फैलने की बात का उल्लेख किया गया था। बम्बई इलाके के दक्षिण प्रान्त में किसानों के दंगे हो चुके थे। "यह देखकर ह्यूम साहब ने इस अशान्ति को प्रकट करने का एक सरल उपाय ढूंढ़ निकाला। वह उपाय था कांग्रेस।" उन्होंने १ मार्च, १८८३ ई० को

कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों के नाम एक पत्र लिखा, जिस में उन्होने ५० ऐसे आदमियों की मांग की जो भले, सच्चे, निःस्वार्थ, आत्मसंयमी एवं नैतिक साहस रखने वाले और दूसरों का हित करने की तीव्र भावना रखने वाले हों। उन्होने साफ कह दिया कि "यदि आप अपना सुख-चैन नही छोड सकते तो फिलहाल हमारी प्रगति की सारी आशा व्यर्थ है और यह कहना होगा कि हिन्दुस्तान सचमुच मौजूदा सरकार से बेहतर शासन न तो चाहता है और न उसके योग्य ही है।" उन्होंने यह भी कहा कि यदि वे आगे नहीं आते तो अँग्रेजी दासता का जुआ उनके कन्धों पर रहेगा और हिन्दुस्तानियों को अनुभव करना चाहिये कि आत्मबलिदान और निःस्वार्थता ही सुख और स्वातंत्र्य के पथ-दर्शक है।

ह्यूम यह मानते थे कि अँग्रेजो सरकार भारतीयों की आर्थिक समस्याओं के निदान में असफल रही है और जनता अकाल तथा निराशा से भयभीत है। भारत की सरकार जनता से अलगाव रखती है, इसलिए लोगों के मन में अशान्ति की भावना व्याप्त है। उसे प्रकट करने का माध्यम उन्होंने कांग्रेस को बनाया। यह उक्ति ठीक ही है कि कांग्रेस का गठन क्रान्तिकारी असतोष की सुरक्षा के कारण किया गया था।

१८९४ में सरकार ने विदेशी वस्तुओं पर लगने वाला टैक्स कम कर दिया। १८९६ में भीषण प्लेग फैला, जिसके फलस्वरूप अनेक व्यक्ति मरे। उसी साल दक्षिण में भीषण अकाल पड़ा, जिसमें २ करोड़ आदमी मर गये।

सामाजिक—१८५७ ई० के पूर्व भी बहुत से धार्मिक एव सांस्कृतिक आन्दोलन हुए जिनके फलस्वरूप भारतीय समाज मे सुधार एव प्रगति की भावना विकसित हुई। जनता को सामाजिक पुनर्गठन की आवश्यकता का ज्ञान कराने का बहुत बड़ा श्रेय आर्य समाज को है। दयानन्द ने बाल-विवाह, बहु-विवाह तथा अस्पृश्यता का विरोध किया और भारतीय समाज को नयी दृष्टि प्रदान की। उन्होने समाज का ध्यान नये मूल्यों की ओर आकृष्ट किया। श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी का सामाजिक सुधार के लिए किया गया प्रयत्न भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। उन्होने भारतीय रूढिवादी समाज में नयी चेतना का प्रकाश फैलाया और इस कार्य के लिए कई सस्थाओ की स्थापना के द्वारा अन्तर्जातीय विवाह, मादक द्रव्य निषेध, रात्रि पाठशालाओं आदि का प्रचार किया। १८७७ ई० में स्पेशल मैरिज ऐक्ट पास हुआ जिसके द्वारा अन्तर्जातीय विवाह का विधान बना। १८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना से भी सामाजिक सुधार की भावना

को बल मिला और समाज की अनेक रूढ़ियों के उन्मूलन के लिए प्रयास होने लगे।

इन सुधारों के प्रेरणा-स्रोत की ओर संकेत करते हुए डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा ने लिखा है कि 'इन सामाजिक आन्दोलनों की प्रेरणा पश्चिम से ही आई। पर साथ में यह कहना ठीक है कि इन आन्दोलनों की प्रगति अँग्रेजी प्रभाव प्रसार के साथ-साथ ही हुई।' इनके प्रेरणा स्रोत की यथा तथ्यता पर न विचार कर हम यही कहेंगे कि भारतीय समाज में आंग्ल प्रभाव से एक नयी सामाजिक चेतना का विकास हुआ और रूढ़िग्रस्त परम्पराओं का त्याग आवश्यक-सा प्रतीत होने लगा। इसका स्पष्ट प्रभाव प्रकट हुआ प्राचीन मान्यताओं के प्रति अनास्था के रूप में। धीरे-धीरे रूढियों पर से लोगों का विश्वास हटने लगा और वे नयी मान्यताएँ स्वीकार करने लगे। समुद्र-यात्रा के निषेध का भी विरोध हुआ और कूप मंडूकता के परित्याग के लिए भी स्वर ऊँचा किया गया। अँग्रेजी सभ्यता के प्रभाव के कारण भारतीय समाज ने विवेक के माध्यम से परम्पराओ का विश्लेषण किया और जो मान्यताएँ सारहीन प्रतीत हुई उनका जोरदार विरोध किया जाने लगा।

सामाजिक सुधार के लिए जो नारा बुलन्द हुआ उसे रूढ़िग्रस्त समाज ने सर्वथा मान नहीं लिया। जो लोग नयी सभ्यता से प्रभावित थे उन्होंने या तो इन सुधारों की यथार्थता स्वीकार की अथवा भारतीय समाज के पुनर्गठन की आवश्यकता का समर्थन किया, किन्तु हिन्दू समाज में एक वर्ग ऐसा भी था जो अपनी कट्टरता नही त्याग सका और उसने अन्त तक नयी मान्यताओ का विरोध किया। यह उस काल की सामाजिक चेतना का अतिवादी रूप ही है। अतिवाद का एक रूप उन लोगों मे भी देखा जा सकता है जिन्होने अँग्रेजी सभ्यता के हर गुण-अवगुण को सम्पूर्णतः ग्रहण कर भारतीय सभ्यता का पूर्ण बहिष्कार किया।

आर्थिक—भारत का आर्थिक सगठन अँग्रेजों के आगमन के बाद भी बहुत हद तक पूर्ववत् ही था, क्योंकि उनके प्रभाव मे उसमें कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नही हुआ था, किन्तु आलोच्य काल के अन्तर्गत स्टीम पावर, स्टीम इंजिन तथा वैज्ञानिक साधनों का प्रचार बहुत बढा। साथ ही फ्री ट्रेड (स्वतंत्र व्यापार) की आर्थिक नीति का सूत्रपात हुआ, जिसके फलस्वरूप देश के औद्योगिक संस्थान टिक न सके। उनके माल की खपत विदेशों मे समाप्त-सी हो गई, क्योंकि उनकी कीमत बहुत ज्यादा होती थी, किन्तु विदेशी माल की खपत भारत में बढ़ी। उद्योग में वैज्ञानिक साधनों के सहयोग के फलस्वरूप भारत का ग्रामोद्योग

टूटने लगा। ढाका, मुर्शिदाबाद, सूरत आदि के भी औद्योगिक केन्द्र समाप्त-प्राय हो गये।

रेलों के बन जाने से भारत का कच्चा माल विदेश में भेजा जाने लगा और वहां का तैयार माल पुनः भारत में बिकने लगा। विदेशी माल रेलों के माध्यम से सम्पूर्ण देश में सुलभ हो गया। उसके सस्तेपन और नवीनता के कारण भारतीय जनता का ध्यान उधर आकृष्ट हुआ और उसकी खपत दिन-दिन बढ़ने लगी।

कृषि पर भी अँग्रेजों की आर्थिक नीति का प्रभाव पड़ा। भारतीय उद्योग-धंधों के नष्ट हो जाने से बेकार कारीगर खेती की ओर लौट गये। फलस्वरूप कृषि उद्योग में लगे आदमियों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई। खेती के साधन पुराने थे। अतः उनके आने से इसमें विशेष विकास तो हुआ नहीं, उल्टे उस पर अधिक भार पड़ा। लोगों का जीवन निर्वाह भी इस उद्योग के द्वारा चलना कठिन-सा होने लगा। नहर सिंचाई का दर इतना ज्यादा था कि निर्धन किसान उससे फायदा नहीं उठा सके। अनेक बार दैव-कोप से फसल नष्ट हो गई, जिसके फलस्वरूप कई छोटे-बड़े अकाल पड़े और जनता की आर्थिक स्थिति डांवाडोल हो गई।

भारतीय जनता को अपने शासन का व्यय भी उठाना पड़ता था। लन्दन स्थित इण्डिया आफिस का खर्च लाखों पौण्ड वार्षिक था और यह अर्थ-भार भी भारत को ही वहन करना पड़ता था। फारस में भेजे गये मिशन, चीन में नियुक्त अंग्रेज राजदूत, अदन का शासन, अनेक ब्रिटिश कम्पनियों को दी गई सहायता की बड़ी रकमों का भुगतान भी भारतीय कोश से होता था। इसके लिए आवश्यक था कि टैक्स लगाये जाते। इन टैक्सों से भारतवासी भाराक्रान्त हो उठे। इनके अतिरिक्त अबीसीनिया (१८६७), ईराक (१८७५) अफगानिस्तान (१८७८), मिश्र (१८८२), सूडान (१८८५) और बर्मा (१८८६) के युद्धों का अपार खर्च देने के लिए भारत को बाध्य किया गया। इनके लिए भी अतिरिक्त टैक्सों की व्यवस्था सरकार की ओर से हुई, जिसके फलस्वरूप जनता का चौतरफा शोषण होने लगा। अँग्रेजों का मुख्य उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण ही रहा और उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने कोई कसर उठा नहीं रखी। विक्टोरिया के शासन-काल के आगमन से भारतीय जनता में यह आशा जाग उठी थी कि भारत का शोषण कम्पनी की तरह अब नहीं होगा, किन्तु इस काल में भी अँग्रेजों की आर्थिक नीति पहले जैसी ही रही।

धार्मिक एवं सांस्कृतिक—आलोच्य काल में भारतवासी पाश्चात्य सभ्यता से परिचित हो चुके थे और इस सम्पर्क से उनमें पुनर्जागरण होने लगा था। १८५७ के विद्रोह का प्रभाव भी देश की धार्मिक एव सांस्कृतिक स्थिति पर पड़ा। इस विद्रोह में सामूहिक रूप से पश्चिमी विचारों के मूलोच्छेद का प्रयास पाया जाता है। इस संघर्ष के पीछे सांस्कृतिक एव धार्मिक कारणों को देखने वाले यह मानते हैं कि इसमें भारतीयों की ही विजय हुई थी, क्योंकि इसके बाद पाश्चात्य प्रभाव के विरोध की सामूहिक भावना उदित हुई। महारानी के घोषणा-पत्र से भी धार्मिक रूढ़िवादियों को ही अधिक प्रोत्साहन मिला। इतना निश्चित है कि इसके बाद धार्मिक एव सांस्कृतिक चेतना को बल मिला और बहुतेरे आन्दोलन हुए और अनेकानेक संस्थाएं स्थापित हुईं। १८७५ ई० में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाज ने वेदोतरकालीन हिन्दू-धर्म के पौराणिक रूप को तो त्याज्य बताया, किन्तु वेदों में धर्म तथा विविध विज्ञानों के तत्वों का समावेश प्रमाणित किया। यह एक जनवादी संस्था थी, क्योंकि इसमें शिक्षित-अशिक्षित सम्पूर्ण जनता को साथ लिया गया। इसने जहाँ एक ओर ईसाई धर्म एवं संस्कृति का विरोध किया, वहाँ दूसरी ओर मुस्लिम धर्म-संस्कृति के विरुद्ध भी आवाज उठाई।

१८५७ के बाद हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध को एक नये रूप में देखा जाने लगा था। अंग्रेजी राज्य में मुसलमानी शासन की अपेक्षा हिन्दुओं को अधिक धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। फलतः हिन्दू-धर्म इस्लाम की बढ़ती हुई गति को मन्द करने मे बहुत हद तक सफल हुआ। हिन्दू संस्कृति पश्चिम के बढ़ते हुए प्रभाव को भी स्वीकार नही कर सकती थी। ईसाई मिशनरियो द्वारा ईसाई धर्म के प्रचार ने हिन्दुओ के विरोध-भाव को बल दिया, क्योंकि हिन्दू धर्म के नेताओं को पाश्चात्य नैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव के कारण अपने धर्म का अस्तित्व ही खतरे में दीख पड़ा। फलतः हिन्दू धर्म ने अपने आपको कठोर नियमों मे बाँधकर परम्पराओं की रक्षा करने की चेष्टा की।

दूसरी ओर पाश्चात्य प्रभाव की वृद्धि के कारण धार्मिक कट्टरता एव रूढ़िवादिता मिटा देने का आन्दोलन ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा अन्य सस्थाओं द्वारा प्रारम्भ हुआ। उन लोगों ने छुआछूत और धार्मिक विभेद की रेखा मिटाकर सबको एक सूत्र में बाँधकर सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पूर्ण देश को एक बनाने की कोशिश की। इन संस्थाओं का अपने समय में बहुत अधिक प्रभाव हिन्दू धर्म एवं संस्कृति पर पड़ा।

कुछ लोग पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होकर धार्मिक व्यवस्थाओं की अवहेलना भी करने लगे। हिन्दू धर्म के समर्थकों को इस कारण भी पाश्चात्य सभ्यता एवं शिक्षा हिन्दू धर्म के लिए घातक प्रतीत हुई और उन्होंने पाश्चात्य धर्म-संस्कृति का घोर विरोध किया।

१८७९ ई० में मैडम ब्लैवट्स्की और कर्नल अलकाट भारत आये और उन लोगों ने थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना की। इसने धार्मिक मत-मतान्तर को नष्ट कर पारम्परिक सहिष्णुता एवं सहयोग स्थापित करने की कोशिश की। पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शन के मूल विचारो के आधार को लिए हुए यह संस्था भारतीय जन-जागरण एवं सांस्कृतिक अभ्युत्थान में महत्वपूर्ण योग-दान करने में समर्थ हुई। सन् १८९३ ई० में जब श्रीमती एनीबेसेन्ट भारत में आईं और थियोसोफिकल सोसाइटी में सम्मिलित हुईं तो इसका प्रचार और अधिक बढ़ा। इसने मानवीय धारातल पर सबकी उन्नति की ओर कदम बढ़ाया। भारतीय राष्ट्रीय जागरण की दिशा में भी इस संस्था के कार्य महत्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार से इस काल को धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागण का काल भी कहा जा सकता है। कारण कि इस काल में अनेक धार्मिक एवं सांस्कृतिक सस्थाओं की स्थापना हुई, जिन्होंने जर्जर हिन्दू धर्म को गति देने की चेष्टा की। सदियों की रूढ़िग्रस्त हिन्दू धर्म-सस्कृति को इन लोगों ने परिष्कृत करने का नारा लगाया और सामाजिक क्षेत्र में भी कई महत्वपूर्ण सुधारों की पृष्ठ-भूमि तैयार की।

पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से मुसलमानों को भी इस्लाम खतरे में दिखाई पड़ने लगा था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राजत्व काल में मुसलमानों का सहयोग अंग्रेजों को प्राप्त था, किन्तु उच्चवर्गीय मुसलमानों का ध्यान अपने धर्म एवं संस्कृति की ओर ही अधिक था। उन्होंने भी पश्चिमी सभ्यता का बहिष्कार किया। मुसलमानों को इस काल में अपना राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक ह्रास बहुत अखर रहा था। मुसलमानों ने भी धार्मिक सुधार की ओर इस काल के पूर्व ही कदम उठाया और इस काल के आरम्भ तक वह चलता रहा। १८२० ई० में सैयद अहमद ब्रेल्वी तथा इस्माइल हाजी मौलवी मुहम्मद मक्का-यात्रा से वापिस आये। ये नये मुस्लिम धार्मिक विचारों से ओत-प्रोत थे। इन्होंने इस्लाम की कुरीतियों को दूर करने का आन्दोलन चलाया। यह आन्दोलन १८५७ के बाद तक भी चलता रहा।

इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए यह काल सुधारवादी आन्दोलन का काल था। अपने धार्मिक एव सांस्कृतिक आन्दोलनों के द्वारा इन लोगों ने कट्टरता एव दोषों को दूर करने का प्रयास किया।

दोनों जातियो की प्रेम-भावना का भी इस काल में विकास हुआ। यद्यपि हिन्दू-मुसलमानों के अत्याचारी शासन से मुक्त होकर अँग्रेजी शासन में आने के कारण प्रसन्न थे, किन्तु इससे कोई ऐसी बात नही हुई जिसके फलस्वरूप इनके बीच का तनाव बढ़े। दोनों धर्मों ने शान्तिपूर्ण ढंग से अपनी-अपनी कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया। १८५७ के युद्ध में तो दोनों जातियो ने परस्पर सहयोग के द्वारा अँग्रेजी शासन को समाप्त करने का प्रयास किया था।

शिक्षा विषयक—आलोच्य काल में उपर्युक्त अन्य सुधारो के अतिरिक्त शिक्षा-विषयक सुधार भी हुए। भारतीय शिक्षा-पद्धति अँग्रेजी शासन के आरम्भ में ही टूट चुकी थी और मैकाले की योजना के अनुसार भारत मे नयी शिक्षा-पद्धति का सूत्रपात हो चुका था। अँग्रेजी को ही शिक्षा के माध्यम रूप मे स्वीकार कर लिया गया। १८५८ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। यह कार्य चार्ल्स वुड के शिक्षा-पत्र के कानून बन जाने के फलस्वरूप किया गया। १८६४ ई० में लखनऊ का केनिग कालेज, खोला गया तथा १८७५ ई० में मोहेमडन ऐंग्लो-ओरिएटल कालेज, अलीगढ़ की नीव पड़ी। १८७२ ई० में ही म्योर सेन्ट्रल कालेज, इलाहाबाद भी स्थापित हो चुका था। १८८४ ई० में शिक्षा कमीशन द्वारा सिफारिश किये जाने पर उत्तर-प्रदेश में एक विश्वविद्यालय खोलने का निश्चय हुआ तथा १८८७ ई० मे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विधान-सम्बन्धी कानून को स्वीकृति भी प्राप्त हो गई। ये सभी विश्वविद्यालय लन्दन विश्वविद्यालय के अनुकरण पर खोले गये थे और ये अन्य महाविद्यालयों के लिए सलग्न कार्य सस्था (Affiliating Type) के रूप में काम करने लगे।

भारत में नयी शिक्षा-प्रणाली को लागू करने में तीन प्रकार की सस्थाओ को श्रेय दिया जा सकता है : विदेशी ईसाई धर्म प्रचारक, अँग्रेजी सरकार और प्रगतिशील भारतीय। ईसाई धर्म प्रचारकों ने अपने धर्म प्रचार के लिए यूरोपीय बस्तियों में विद्यालयों की स्थापना की। ये धर्म निरपेक्ष शिक्षा देने के अतिरिक्त ईसाई धर्म का प्रचार भी किया करते थे। इनका मुख्य उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार ही था, किन्तु उसके लिए उन्होंने शिक्षा को माध्यम बनाया। अँग्रेजी सरकार ने देश भर में स्कूलों और कालेजों का जाल बिछा दिया। प्रगतिशील भारतीयों ने रूढ़िवादी विचारों को तिलांजलि देकर नयी शिक्षा-

पद्धति के पक्ष में अपने विचार प्रकट किये तथा उस ओर भारतीय जनता को प्रवृत्त किया । इस प्रकार देश भर में नयी शिक्षा की एक लहर दौड गई ।

नयी शिक्षा-पद्धति का विरोध आर्य समाज तथा अन्य रूढ़िवादी हिन्दू धर्मावलम्बियों द्वारा हुआ । उन्होंने अँग्रेजी शिक्षा को हिन्दू धर्म तथा संस्कृति का शत्रु समझा और उसका घोर विरोध किया । आर्य समाज ने तो यहाँ तक प्रचार किया कि संसार का सम्पूर्ण ज्ञान वेदों में निहित है । उसने वेदों को ही भौतिक, रसायन, जीव-विज्ञान तथा इन्जीनीयरिग शास्त्रों का मूल स्रोत बताया और कहा कि यदि वेदों का सही अर्थ निकाला जाय तो इन शास्त्रों के सिद्धान्त वेदों में मिलेंगे । इस प्रकार के विरोध के बावजूद अँग्रेजी शिक्षा का विकास होता गया और भारतीयों ने इसमें सक्रिय सहयोग दिया ।

अन्यान्य—भारत में अंग्रेजी प्रभाव का विस्तार प्रेस के माध्यम से भी बहुत अधिक हुआ । १८५७ के बाद से प्रेस की गतिविधि को एक नयी दिशा प्राप्त हुई । अबतक प्रेस अंग्रेजों के हाथों मे थे और उनके द्वारा प्रचारित मत एकांगी हुआ करते थे । इस काल के उपरान्त भारतीयों ने भी प्रेस की जरूरत महसूस की । इसलिए भारतीय जनता के द्वारा अनेक अँग्रेजी समाचार पत्र तथा सामयिक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी । हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के छापेखाने भी धीरे-धीरे खुले और उनके द्वारा अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं ।

किन्तु भारतीय सरकार प्रेस को एक स्वतंत्र सस्था के रूप में नही रखना चाहती थी, क्योकि उसके द्वारा भारतीयो ने अंग्रेजों के विरोध में अपना उग्र मत प्रकट करना शुरू कर दिया था । इसलिए १८७८ ई० में वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट द्वारा देशी पत्रों की स्वतत्रता छीन ली गई । कुछ कालोपरान्त लार्ड रिपन द्वारा यह प्रतिबन्ध हटा लिया गया ।

साहित्यिक सस्थाओ का जन्म भी इस काल में हुआ । इसके पूर्व साहित्यिको के केन्द्र राजदरबार हुआ करते थे, किन्तु उनके समाप्त हो जाने पर साहित्यिकों के लिए वे द्वार बन्द हो गये । इसलिए विद्वानों ने साहित्यिक गोष्ठियो, समितियों तथा सघों के रूप में साहित्यिक केन्द्रों की स्थापना की । इन साहित्यिक संस्थाओं ने भारत में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण योग दिया ।

१८७० में भारतेन्दु ने कविता वर्द्धिनी सभा तथा १८७३ ई० में पेनी रीडिग क्लब की स्थापना की थी । इन साहित्यिक संस्थाओं में सबसे महत्वपूर्ण काशी नागरीप्रचारिणी सभा है, जिसकी स्थापना १८८३ ई० में डाक्टर

श्यामसुन्दर दास ने की। इस संस्था ने हिन्दी के विकास मे अभूतपूर्व योगदान किया। १९०० में न्यायालयों मे हिन्दी के माध्यम से काय चलाने का बहुत कुछ श्रेय इस संस्था को है।

(ख) बाह्य परिस्थितियों का राष्ट्रीय चेतना पर समवेत प्रभाव

ऊपर जिन परिस्थितियों की चर्चा की गई है, वे भारत की राष्ट्रीय चेतना के उद्भव तथा विकास के प्रेरक तत्व हैं। इनके संघटन से ही भारत की जनता के हृदय में आधुनिक राष्ट्रीयता का उदय हुआ।

इन परिस्थितियाँ ने राजनीतिक तथा सांस्कृतिक राष्ट्रीय चेतना को एक नवा रूप दिया। इसके पूर्व राष्ट्रीयता की भावना भारत में नही थी, ऐसा माना जाता है। डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय यह मानते हैं कि अँग्रेजी शिक्षा पद्धति को राष्ट्रीय चेतना के विकास का श्रेय है। वे कहते है, जिस समय भारतवर्ष अंधकार के गर्त में डूबा हुआ था, सौभाग्य से उस समय उसका पश्चिम की एक जीवित जाति के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ। और इस सम्बन्ध को ही वे भारत की राष्ट्रीय चेतना के विकास का कारण बताते है। डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा स्वीकार करते हैं कि अँग्रेजी प्रभाव ने "हमारी सुप्त विमूर्च्छित राष्ट्रीय भावना को जाग्रत किया और अपने गौरवशाली अतीत के प्रति हमें सजग किया। श्री जवाहरलाल नेहरू ने भी अँग्रेजों को भारत में परिवर्तन और क्रान्ति लाने का श्रेय दिया है।"

कुछ विचारक अंग्रेजों को राष्ट्रीय चेतना के उद्भव और विकास के लिए श्रेय नहीं देते। डा० रामविलास शर्मा उपर्युक्त मान्यता का खण्डन करते हुए कहते हैं कि "अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने भारतीय जनता को गुलामी की शिक्षा दी, भरसक उसके राष्ट्रीय सम्मान और उसकी प्रतिरोध भावना को कुचलने की कोशिश की।

यह सही है कि अंग्रेजों ने भारत में नयी शिक्षा प्रणाली प्रारम्भ की तथा नये दृष्टिकोण का विकास किया। परम्परित घिसी-पिटी मान्यताओं को बौद्धिक चेतना के प्रकाश में समझने की क्षमता नयी शिक्षा के माध्यम से प्राप्त हुई, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि उनका उद्देश्य भारत में नव-जागरण लाना था।

यह स्पष्ट है कि भारतीय चेतना को राष्ट्रीयता अथवा नव-जागरण की स्फूर्ति प्रदान करना अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार का उद्देश्य नही था। उसका उद्देश्य अंग्रेजों के खैरख्वाह और क्लर्क पैदा करना था। साम्राज्यवादी शक्तियाँ उपनिवेशों की स्थापना इसलिए नहीं करतीं कि उनके नागरिकों को शिक्षित बना-

कर, सभ्य बनाकर उन्हें स्वशासन का अधिकार दे दिया जाय। उनका उद्देश्य होता है उस देश से आर्थिक लाभ उठाना। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए अंग्रेजों ने भारत में पाश्चात्य शिक्षा का प्रारम्भ किया।

आर्थिक लाभ का एक पहलू है विदेशी माल की उपनिवेशों में खपत। उसके लिए तदनुकूल वातावरण, रहन-सहन, विचारधारा की आवश्यकता होती है। धर्म प्रचार के लिए भी शिक्षा की आवश्यकता रहती है। इसीलिए अंग्रेजों ने भारतीयों को शिक्षित किया। श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का कथन ठीक ही है कि 'यातायात के इन नवीन वैज्ञानिक साधनों के प्रचार से दुर्भिक्ष-पीड़ित स्थानों पर अनाज पहुँचाने, छोटे-छोटे गाँवों का उनकी सीमित परिधि से बाहर की दुनिया से सम्पर्क बढ़ाने और फलतः सामाजिक प्रगति होने में बहुत सहायता मिली, किन्तु यह बात घुणाक्षर न्याय से ही कही जा सकती है। मुख्य ध्येय आर्थिक लाभ उठाना था।' घुणाक्षर न्याय वाली यह बात शिक्षा के प्रचार के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

अंग्रेजों ने जिस शिक्षा का प्रचार किया उसके फलस्वरूप भारतीय जनता पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में आई। बुद्धिजीवी वर्ग ने मिल, गोडविन, पेन, काण्ट के ग्रन्थों का अध्ययन किया जिसका फल हुआ कि उनका दृष्टिकोण राष्ट्रीय बन गया। सर विलियम जोन्स, हेनरी कोलब्रुक, चार्ल्स विलकिन्स, होरेस विलसन के ग्रन्थों ने उन्हें अतीत गौरव की महत्ता का बोध कराया।

अतीत गौरव की ओर दृष्टि रखने के कारण ही भारतीय राष्ट्रीयता को पुनर्जागरण आन्दोलन कहा जाता है। राष्ट्रीयता अतीत की स्मृतियों और उपलब्धियों पर ही पलती है। भारत के सम्बन्ध में यह बात और भी सही है, क्योंकि ऐतिहासिक परम्पराओं की महान् एवं विपुल सम्पत्ति इसके भण्डार में थी। साम्राज्यवादी दमन से कुचली भारतीय राष्ट्रीय चेतना ने अतीत से प्रेरणाएँ ग्रहण की। इस काल की धार्मिक संस्थाओं ने भी इसे अतीत की ओर जाने की प्रेरणा दी। आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन आदि संस्थाओं ने राष्ट्रीयता को पुष्पित तथा पल्लवित किया। 'आर्य समाज मे बुद्धिवाद, उपयोगितावाद, राष्ट्रीयता तथा हिन्दू आदर्शों का विचित्र संयोग था।' इसका उद्देश्य भारत को राष्ट्रीय, सामाजिक तथा धार्मिक रूप से संगठित कर एक इकाई बना देना था। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीयता के उद्भव तथा विकास का श्रेय भारत की राष्ट्रीय संस्थाओं को है। हाँ, पाश्चात्य शिक्षा ने भी उसे विकसित अवश्य किया।

भारतेन्दु कालीन राष्ट्रीयता में विविध परिस्थितियों के फलस्वरूप निम्नांकित प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं :—

भारतीय राष्ट्रीयता का प्रारम्भ पुनरुत्थान के रूप में हुआ। भारत में राजनीतिक संस्थाओं के संघटन तथा कार्यान्वियन के पूर्व धार्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं की स्थापना हुई और उन्होंने पुनर्जागरण का आन्दोलन प्रारम्भ किया। आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन तथा थियोसोफिक्ल सोसाइटी ने पुनर्जागरण की दिशा में अधिक योग दान किया। इसलिए भारतीय राष्ट्रीयता आध्यात्मिक है। उसका रूप सर्वप्रथम धार्मिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक सुधारों के रूप मे प्रकट हुआ। जकरिया ने ठीक ही लिखा है कि 'राष्ट्र के राजनीतिक उद्धार के आन्दोलन का रूप धारण करने से बहुत पहले इसने अनेक धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों का सूत्रपात किया।' राष्ट्रीयता का धर्म से विरोध नही है। 'राष्ट्रीयता सम्पूर्ण सामाजिक तथा बौद्धिक जीवन के शासन-सिद्धान्त के कारण धर्म का रूप भी ग्रहण कर लेती है।' इसलिए भारतीय राष्ट्रीयता का प्रारम्भिक रूप सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक था।

आध्यात्मिक तत्व के समावेश के कारण बहुतेरे आलोचक भारतीय राष्ट्रीयता को हिन्दुत्व का पुनरुत्थानवादी आन्दोलन मानते है। वेलेन्टाइन शिरोल भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को इस आधार पर हिन्दू विद्रोह कहते है। उनके अनुसार 'भारत की जनसंख्या के एक अंश तक सीमित आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन कहलाने का अधिकारी नही है।' एक अन्य विचारक कहते हैं कि 'भारतीय राष्ट्रीयता हिन्दुत्व है।' यह सही है कि भारत मे राष्ट्रीय चेतना धार्मिक सस्थाओ की प्रेरणा से उत्पन्न हुई, लेकिन उसमें कट्टरता थी, न साम्प्रदायिकता ही थी। वह उदार सांस्कृतिक राष्ट्रीयता थी, जिसका उद्देश्य अपना उन्नयन था, अन्य संस्कृतियों के विकास में बाधा डालना था द्वेष रखना नही।

सांस्कृतिक अथवा आध्यात्मिक राष्ट्रीयता मूलतः अतीत के गौरव के स्वर्णिम आवरण में प्रकट हुई। कोई जाति अपनी परम्परा को छोड़ नही पाती और अपने अधोगति के काल में अतीत के गौरव से प्रेरणा ग्रहण करने का प्रयत्न करती है। हिन्दू जाति का ऐतिहासिक गौरव अपनी विशालता के साथ भारतेन्दु युग में प्रकट हुआ।

मातृ-भूमि के प्रति प्रेम-भाव राष्ट्रीयता की अनिवार्य आवश्यकता है। इस प्रेम के कारण हम जन्म-भूमि को स्वर्गापवर्ग से भी श्रेष्ठ मानते रहे हैं तथा अत्यन्त श्रद्धामूलक भावुकता के कारण उसका दैवीकरण करते रहे हैं। भारत-भूमि का दैवीकरण भी राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति की दिशा में हुआ।

भारतेन्दु युगीन राष्ट्रीयता सुधारवादी है। राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि क्षेत्रो मे सुधार करने की ओर उसका झुकाव विशेष लक्षित होता है। राजनीतिक क्षेत्र में उदारवादी राष्ट्रीय चेतना उस काल में व्याप्त थी। इसलिए 'पहिले युग के कांग्रेसी नेताओ को अग्रेजों की कर्त्तव्य-निष्ठा, न्यायप्रियता तथा सच्चाई मे पूरा विश्वास था। उनकी धारणा थी कि अपनी माँगों को भली-भाँति समझाने तथा अग्रेजों को उनकी न्यायपूर्णता से अवगत कराने मात्र से ही उनके कार्य की सिद्धि हो जायगी।' मात्र आवेदन तथा प्रार्थनाओ पर उनकी आस्था थी और इस माध्यम से ही वे अपनी माँगों की पूर्ति की आशा रखते थे। इसलिए कुछ लोग इस वृत्ति को 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' कहते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति के कारण ही एम० एन० राय कहते हैं, 'भारतीय राष्ट्रीयता के जनकों को राष्ट्रवादी की अपेक्षा वैधानिक डेमोक्रेट और सुधारक ही कहा जा सकता है। उनका सम्प्रदाय राष्ट्रीयता का नही, बल्कि प्रातिनिधिक सरकार का था।' जनतांत्रिक शासन प्रणाली पर विश्वास होने के कारण ये समानता के आग्रही थे और अंग्रेजों के समान अधिकार तथा प्रतिष्ठा भारतीय जनता को भी दिलाना चाहते थे। इसलिए उग्र विरोध भाव उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। 'वे जनता तथा सरकार के बीच समझौता कर देना चाहते थे। वे एक ओर जनता के मन की बात के व्याख्याता थे तो दूसरी ओर सरकारी रुख के।'

भारत की राष्ट्रीय चेतना का उद्भव राजनीतिक दास्ता के काल में हुआ। इसलिए प्रारम्भ से ही उसका स्वर विरोधात्मक था। प्रारम्भ में सुधारवादी दृष्टिकोण की ही प्रधानता रही, लेकिन उसके पीछे भी विरोध का स्वर वर्तमान था। वह विरोध भारतेन्दु काल में विभिन्न परिस्थितियों के कारण उग्र नही हो सका, लेकिन वह विरोध भी विरोध तो था ही।

भारतीय राष्ट्रीय चेतना जनतांत्रिक भावभूमि पर उत्पन्न हुई। इसलिए उसने समानता पर विशेष बल दिया। आर्थिक समानता (दो राष्ट्रों की), राजनीतिक समानता आदि की ओर भारतीय राष्ट्रीयता का ध्यान प्रारम्भ में ही गया और उसने प्रातिनिधिक सरकार की स्थापना की माँगें भी यथासमय उपस्थित कीं।

हमारी राष्ट्रीयता की एक अन्य विशेषता यह रही है कि अपने उद्भव काल में उसने राजनीतिक स्वतन्त्रता से अधिक आर्थिक स्वतन्त्रता की माँग की। इसका कारण यह था कि उक्त काल में मध्यम वर्ग की उत्पत्ति हुई, जो उद्योग-धन्धों में विशेष रुचि रखता था। इसलिए उक्त वर्ग ने राष्ट्र के आर्थिक उन्नयन पर अधिक जोर दिया।

भारतीय राष्ट्रीयता असंतोष के युग में उद्भूत हुई, महारानी विक्टोरिया के घोषणा पत्र के प्रति असंतोष, रंगभेद से क्षोभ, सरकारी नौकरियों में भारतीयों के न लिये जाने से असंतोष जनता में वर्तमान था। इस असंतोष की पृष्ठभूमि पर भारतीय राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि वर्तमान के प्रति असंतोष उसकी मूल भावधारा बन उठी।

इस काल की राष्ट्रीय भावना के विकास में पाश्चात्य शिक्षा के अतिरिक्त भारतीय प्रेस का भी बहुत बड़ा हाथ है। प्रेस के माध्यम से इस काल के राष्ट्रीय नेताओं ने अपनी विचारधारा को जनता के समक्ष रखा और समग्र देश में राष्ट्रीयता की अखण्ड चेतना का विकास किया। इस काल के प्रकाशित पत्रों ने जनता तक नयी राष्ट्रीय चेतना पहुँचाई। स्वदेशी तथा काँग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलन से भी जन-जीवन को परिचित कराने का श्रेय पत्र-पत्रिकाओं को ही है। इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना पर पत्र-पत्रिकाओं का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

इन विविध परिस्थितियों ने जहाँ अलग-अलग राष्ट्रीय चेतना को प्रभावित किया, वहाँ दूसरी ओर समवेत रूप से भी उसे नया रूप दिया। इस काल का शिक्षित समुदाय मध्यम वर्ग का था। इन लोगों का रुझान सर्वथा पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति की ओर ही न था, प्रत्युत, आंशिक रूप में प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति की ओर भी था। इसलिए जहाँ वे अँग्रेजी सभ्यता के गुणों को ग्रहण कर रहे थे वहाँ दूसरी ओर अपनी सभ्यता की मूलभूत चेतना से अनुप्राणित भी थे। ऐसे मध्यम वर्ग के हाथ में इस काल का नेतृत्व था। इसी मध्यम वर्ग ने पहले-पहल देश को स्वराज्य की दीक्षा दी।

लेकिन इस काल के स्वराज्य का अर्थ ब्रिटिश राज्य का उन्मूलन नहीं था। स्वराज्य के ये नेता ब्रिटिश सत्ता के वरद हस्त की छाया में रहकर औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करना चाहते थे। इसलिए इस काल की राष्ट्रीयता सुधारों की माँग तक सीमित रही। उसमें उत्तेजना तथा तीव्रता नहीं थी। इस काल में असंतोष के बावजूद ऐसी उदारता क्यों बनी रही, यह सवाल किया जा सकता है। इसके दो कारण थे। पहला यह कि विक्टोरिया कालीन उदारवादी नीति का उस पर प्रभाव था। दूसरा यह कि अँग्रेजी शिक्षा के प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय चेतना में अथवा राजनीति में उग्रता नहीं आने पाई। इसलिए भारतेन्दु युगीन राष्ट्रीयता प्रथम तो राजभक्ति के रूप में प्रकट हुई और उत्तरार्द्ध में सुधारवादी हो गयी।

इस काल की राष्ट्रीयता राजनीतिक दृष्टि से सुधारवादी रही, किन्तु आर्थिक नीति के सम्बन्ध में उग्र रही। अंग्रेजों की आर्थिक नीति के कारण

मध्यमवर्ग की इस राष्ट्रीयता ने औद्योगिक ह्रास एवं आर्थिक शोषण की ओर विशेष ध्यान रखा। कारण कि मध्यम वर्ग में बहुत बड़ी संख्या व्यवसायियों की थी। वे देश का आर्थिक विकास आवश्यक मानते रहे। यह बात सही है कि राष्ट्रीय चेतना को आर्थिक पहलू से अलग करके नहीं देखा जा सकता, लेकिन आर्थिक दुरवस्था की और विशेष रूप से उन्मुख यह राष्ट्रीयता भारत के औद्योगिक विकास की समस्या को अधिक प्रमुखता देती रही। इसलिए इस काल की राष्ट्रीयता को 'मध्यम वर्गीय व्यवसायी समाज की राष्ट्रीयता' कहा गया है। इस काल में सबसे पहले स्वदेशी की माँग उठाई गई।

राष्ट्रीयता में धार्मिकता का भी स्थान रहा है। किन्तु वह धार्मिकता कट्टर तथा साम्प्रदायिक नही। इस काल में हिन्दुओं की परिस्थिति कुछ अजीब थी। हिन्दुत्व का प्राधान्य इस काल में रहा। फलतः राष्ट्रीयता में भी धार्मिकता अथवा हिन्दुत्व की भावना रही किन्तु हिन्दू राष्ट्रवाद की सीमा के अन्तर्गत उसका प्रवेश नहीं था। धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में जो नवोत्थान हुआ उसका प्रभाव राष्ट्रीयता पर भी पड़ा और उसमें धार्मिक भावना का विकास हुआ। अतीत की ओर जाकर उसके गौरव से वर्तमान की दुरवस्था को भूलकर प्रेरणा, बल एव उत्साह समन्वित होकर उज्जवल भविष्य की कल्पना करना भी इसी धार्मिकता-युक्त राष्ट्रीयता की देन है। अतीत गौरव के दर्शन से राष्ट्रीय भावना के विकास की परम्परा हिन्दी साहित्य में आगे भी बनी रही।

(ग) अभिव्यक्ति

(अ) **काव्य-विषय**—आलोच्य-काल की कविता में देश-काल के प्रभाव के फलस्वरूप जनवादी तत्व का समावेश हुआ और रूढ़िग्रस्त काव्य-चेतना को नयी दिशा मिली। नायक-नायिकाओं के लीला-वर्णन से काव्य-पक्ष को पूर्णतः मुक्ति तो नही मिली, किन्तु विविध सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांकृतिक परिस्थितियो के प्रभाव के कारण काव्य को नये विषय प्राप्त हुए। इनमें प्रमुखतम विषय राष्ट्रीयता थी। लोकहित, सामाजिक सुधार तथा भाषा के उद्धार का स्वर भी राष्ट्रीयता से ही सम्बद्ध था। हास्य एवं व्यंग्य की परपरा का विकास भी इस युग में हुआ और उसके विषय अदालती अमले, पुरानी लकीर के फकीर, खुशामदी रईस, नाम या दाम के भूखे देशभक्त, नये ढंग के गुलाम आदि हुए। ये विषय हमारे मानसिक धरातल के अनुरूप ही हुए। नवजागरण की जो हवा इस युग में वही उसने काव्य के विषय में भी

परिवर्तन ला दिया और नये-नये विषयों की ओर लोगों का ध्यान गया। लेकिन भारतेन्दु युगीन काव्य-विषय का मूल स्वर देशभक्ति तथा राष्ट्रीय चेतना है।

(१) **राजभक्ति**—भारतेन्दु युग की राष्ट्रीयता का प्रथम रूप राजभक्ति के माध्यम से प्रकट हुआ। इस राजभक्ति के मूल मे भारतीय जनता का ब्रिटिश शासन के प्रति आस्था भाव है। यह आस्था इस शासन में सुख-शान्ति पाने की आशा के फलस्वरूप उदित हुई थी। कम्पनी के शासन-काल में भारतीयों को अनेक कष्ट झेलने पड़े थे, अनेक प्रकार के अत्याचार सहने पड़े थे, किन्तु १८५७ ई० के बाद विक्टोरिया के शासनकाल मे उन्हे सुख-शान्ति की आशा दिखी। इसलिए इस राज्य की स्थापना के कारण उन्होंने अँग्रेजी राज्य के गुणगान किये और उनके प्रति अपनी अटूट राजभक्ति प्रकट की। डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय अंग्रेजों के गुणगान का कारण बताते हुए कहते हैं, "अँग्रेजी राज्य में भारतवासियों को मुसलमानी अत्याचार और दिन-रात की कलह और अशान्ति से पहले-पहल रक्षा मिली। इसलिए उन्होंने मुसलमानी राज्य की अपेक्षा अँग्रेजी शासन कही अधिक श्रेयस्कर समझा।"

किन्तु यह स्मरण रखना आवश्यक है कि मुसलमानी अत्याचार, कलह और अशान्ति कम्पनी की राज्य-स्थापना के पूर्व ही समाप्त हो गई थी। उस समय देश में मुसलमानों का शासन नहीं था। इसलिए अंग्रेजी राज्य के स्वागत तथा उसके प्रति राजभक्ति प्रकट करने का कारण पूर्णत: मुसलमानी अत्याचार से मुक्ति ही नही है, वह कम्पनी के शासन से मुक्ति भी है। यह अवश्य सत्य है कि कम्पनी के शासन के पूर्व के मुसलमानी राज्य की अशान्ति का असर भी उन पर था। एक लम्बे अरसे से वे अशान्ति के वातावरण में जी रहे थे। इसलिए अँग्रेजी राज्य की स्थापना से सुख-शान्ति की आशा के कारण भी उनमें प्रसन्नता का उदय हुआ।

अँग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद विविध वैज्ञानिक साधनों से प्राप्त सुख-भोग, नवीन शिक्षा की संभावनाएँ तथा सुन्दर न्याय-प्रणाली के प्रति भी भारतीय आशान्वित थे। इसलिए हिन्दी कवियों ने विविध अवसरों पर कविताएँ रचकर अँग्रेजों के प्रति अपनी कृतज्ञता तथा उनके राज्य के प्रति भक्ति प्रकट की। भारतेन्दु ने सर्वप्रथम सन् १८६९ ई० में 'स्वर्गवासी श्री अलवरत वर्णन अन्तर्लीपिका' लिखकर महारानी विक्टोरिया के पति-शोक में समवेदना प्रकट की। १८६९ ई० में उन्होंने 'श्री राजकुमार सुस्वागत पत्र' नामक कविता की रचना की और उनके भारत आगमन पर हर्ष प्रकट किया। अन्त में उन्होंने युवराज से प्रार्थना की—

विनवत जुग प्रफुलित जलज, करि कलि कैंक समान।
धुजा-भुजा की छांह मैं, देहु अभय पद-दान।

अभय-पद की प्राप्ति के लिए अँग्रेजी पताका तथा शक्ति के आश्रय में रखने की विनती अपूर्व राजभक्ति-प्रदर्शन है। उन्होंने १८७५ ई० में 'श्री राजकुमार शुभागमन-वर्णन' लिखा और बताया कि उनके पद-पंकज चूम कर दीन भारत भूमि आनन्दित है—

दुष्ट नृपति बल दल दली दीना भारत भूमि।
लहिहै आजु अनन्द अति तुव पद-पकज चूमि।

उन्होंने आगे कहा कि यद्यपि भोज, व्यास, वाल्मीकि, राम, शाक्य सिंह आदि भारत में नहीं हैं, भारत विद्यादि से हीन है, वह खंडहरों में सिमटा हुआ है तथा अपने रत्न खोकर दीन है, तो भी प्रिन्स आफ वेल्स (सम्राट् सप्तम एडवर्ड) को देखकर वह अत्यन्त आनन्दित है, जैसे उसके जड़ शरीर को प्राण मिल गये हैं—

जदपि न भोज न व्यास नहि बालमीकि नहि राम।
शाक्य सिह 'हरिचन्द' बलि, करन जुधिष्ठिर श्याम।

जद्यपि खडहर सी भरी भारत भुव अति दीन।
खोइ रत्न सतान सब कृष तन दीन मलीन।
तदपि तुमहिं लखि कै तुरत आनन्दित सब गात।
प्रान लहे तन सी अहो भारत भूमि दिखात।

उसी वर्ष भारतेन्दु ने 'भारत भिक्षा' शीर्षक कविता में राजकुमार के आगमन से भारत भूमि के आनन्दमय होने का वर्णन भी किया है—

बृटिश सुशासित भूमि मै आनन्द उमगे जात।

१८७८ ई० में अफगान युद्ध छिड़ा। भारतवासियों ने अँग्रेजों के शत्रु को अपना शत्रु समझा और अफगानों से लड़ने के लिए तत्पर हुए। जिसके राज्य में भारतीय सुखपूर्वक रहे और सम्पूर्ण भय त्याग दिया, जिसने अनेक प्रकार से हित किया, अनेक प्रकार की नीतियाँ सिखाई, जिसने अपनी भुजा के आश्रय में सुलाकर सुख दिया, उसके लिए लड़ाई से भागना उचित नहीं था। इसलिए वे कहते है कि वीर अपनी तलवारें लेकर युद्ध में कूद पड़ें—

सबही विधि हित कियो विविधि विधि नीति सिखाई।
अभय बाँह की छाँह सबहि सुख दियो सो आई।

जिनके राज अनेक भाँति सुख किये सदाहीं।
समर भूमि तिन सों छिपनो कछु उत्तम नाहीं।
तो इनके हित क्यों न उठहि सब बीर बहादुर।
पकरि-पकरि तरवार लरहि बनि युद्ध चक्रधुर।

अन्त में वे उन लोगों को 'मूढ़' कहते हैं जो हिन्दुओं को 'डिसलायल' बताते हैं; कहते हैं, आज ऐसे लोग हिन्दुओं की राजभक्ति का संयोग देखें—

'डिसलायल' हिन्दुन कहत कहाँ मूढ़ ते लोग।
दृग भर निरखहिं आजते राजभक्ति संजोग।

उस काल में 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' की भावना वर्तमान थी। राजतंत्र के अन्तर्गत ही सभी सुखों की कामना वे करते थे, जनवादी अथवा प्रातिनिधिक सरकार की आकांक्षा का जागरण न होने के कारण वे सम्राट् के प्रति अपनी अटल राजभक्ति का सबूत देते रहे हैं। भारत भिक्षा में वे कहते हैं—

रूल ब्रिटानिय रूल दि बेबस।
ताल तरंग बजत अति रन रस।

यही तक नहीं, भारतेन्दु ने अंग्रेजों और हिन्दुओं में एक जातित्व की भी स्थापना की है और राजेश्वरी विक्टोरिया को आर्येश्वरी भी कहा है। उन्होंने अंग्रेजों को भी आर्य जाति कहकर उनके साथ हिन्दुओं की एकता की कामना 'मनोमुकुल माला' (१८८७ ई०) में की है—

होई भारताधीश्वरी आरज-स्वामिनी आज।
तुम द्वै आरज जाति कह मिलयो धन यह राज।

उन्होंने राजेश्वरी की तुलना दुर्गा, कृष्ण आदि से की तथा उन्हें माता आदि से संबोधित किया है। इनके अतिरिक्त मानसोपायन (१८७७), मुंह दिखावनी (१८७४), विजय वल्लरी (१८८१), विजय वैजयन्ती (१८८२) आदि कविताएँ यथासमय लिखकर उन्होंने अपनी राजभक्ति का परिचय दिया है।

भारतेन्दु के अतिरिक्त इस काल के प्रमुख कवि बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' ने भी कम्पनी राज्य के अन्त और ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ पर प्रसन्नता प्रकट की है—

धन्य ईसवी सन अठारह सौ अट्ठावन।
प्रथम नवम्बर दिवस सितासित भेद मिटावन।

यह 'सितासित भेद' की समाप्ति है, सिंह और अजा का एक घाट पर पानी पीना है। समानता की भावना के हर्ष के कारण ही प्रेमधन जी ने विक्टोरिया के राज्य को अपूर्व बताया है—

धन्य तिहारो राज, अरी मेरी महरानी।
सिंह, अजा संग पियत जहाँ एकहि थल पानी।

ब्रिटिश राज्य में प्राप्त अनेक सुखों की चर्चा भी कवि प्रेमधन ने की है। अंग्रेजों ने सडकें बनवाई, उनके किनारे पेड़ लगवाये, बिजली के प्रकाश से सड़कों को उज्ज्वल किया, पुल बनवाये, विश्वविद्यालय खुलवाये, और भी अनेक लाभ भारतीय प्रजा को उन्होंने दिये। अनेक प्रकार से भारत की उन्नति करने वाली विक्टोरिया हृदय में हर्ष उत्पन्न कर देती है—

सड़क हजारन कढ़ी छांह को वृच्छ करोरन।
तड़ित, गेस परकास राजपथ रजनि सुहाए।
महामहानद मांहि सेतु सुन्दर बँधवाये।
बने विश्वविद्यालय, विद्यालय, पाठालय।
पावत प्रजा अलभ्य लाभ जिनतें बिन संसय।
यों बहुभाँतिन कर भारत उन्नति मन भावनि।
तब उन्नति अपनी कीनी, तुम हिय हरषावनि।

इसके अतिरिक्त उन्होने १८७६ में 'मानसोपायन' तथा महारानी विक्टोरिया की हीरक जुबिली के अवसर पर रची कविता में अँग्रेजी राज्य के प्रति सतोष एवं हर्ष प्रकट किया है। प्रेमधन भारतेन्दु तथा अन्य कवियों से भी अधिक राज-भक्त थे। उन्होंने अँग्रेजी राज्य की न्यामतों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है और अपनी भक्ति का प्रदर्शन किया है। प्रतापनारायण मिश्र ने भी ब्रैडला स्वागत (१८६८) में अग्रेजी राज्य की अच्छाइयों का वर्णन किया है।

भारतेन्दु-युगीन कवियों ने राजभक्ति की जो कविताएँ लिखी उनसे यह नहीं समझना चाहिये कि वे चाटुकार थे अथवा उनमें देशभक्ति की भावना का अभाव था। वे पूर्णतः देशभक्त थे और उनमें राष्ट्रीय चेतना का ज्वार उमड़ रहा था, लेकिन उक्त काल में राष्ट्रीयता का आदर्श ब्रिटिश राज्य को उखाड़ फेंकने के बदले उसकी छत्रछाया में रहकर औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करना था। इसलिए उग्रवादी विचारधारा का प्रवर्तन उस काल में न हो सका।

अब यह सवाल उठता है कि उग्रवादी न होने पर भी राजभक्ति सम्बन्धी कविताएँ क्यों लिखी गई ? इसका पहला कारण यह था कि देश उस समय इस योग्य नहीं था कि क्रान्तिकारी साधनों के द्वारा ब्रिटिश शासन से लोहा ले सके। ब्रिटिश राज्य के सैन्य-बल के आगे शक्तिशाली देश भी नगण्य थे। इसका वर्णन करते हुए भारतेन्दु कहते हैं—

भाजे से फिरत शत्रु इत उत दौरि-दौरि
दबत जमानी जाको जोहत जलूस है।
ब्रह्म अस्त्र ऐसी तोपै-तोपै एकै बार फौज
बिमल बंदूक गोली दारु कारतूस है।
ऐसो कौन जग में बिलोकि सकै जौन इन्हें
देखि बल बैरी दल रहत मसूस है।
प्रबल प्रताप भारतेश्वरी तिहारे क्रोध
ज्वाल काल आगे रोम मोम रूम फूस है।

ऐसी सेना के सामने कुछ करने का साहस भारतीय जनता को नही था। इसलिए यदि उन्होंने उग्रवादी विचारधारा नही प्रकट की तो कोई आश्चर्य नही।

राजभक्ति प्रकट करने का दूसरा कारण कानून का था। इसके कारण हिन्दी कवियों ने राजभक्ति की शपथ खाई और अंग्रेजों की दृष्टि में अपने को राजभक्ति सिद्ध करने का प्रयत्न किया। तीसरा और सबसे जबर्दस्त कारण यह था कि भारतीय जनता नवीन शिक्षा प्राप्त करने तथा उसके लाभ की सम्भावनाओं से आशान्वित थी। इसलिए कवि अँग्रेजी राज्य की प्रशंसा करते नही थके।

इन कारणों से मध्यम-वर्ग, जो अँग्रेजी सभ्यता तथा शिक्षा के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ था और जिसके हाथ में राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्र था, यह नही चाहता था कि उग्र राजनीतिक आन्दोलन का प्रारम्भ हो। वह ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत रहकर उसके सुखों का उपभोग करना चाहता था, शान्ति का जीवन बिताना चाहता था, क्योंकि कई शताब्दियों से उसने कष्ट सहे थे। यही कारण है कि वे अँग्रेजी राज्य की प्रशंसा करते दीख पड़ते हैं।

राज-भक्ति की सभी कविताओं में अंग्रेजों का गुण-गान ही नही है, उनमें मांगे भी हैं। उन्होने भारतीय जनता की दीनता की ओर भी शासन का

ध्यान आकृष्ट किया। १८७५ ई० में प्रिन्स आफ वेल्स (एडवर्ड सप्तम) के भारत शुभागमन के अवसर पर लिखी कविता में भारतेन्दु ने कहा था—

पहरु न कोउ लखि परै होय अदालत बन्द।
ऐसो निरूपद्रव करौ, राज कुंवर सुख कन्द।

इसी प्रकार 'भारत भिक्षा', 'विजयिनी विजय पताका' आदि कविताओं में उन्होंने भारत के प्राचीन गौरव का गान किया है। इस दृष्टि से यह कहना कि उनकी राजभक्ति देशभक्ति से पृथक् है, ठीक नहीं जंचता। १८७० तक हिन्दी कविता में राजभक्ति की भावना के अक्षुण्ण रूप से दर्शन होते हैं। किन्तु उसके बाद की कविताओं में भारतीय गौरव, मांग आदि का वर्णन मिलता है। इसलिए यह राजभक्ति की भावना वस्तुतः कवियों की देश-प्रेम की भावना का ही एक पक्ष थी। जिस तरह की सामाजिक तथा राजनीतिक विचार धारा उस युग में प्रवाहित हो रही थी, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजभक्ति और देश-भक्ति कोई दो विपरीत विश्वास नही थे। उसे देश-भक्ति का ही एक रूप माना जा सकता है।

(२) **देश-भक्ति** - देश के मध्यम वर्ग के मन में जो आशाएँ ब्रिटिश राज्य के स्थापित होने के कारण थीं, वे शीघ्र ही मिटने लगीं। शान्ति एवं सुख-भोग की जो अभिलाषाएँ जगीं, उन्हें निराशा ने अकाल में ही जकड़ लिया। ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत जनवादी राज्य की आशा भी जाती रही। अकाल, महंगी, टैक्स, बेकारी, महामारी आदि की यथार्थता से महारानी विक्टोरिया के घोषणा पत्र के रंगीन आश्वासन मिटते नजर आने लगे। इसलिए भारतीय जनता में असंतोष की भावना का उदय हुआ और देश की दयनीय दशा तथा उसकी अधोगति की ओर कवियों का ध्यान गया। वे देश की विपण्णता से खिन्न हो उठे और उसके विकास की ओर उनका ध्यान गया। इन भावनाओं की समग्रता में राष्ट्रीय चेतना का उद्भव हुआ।

आलोच्यकाल की राष्ट्रीय कविता कई रूपों में प्रकट हुई। प्रथमतः उसकी अभिव्यक्ति अतीत-गौरव गान के रूप मे हुई। इसके अतिरिक्त वर्तमान अधोगति के कारण क्षोभपूर्ण वेदना, शासन तथा अन्य दिशाओं में सुधार तथा भारत वन्दना के रूप में भी राष्ट्रीयता को काव्यात्मक अभिव्यक्ति मिली।

अतीत गौरव गान—अतीत का उज्ज्वल गौरव पतित एवं अधोगति में पड़ी जाति के लिए उद्धार रज्जु सिद्ध होता है। अतीत के गौरवमय प्रकाश में वर्तमान की धूमिलता एव विषण्णता ज्यादा मुखर होती है और उसका क्षोभ हमें कर्म की प्रेरणा देता है, वह उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। इसलिए

गुलाम जाति प्राचीन गौरव के प्रकाश में उन्नति की ओर गतिशील होती है। भारत का अतीत गौरव अनेक महिमाओं से मंडित रहा है। उसका आदर्श ग्रहण कर अपने को पुनः विकास की ओर ले जाने का प्रयास किया गया। अतीत की महान् आत्माओं के प्रेरणा-स्रोत ने भारतीय राष्ट्रीय चेतना को बल दिया। भारतेन्दु ने उसके गौरव का उल्लेख करते हुए कहा—

भारत के भुजबल जग रक्षित।
भारत विद्यालहि जग सिच्छित।
किनिक मिसिर सीरीय युनाना।
भे पंडित लहि भारत दाना।

भारत ने अनेक देशों को शिक्षित किया, उन्हें ज्ञान का दान दिया, उनकी रक्षा की। इतना ही नहीं, भारत का तेज सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त था, उसके भय से सारा संसार कांपता था। यूरोप, अमरीका आदि भारत के भाग्य से ईर्ष्या करते थे—

जिनके भय कंपित संसारा, सब जग जिनको तेज पसारा।
युरूप अमरिका इतिहि सिहाही', भारत भाग सरिस कोउ नाही।

अतीत गौरव गान के क्रम में कवि कहता है कि ईश्वर ने सबसे पहले भारत को धन एवं बल दिया, सभ्य बनाया। विद्या का फल भी भारत को पहले ही मिला और वह सर्वप्रथम रूप, रस और रंग से भी अवगत हुआ—

सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो।
सबके पहिले जो रूप रग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो।

कवि भारतेन्दु का ध्यान बरबस भारत की ओर जाता है और उसका अतीत गौरव उन्हें आकृष्ट करता है। कवि चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य आदि की वीरता के गौरव से दीप्त हो उठता है और राष्ट्रीय काव्य का स्वर फूट पड़ता है—

धन धन भारत के सब छत्री, जिनकी सुजस धुजा फहराय।
मारि मारि कै शत्रु दिये हैं लाखन बेर भगाय।
महानन्द की फौज सुनत ही डरे सिकन्दर राय।
राजा चन्द्रगुप्त लै आये बेटी सिल्यूकस की जाय।

मारि बलूचिन विक्रम रहे शकारी पदबी पाय।
बापा कासिम-तनय मुहम्मद जीत्यौ सिन्धु दियौ उतराय।

इस प्रकार भारतेन्दु युग की राष्ट्रीय कविता सांस्कृतिक आधार लिए हुए है और अतीतोन्मुखी है। वह प्राचीन एवं मध्य युगीन वीरों और उनके वीरतापूर्ण कृत्यों से अनुप्राणित होती रही। प्राचीन गौरवमय आदर्शों की प्रेरणा से राष्ट्रीय काव्य को नयी शक्ति प्राप्त होती रही। कालान्तर में भी अतीत गौरव गान की यह परम्परा बनी रही।

वर्तमान की प्रतिध्वनि--आलोच्यकाल की राष्ट्रीय कविता में मात्र अतीतोन्मुखी चेतना ही नहीं है, बल्कि प्रगतिशील राष्ट्रीय चेतना का संयोग भी है। इस प्रगतिशीलता के फलस्वरूप वर्तमान की ओर देखने की प्रेरणा जगी। वास्तव में राष्ट्रीय चेतना के अतीतोन्मुखी होने का कारण भी वर्तमान अधोगति की क्षोभ भरी वेदना ही थी। अर्वाचीन शोचनीय स्थिति ने ही अतीत गौरव की उज्ज्वलता का स्मरण कराया और कवियों ने अपने काव्य में पीछे मुड़कर वर्तमान की तुलना में गौरवमय अतीत का गायन किया।

जगत्‌वंद्य, सर्वपूज्य भारत के वर्तमान पतन से उत्पन्न व्याकुलता ही भारतेन्दु-युगीन प्रगतिशील राष्ट्रीय चेतना है। कवियों ने महिमा मंडित भारत की वर्तमान दयनीय दशा की ओर दृष्टिपात किया तो उनका हृदय रो उठा। उन्होंने अतीत से वर्तमान की तुलना कर एक ओर अतीत गौरव का गीत गाया तो दूसरी ओर वर्तमान दशा से क्षुब्ध होकर आंसू बहाये। भारतेन्दु भारत की इस दुर्दशा से आकुल हो उठे और उनके कंठ से फूट पड़ा—

रोवहु सब मिली कै आवहु भारत भाई।
हा। हा। भारत दुर्दशा न देखी जाई।

उन्होंने समग्र देश को पश्चात्ताप करने के लिए पुकारा। जो अपने को भारतवासी कह सकते, उन्हें उन्होंने-देश-दुर्दशा पर आंसू बहाने के लिए आमंत्रित किया। इतना ही नहीं, उन्होंने दोषों की ओर भी लोगों का ध्यान खीचा और कहा कि भारत-दुर्दशा देखी नहीं जाती—

तह रही मूढ़ता कलह अविद्या राती।
अब जहाँ देखहुँ तहँ दुखहि दुख दिखाई।

हा। हा। भारत दुर्दशा न देखी जाई।

इतना ही नहीं कि कवि भारतेन्दु भारत की दुर्दशा से क्षुब्ध थे। दुर्दशा से मुक्त होने के उपायों की ओर भी उनका ध्यान गया, किन्तु उक्त काल

की राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियो ने कवि को मौन कर दिया। उन्होंने इस असमर्थता को प्रकट किया--

सोई भारत की आज यह, भई दुरदसा हाय।
कहा करै कित जायँ नहि, सुझत कछू उपाय।

जिस 'भारत के भुजबल सब रक्षित' था, वही भारत इतना निर्बल हो गया, आज भू पतित और दुखी हो गया। वह निर्बल देश श्याम तथा जापान की तरह भी आज नही रहा। इन बातो से कवि के हृदय पर जो आघात हुआ उसे वह बर्दाश्त नही कर सका और उसकी वेदना फूटी--

हाय वहै भारत भुव भारी।
सबही विधि तें भई दुखारी।
रोम ग्रीस पुनि निज बल पायो।
सब विधि भारत दुखित बनायो।
अति निर्बलो स्याम जापाना।
हाय न भारत तिनहुँ सामाना।

उपाध्याय पंडित बदरीनाथ चौधरी 'प्रेमघन' ने देश के पतन का वर्णन हार्दिक हर्षादर्श में किया है--

भयो भूमि भारत में महा भयंकर भारत।
भये वीरवर सबल सुभट एकहि संघ गारत।
भरे विबुध नरनाह सबल चातुर गुनमंडित।
बिगरो जनसमुदा बिनापथ-दर्शक पंडित।
नये-नये मत चले, नये झगरे नित बाढ़े।
नये-नये दुख परे सीस भारत पर गाढ़े।

इस प्रकार वर्तमान दुर्दशा की ओर कवियों ने जन-समुदाय का ध्यान आकृष्ट किया और अपनी पतितावस्था से उन्हें अवगत कराया। उन्होंने पतितावस्था के कारणों पर भी विचार किया। भारत के पतन का एक मात्र कारण है फूट। जहाँ एकता नहीं है, वहाँ स्वतंत्रता का निवास असम्भव ही है। इस फूट के मेवा की ओर संकेत कर भारत की निर्बलता का कारण बताया गया है—

तहाँ टिकै क्यों बाहुबल जिन घर मेवा फूट।
बल बपुरो कैसे रहे जाय बाहु जब टूट।

जहाँ लरै सुत बाप संग और भ्रात सों भ्रात।
तिनके मस्तक सों हटै कैसे पर की लात।

भारतेन्दु भी इसी फूट को भारत के नाश का कारण बताते हैं—

बैर फूट ही सों भयो सब भारत को नास।
तबहुँ न छांड़त याहि सब, बँधे मोह के फांस।

भारत में सबसे पहले फूट का बीज बोने वाला जयचन्द था। उसने अपने स्वार्थ के लिए मुसलमानों को भारत पर आक्रमण के लिए आमंत्रित किया। अपने हाथ से ही, ऐसा करके, उसने अपने कुल का खात्मा किया। उसी ने विदेशी आक्रमणकारियों का भारत में आने का रास्ता दिखाया। इसलिए जयचन्द के प्रति कवि का आक्रोश फूट पड़ता है—

काहे तू चौका लगाय जयचंदवा।
अपने स्वारथ भूलि लुभाये,
काहे चोटी-कटवा बुलाये जयचंदवा।
अपने हाथ से अपने कुल कै,
काहे तै जड़वा कटाए जयचदवा।
फूट के फल सब भारत बोए,
बैरी के राह खुलाये जयचंदवा।
और नासि तै आपो बिलाने,
निज मुँह कजरी पुताये जयचदवा।

जयचन्द की स्वार्थ-बुद्धि का परिणाम भारतीयों को भोगना पड़ा था और इसलिए गुलामी के कारण देश अधोगति को प्राप्त हुआ। भारतेन्दु का उसके मुँह पर कजरी पोतना देशद्रोह मात्र के मुँह पर कालिख पोतना है।

प्रतापनारायण मिश्र ने भी कहा कि भाई-भाई के बैर के कारण हम परदेशियों के पैर पड़ते हैं और यही द्वेष भारत-शशि के लिए राहु बना। घर के भेदिया ने ही लंका-दहन किया—

भाय-भाय आपस में लरैं।
परदेसिन के पायन परैं।
यहै द्वेष भारत शशि राहु।
घर का भेदिया लंका दाहु।

श्रीधर पाठक ने भी भेदिया जयचन्द को ही भारत के पतन का मुख्य कारण माना है। विद्वेष की प्रचण्ड ज्वाला बढ़ने के कारण ही प्रजा भारती नष्ट हो गई और सबकी विशुद्ध मति नष्ट हो गई--

पृथ्वीरज जयचन्द जबसे गये है।
उसी काल से इनके दिन फिर गये हैं।

परस्पर के विद्वेष की चण्ड ज्वाला।
बढ़ी देश में भीम रूपा कराला।

किया नष्ट उसने प्रजा भारती को।
बिगाड़ा सभों की बिशुद्धा मती को।

राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए जनता की एकता अपेक्षित है। इसके बिना जयचन्द पैदा होंगे ही और देश भी नष्ट होगा। भारतीय जनता में एकता न रहने के कारणों की ओर भी कवियों ने ध्यान आकृष्ट किया है। भारतेन्दु की समझ में कारण थे शैव, शाक्त, वैष्णव आदि धर्मों की स्थापना, जाति-पाँति के अनेक भेदोपभेद और खान-पान-सम्बन्धी रुकावटें। इनकी निन्दा करते हुए भारतेन्दु ने कहा—

रचि बहुविधि के वाक्य पुरातन माँहि घुसाए।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए।

जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान-पान सम्बन्ध सबनि सों बरजि छुड़ायो।

इसके अतिरिक्त वेदान्त मत का भी इस विद्वेष में हाथ समझकर उन्होंने उसकी निन्दा की और कहा कि उसने सबको ब्रह्म बना दिया, हिन्दुओं को पुरुषोत्तम बना कर उनके हाथ-पाँव तोड़ दिये—

रचिकै मत वेदान्त को, सबको ब्रह्म बनाय।
हिन्दुन पुरुषोत्तम कियो, तोरि हाथ अरु पाय।

वेदान्त ने ही सबको रुक्षता सिखाई, उन्हें स्नेह शून्य बनाया और इसीलिए देशोद्धार का प्रयत्न भारतवासियों ने छोड़ दिया।

देशोद्धार के लिए एकता को इतना महत्व देने वाला क्रान्तदर्शी कवि हिन्दू राष्ट्रवाद की स्थापना के स्वप्न देखे, मुसलमानों के प्रति घृणा का भाव व्यक्त कर कृष्ण से प्रार्थना करे कि वे म्लेच्छाचार नाश के लिए कलियुग में अवतार लें, यह आश्चर्य की बात है। इस भाव की अभिव्यक्ति भारत दुर्दशा के मंगलाचरण वाले दोहे में है—

जय सतजुग थापन करन, नाशन म्लेच्छ अचार।
कठिन धार तरवार कर, कृष्ण कल्कि अवतार।

इतना ही नहीं, युवराज प्रिन्स आव वेल्स (सम्राट् एडवर्ड सप्तम) के भारत आगमन पर १८७५ ई० में हर्ष प्रकट करते हुए भारतेन्दु ने पुराने घाव की ओर संकेत किया और राजकुमार को उसका मरहम बताया है। वह घाव था विश्वनाथ के निकट मस्जिद की स्थापना—

मसजिद लखि विसुनाथ ढिग परे हिये जो घाव।
ताकहँ मरहम सरिस यह तुव दरसन नरराव।

मुसलमानों की अभारतीयता उन्हें बहुत अखरती थी। उन्होंने कभी हिन्दुओं को अपना नही समझा। इसलिए दोनों सम्प्रदायों में परस्पर कटुता और द्वेष ही रहा। अकबर ने उस द्वेष को अपनी बुद्धिमत्ता से कुछ मिटाया, किन्तु औरंगजेब आदि ने उस मैत्री को खत्म किया, हिन्दुओं का धर्म नष्ट किया। इसलिए उनके प्रति उनके मन में स्नेह का अभाव था--

जदपि जवन गन राज कियो इतही बसिकै सहसाज।
पै तिनको निज करि नाहि जान्यौ कबहूँ हिन्दु समाज।
अकबर करिकै बुद्धिमति कछु सो मेट्यो सदेह।
सोउ दारा सिकोह लों निबही औरंग डारो खेह।
औरहु औरंगजब दियो दुख सब विधि धरम नसाय।

यवनों ने केवल धर्म ही नही नष्ट किया, नारी और धन को भी उन्होंने नष्ट किया--

जिन जवनन तुम धरम नारि धन तीनो लीनो।

यवनों के प्रति द्वेष भाव होने के कारण वे किसी यवन देश पर विजय प्राप्त होते ही आर्यत्व की भावना से दीप्त हो उठते थे। १८८२ ई० में अंग्रेजों की मिस्र पर विजय को उन्होने भारतीयों की विजय मानी और 'आर्य मोंछ के बार' को ऊँचा होते देखा--

फरकि उठी सबकी भुजा, खरकि उठी तरवार।
क्यों आपुहि ऊँचे भये आर्य मोंछ के बार।

और भी—

मेटहु जिय के सल्य सब सफल करहु निज नैन।
लखहु न अरबी सों लरन ठाढ़ो आरज सैन।

मुसलमानों के प्रति इस भावना को देखकर कहा जाता है कि हिन्दू पुनरुत्थानकाल का प्रथम चरण ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टि से कुछ मुस्लिम विरोधी रुख लिए हुए था। मुसलमानों के धार्मिक विद्वेष और अत्याचार को हिन्दू भूले नहीं थे। इसीलिए हिन्दुओं का एक विशेष दृष्टिकोण था—अंग्रेजों से राजनीतिक सम्बन्ध रखते हुए मुसलिम विरोधी, और उस समय जबकि अंग्रेज भी मुसलमानों से नाराज थे। इस भावना को उक्त लेखक ने आनन्द मठवाली भावना कहा है। किन्तु आगे चलकर वे लिखते हैं 'उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु अथवा अन्य किसी कवि ने मुसलमानों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह राजनीतिक अस्तव्यस्तता और तज्जनित देश की पीड़ित अवस्था और धार्मिक अत्याचार की दृष्टि से कहा है।'

यह बात सही है कि भारत की पददलित अवस्था की ओर ध्यान जाते ही उस काल के कवियों का ध्यान मुसलमानों के अत्याचार की ओर आकृष्ट हो जाता था और वे विद्वेष की भावना से भर उठते थे, किन्तु उस युग के मंत्र-द्रष्टा कवियों ने उसका स्मरण मात्र किया था। उसे अपनी अधोगति का कारण भर बताया था। उन्होंने कही भी मुस्लिम विरोधी भावना का प्रचार नहीं किया है। इसके अतिरिक्त उनकी यह पुकार अथवा भावना इस्लाम धर्म अथवा उसके पैगम्बरों के प्रति नही थी, मात्र मुसलमानी अत्याचार के विरुद्ध थी। भारतेन्दु ने 'पंच पवित्रात्मा' लिख कर उसकी पुष्टि की।

हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष को तीव्र करने वाली भावना राष्ट्रीय भावना नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह फूट जगाती है, भारतीय स्वतंत्रता के आधार को कमज़ोर करती है, और ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति को बल देती है। भारतेन्दु युग के कवि राष्ट्रीय चेतना से उद्दीप्त थे। उनमें राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी थी, इसलिए धार्मिकता एव साम्प्रदायिकता को उन्होने नही उभाड़ा, बल्कि देश की जागृति के लिए एकता का समर्थन किया। फूट के कारण देश की जो अधोगति हुई उसका निर्देश पहले ही हो चुका है। कवियों ने केवल अनेकता की बुराइयों का ही उल्लेख नही किया, बल्कि हिन्दू-मुस्लिम एकता का स्वर भी ऊँचा किया और राष्ट्रीय चेतना को बल दिया। पुरातन-प्रेमी तथा उदारवादी राष्ट्रीय कवि 'प्रेमघन' ने अपने जीवन के अन्तिम काल में केवल मुसलमानों की एकता को ही राष्ट्रीयता के लिए आवश्यक नही ठहराया, बल्कि जैन, फारसी, ईसाई सबके एक सूत्र में बँधने की कामना व्यक्त की—

हिन्दू मुसलिम जैन पारसी ईसाई सब जात।
सुखी होंय हिय भरे प्रेमघन सकल भारती भ्रात।

प्रतापनारायण मिश्र ने लोकोक्ति शतक में स्वतंत्रता के लिए पुकार की और कहा कि भारतीय चुपचाप विदेशियों के लात न खायें—

सब तजि गहो स्वतंत्रता नहिं चुप लातैं खाव।
राजा करै सो न्याव है पासा परै सो दाव।

स्वतन्त्रता को सब कुछ छोड़कर ग्रहण करने की प्रेरणा देने वाले कवि प्रतापनारायण मिश्र ने परस्पर प्रीति न रखना, भाई चारे का अभाव होना आर्यों के परतत्र होने का कारण बताया—

भायप तनक परस्पर नहिं जहँ,
सरल सनेह न हरि चरनन महँ।
जगत दास कस होहिं न आरज,
निवर की जुहया सबके सरहज।

ऐसा नही कि उन्होंने मात्र आर्यों को ही एकता का सन्देश दिया। उन्होंने सबको मित्र भाव से रहने का मंत्र दिया। तभी देश की दशा सुधर सकती है। एकता के समान दूसरा बल नही है—

प्रीति परस्पर राखहु मीत।
जइहैं सब दुख सहजहिं बीत।
नहिं एकता सरसि बल कोय।
'एक-एक मिलि ग्यारह होय।'

बालमुकुन्द गुप्त उन्नति करने के इच्छुक आर्यों की मुसलमानों से एकता स्थापित करने की बात पर प्रसन्नता प्रकट करते कहते हैं—

बाम्हन बने शहीद ईद में यवन जनेऊ दार बने रे।
धन्य-धन्य। सब मिलि गये आरज उन्नति पर तैयार बने रे।

इस प्रकार उस काल के कवियों में मुसलमान विरोधी भाव का यदि प्रकारान्तर से प्रकाशन हुआ तो अपनी दीनता वर्णन के प्रकरण में ही हुआ। उन्होंने मुसलमानों का विरोध धार्मिक विभेद के आधार पर नहीं किया। ऊपर जो एकता की बात कही गई है उससे साफ जाहिर है कि उनका ध्यान देश के उत्थान की ओर था। उनमें राष्ट्रीय भावना का विकास पूर्ण रूप से हुआ था और उसके लिए उन्होंने एकता आवश्यक समझकर जनता को एक होने का सन्देश दिया, जिससे देश की दीन-दशा मिटे। इसीलिए भारतेन्दु-युगीन कवियों

ने आर्थिक दुरवस्था की चर्चा ही विशेष रूप से की। डा० रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि 'धार्मिक विद्वेष के बदले उन्होने हिन्दुओं मुसलमानों में भाई-चारे, परस्पर सहयोग और मिलकर उन्नति करने की बात कही।, उनके निबन्धों के द्वारा इस कथन की पूर्णतः पुष्टि होती है। उन्होने स्पष्ट कहा—

यह समय इन झगड़ों का नही, हिन्दू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिए।

भारतेन्दु-युग में यदि धार्मिक विद्वेष की झलक दीख पड़ती है तो उसका कारण हिन्दू-मुस्लिम वैर-भाव नही, बल्कि अंग्रेजों की फूट डालने की नीति है। हिन्दू और मुसलमान दोनो ही अँग्रेजी राज्य में शोपित थे, पतित थे और उपेक्षित थे। उन्होंने १८५७ के स्वतत्रता-युद्ध में साथ मिलकर अंग्रेजों को लोहे के चने चबवाये थे। इसलिए दोनों की एकता से त्रस्त अँग्रेजी शासन ने उनके भीतर फूट डालने की नीति अपनाई और उसमे बहुत हद तक वे सफल भी हुए। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी अंग्रेजों की इस नीति से अवगत थे। वे जानते थे कि भारत में राष्ट्रीयता का विकास तभी हो सकता है जव दोनों जातियाँ परस्पर मिलकर विदेशी का सामना करें।

भेद की नीति का ही एक रूप काले-गोरे का विभेद है। जिन अंग्रेजों को हिन्दुओं ने 'आरज संतान' कहकर सबोधित किया तथा समानता की आशा की, वे ही वर्ण-भेद की नीति के द्वारा हिन्दुओं को हीन समझने लगे। विलायत में दादा-भाई नौरोजी के 'काले' कहे जाने पर प्रेमघन ने बड़ा क्षोभ प्रकट किया—

अचरज होत तुमहुँ सम गोरे बाजत कारे।
तासों कारे 'कारे' सब्दहु पर है वारे।
कारे काम, राम, जलधर जल-बरसन-वारे।
कारे लागत ताही सों कारन को प्यारे।
यातें नीको है तुम 'कारे' जाहु पुकारे।
यहै असीस देत तुमको मिलि हम सब कारे।
सफल होहि मन के सबही संकल्प तुम्हारे।

भारतेन्दु को भी अपने जीवन में अनेक बार इस काले-गोरे के विभेद के फलस्वरूप अंग्रेजों द्वारा अपमानित होना पड़ा था।

विवेच्यकालीन कवियों ने एकता की स्थापना के लिए तो कहा ही, ईश्वर से भी देशोद्धार के लिए प्रार्थना की। यह प्रवृत्ति राष्ट्रीय चेतना में ही

अनुस्यूत दीख पड़ती है। नील देवी में मातृ-भूमि के उद्धार के लिए ईश्वर की प्रार्थना करते हुए कवि ने अपने युग की दीनता एव वेदना को साकार किया है—

कहाँ करुणानिधि केशव सोये।
जागत नेकु न जदपि बहुत विधि भारतवासी रोये।

भारतेन्दु के समकालीन श्रीराधाकृष्ण दास ने भी आरत भारतवासियों पर दया करने की गुहार ईश्वर से की। यह गुहार देश-प्रेम के उज्ज्वल प्रकाश से पूर्ण है—

हम आरत भारत बासिन पैं अब दीन दयाल दया करिये।

और भी कहा—

प्रभु हो पुनि भूतल पर अवतरिए।
अपुने या प्यारे भारत के दुनि दुख दारिद हरिए।

भारतेन्दु ने भी भारत दुर्दशा के मंगलाचरण में ईश्वर से भारतोद्धार के लिए अवतार धारण करने की प्रार्थना की है—

जय सतजुग थापन करन, नासन म्लेच्छ अचार।
कठिन धार तरवार कर, कृष्ण कल्कि अवतार।

प्रताप नारायण मिश्र ने भी चारों ओर की कलियुग की अनीतियों से ऊबकर पतित देश भारत के उत्थान के लिए अवतार धारण करने का निवेदन करते हुए कहा—

कलिजुग ही कलिजुग छाय रह्यो दिशि चारो।
अब कस न कल्कि अवतार वेगि प्रभु धारो।

\+ + +

हे पतित उधारन। भारत पतित उधारो।

कवियों ने देशोद्धार के लिए इस काल में जो प्रार्थना की, उसे निराशा भरे मन की विवशता कहा जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि यह अकर्मण्यता का स्वर है और पतित जाति को ऐसे सदेश देने वाली कविता ह्रासोन्मुखी राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक है, किन्तु इस काल के कवियों ने क्रान्ति का भी संदेश दिया। उन्होंने जग कर अपने शेष की रक्षा का भी संदेश दिया है—

जागो जागो रे भाई.................
अबहुँ चेति पकरि राखो किन जो कुछ बची बढ़ाई।

कीर्तिकत नाटक में तोताराम ने तो क्रान्ति का आवाहन किया । देश के उत्थान के लिए वे देश का पक्ष ग्रहण कर अपने प्राणों का मोह छुड़ा लेना चाहते थे—

जाय के सूर समूह वे बीच सबै दृढ़ धीरज आज बधाऊँ ।
आज स्वदेश को पक्ष गहाय के यो धनु प्राण को मोह छुड़ाऊँ ।

वीर बखानि कथा जश की हठि सोवत ते रसवीर जगाऊँ ।
या विधि साजि के सेन सखा पग रोपि के सत्रु सो रारि मचाऊँ ।

भारतेन्दु ने दीनता दूर करने के लिए भारतीयों का आह्वान किया । अपना प्राचीन रूप-स्मरण करने की राय कवि ने उन्हें दी । कवि ने भाग्य एवं अभाग्य की होली भारत में होते देखी और तब भारत-पुत्रों को जागरण के लिए पुकारा—

उठौ उठौ भैया क्यों हारौ अपुन रूप सुमिरो री ।
राम युधिष्ठिर विक्रम की तुम झटपट सुरत करोरी ।

दीनता दूर धरोरी ।

उन्होंने भारतवासियों में जागरण की प्रेरणा केवल इसी प्रकार नहीं भरी, वरन् कायरता के लिए उनकी भर्त्सना भी की है । उस माता-पिता को धिक्कार है जिसने कायर पुत्र उत्पन्न किया, उस घड़ी को धिक्कार है, जब ऐसा कलंक उत्पन्न हुआ—

धिक धिक मात पिता जिन तुम सों कायर पुत्र जन्यो री ।
धिक वह घरी जनम भयो जामैं यह कलंक प्रगटो री ।

जनमत हि क्यों न मरो री ।

भारतेन्दु के समकालीन प्रतापनारायण मिश्र ने भी, सब ताजि गहो स्वतंत्रता नहिं चुप लाते खावे, कहकर मूक रूप से अँग्रेजी अत्याचार न सहने की ओर ही संकेत किया । दीन दशा से निराश होने की आवश्यकता नही है, जरूरत है प्रयास की, कर्म की । उस ओर हमारे राष्ट्रीय कवियों का ध्यान गया है । उन्होंने कर्म का संदेश देकर हमें स्वाधीनता के लिए तत्पर होने की प्रेरणा दी और उसके फलस्वरूप सम्पूर्ण देश में जागरण की एक चेतना फैल गई ।

भारतवासियों को और उनकी भावना के संवाहक कवियों को भी यह आशा अँग्रेजी शासन की स्थापना के प्रारम्भ में हो गयी थी कि भारत का

उद्धार अंग्रेजों द्वारा होगा। उन्हें विश्वास था कि उनकी आशा पूर्ण होगी और इसलिये १८७४ ई० में क्वीन विक्टोरिया के द्वितीय पुत्र ड्यूक आफ एडिनबरा का विवाह रूस की राजकुमारी ग्रैण्ड डचेज मेरी के साथ हुआ तो भारतेन्दु ने मुँह-दिखावनी शीर्षक कविता लिखी और 'आशा' दासी को नरनाह की सेवा में समर्पित किया। यह आशा भारतीय जनता की देशोद्धार की आशा थी जिसका समर्पण कवि ने किया था--

तब हम भारत की प्रजा मिली कै सहित उछाह।
लाए 'आशा' दासिका लीजै एहि नरनाह।

किन्तु भारतीय निराश हुए। उनकी निराशा का करुणापूर्ण वर्णन उन्होने भारत-दुर्दशा में किया है और तब भगवान की ओर तथा आत्मबल संचित करने की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया। किन्तु तत्कालीन कवियों ने अंग्रेजों से निराश होकर उनके प्रति उदासीनता का रुख नहीं अपनाया। उन्होंने यथासमय अपनी माँगों को उनके सामने पेश किया। उन माँगों के साथ-साथ अँग्रेजी राज्य के अत्याचारों का भी वर्णन हुआ है। अमले अंग्रेजी राज्य में अत्याचार के प्रमुख वाहन रहे। उनकी कार्यवाहियों का अंकन उन्होंने नये जमाने की मुकरी में की है—

मतलब की ही बोलै बात,
राखै सदा काम की घात।
डोले पहिने सुन्दर समला,
क्यों सखि सज्जन नहिं सखि अमला।

पुलिस के अत्याचार से जनता त्रस्त थी। अपना उग्र रूप दिखाकर सर्वस्व लूट लेना और फन्दे में पड़े हुए की कभी मुक्ति न होने देना उसके रूप के पहलू थे इस अत्याचार को भारतेन्दु ने व्यंजित किया है—

रूप दिखावत सरबस लूटै।
फंदे मैं जो पड़ै न छूटै।
कपट कटारी जिय में हूलिस।
क्यों सखि सज्जन नहिं पुलिस।

इसलिए १८७५ ई० में युवराज प्रिन्स आफ वेल्स के आगमन के अवसर पर लिखी गई कविता 'श्री राजकुमार शुभागमन-वर्णन' में उन्होंने माँग की--

पहरू कोउ न लखि परै होय अदालत बन्द।
ऐसो निरुपद्रव करौ राजकुंजर सुखकन्द।

यों भारत-भूमि को माता मानकर उसमें देवीत्व का आरोप या जन्म-भूमि के अनुपम स्वरूप की वन्दना का स्पष्ट रूप नही उभरा था, किन्तु श्रीधर पाठक तथा बालमुकुन्द गुप्त ने जननी की जय-जयकार तथा उसकी वन्दना की।

श्रीधर पाठक पराधीन हिन्द की वन्दना नही करते, उन्होंने स्वाधीन हिन्द की वन्दना की, प्राचीन हिन्द का जयजयकार किया—

जय जयति सदा स्वाधीन हिन्द।
जय जयति जयति प्राचीन हिन्द।

बालमुकुन्द गुप्त में जननी की पूजा का भाव उठा, लेकिन साधनों की अभावजन्य विवशता उसके सामने आ जाती है। अपनी क्षुब्ध मनोभावना उन्होंने यों व्यक्त की—

का दै जननी पूजा करैं तुम्हार।
पेटहु कै निस दिन है हाहाकार।

१८९८ ई० में उन्होंने "आवहु माय" शीर्षक कविता लिखी, जिसमें भारत की घोर मसान और भारत माता की मसानी रूप में कल्पना की। भारतवासियों की दुरवस्था का वर्णन करने के बाद कवि कहता है कि हे माँ

८८] [आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय चेतना का विकास

यों भारत-भूमि को माता मानकर उसमें देवीत्व का आरोप या जन्म-भूमि के अनुपम स्वरूप की वन्दना का स्पष्ट रूप नही उभरा था, किन्तु श्रीधर पाठक तथा बालमुकुन्द गुप्त ने जननी की जय-जयकार तथा उसकी वन्दना की।

श्रीधर पाठक पराधीन हिन्द की वन्दना नही करते, उन्होंने स्वाधीन हिन्द की वन्दना की, प्राचीन हिन्द का जयजयकार किया—

जय जयति सदा स्वाधीन हिन्द।
जय जयति जयति प्राचीन हिन्द।

बालमुकुन्द गुप्त में जननी की पूजा का भाव उठा, लेकिन साधनों की अभावजन्य विवशता उसके सामने आ जाती है। अपनी क्षुब्ध मनोभावना उन्होंने यों व्यक्त की—

का दै जननी पूजा करैं तुम्हार।
पेटहु कै निस दिन है हाहाकार।

(३) **आर्थिक शोषण**—अंग्रेज भारत में आर्थिक शोषण के लिए आये थ। उनका उद्देश्य न तो भारत को शिक्षित बनाना था और न अन्य किसी प्रकार भारत का उत्थान करना। इसलिए उन्होंने ऐसी आर्थिक नीति का आलम्बन किया जिससे उन्हें अधिकाधिक लाभ हो। इस क्रम में उन्होंने इंग्लैण्ड में भारतीय वस्तु के क्रय पर रोक लगा दिया। भारत का कच्चा माल सस्ती दर पर खरीद कर इंग्लैंड भेजा जाने लगा और उससे बने सामान भारत के बाजार में ऊँचे दामों पर बेचे जाने लगे। भारत का सम्पूर्ण बाजार विदेशी सामानों से भर गया। भारतीय उद्योग-प्रतिष्ठान ब्रिटिश मिल की प्रतियोगिता में न ठहर सके, क्योंकि मिल की वस्तुओं की कीमत अपेक्षाकृत कम थी। इसलिए भारत के बाजारों में अंग्रेजी सामान खपने लगे। परिणाम यह हुआ कि देश का द्रव्य विदेश में जाने लगा। देश का मध्यमवर्ग, जो व्यापार में संलग्न था इस बात को कैसे स्वीकार कर सकता था, क्योंकि उसके व्यापार का तो इससे नुकसान हुआ ही देश की अतुल सम्पत्ति का भी क्षय होने लगा। भारतेन्दु ने सबसे पहले १८८० ई० में अंग्रेजी राज्य के सुखों की ओर संकेत करते हुए भी भारत के आर्थिक ह्रास, धन विदेश चले जाने से क्षोभ प्रकट करते हुए कहा —

अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति खारी।

भारत के धन के विदेश चले जाने का क्षोभ प्रतापनारायण मिश्र को भी था। उन्हें दुख था कि अंग्रेज सब कुछ लिये जा रहे थे, लेकिन हम लेक्चर बघारते थे—

सर्बसु लिये जात अंग्रेज, हम केवल 'ल्यकचर' को तेज।
श्रम बिन बाते का करती है, कहुँ टेटकन गाजै टरती हैं।

भारत में अग्रेजी राज्य शोषण की कहानी है। साम्राज्यवादी शक्ति गुलाम राष्ट्र के शोषण पर ही बढ़ती है। यह आर्थिक शोषण सूक्ष्मदर्शी कवियों को सहज ही दृष्टिगत हुआ और उन्होंने शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई। अंग्रेजों के शोषण के फलस्वरूप देश की दशा आर्थिक दृष्टि से जैसी जर्जर हो गई थी उसका बड़ा करुणाजनक ढंग से वर्णन प्रतापनारायण मिश्र ने 'तृप्यन्ताम' शीर्षक कविता में किया है। यक्षगण अलकापुरी से इधर आये हैं, लेकिन कवि उनका स्वागत कैसे करे जबकि उसकी पूँजी में एक छदाम नहीं है। यदि यक्षगण कुबेर से कुछ ले आये हों तो वे ही भोजन का प्रबन्ध

करें। हाँ, जल, जौ और चावल के कण उसके पास शेष हैं। उन्हीं से वह उनका स्वागत करता है—

अलकापुरी त्यागि इत आये बड़ी दया कीन्ही परनाम।
कछु धनपति ने दियो होम तो भोजन को कीजै इतमाम।
तुम्हें समरपैं कहा, हमारी पूंजी में नहिं एक छदाम।
हाँ यह जल, यह जब, ये तंदुल लेहु यक्षगण तृप्यन्ताम।

आर्थिक पतन का जितना क्षोभपूर्ण, किन्तु मर्मस्पर्शी वर्णन हुआ है, उससे हृदय भर उठता है। कवि की वाणी का तीखापन अंग्रेजी शासन पर करारी चोट करता है। भारतीय भी तिलमिला उठे अपनी स्थिति की भीषणता के कारण।

अंग्रेजों ने भारत का शोषण व्यापार से किया। उसकी ओर भारतेन्दु ने ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—

कल के कलबल छल न सों छले इते के लोग।
नित-नित धन सों घटत हैं बाढ़त है दुख सोग।
मारकीन मलमल बिना चलत नहीं कछु काम।
परदेशी जुलहान कै मानहु भये गुलाम।

राजनीतिक परतंत्रता से कम कष्टकर आर्थिक गुलामी नहीं है। इसलिए भारतेन्दु ने आर्थिक गुलामी के मूलोच्छेद के लिए स्वर उठाया। उन्होंने भारतीय पूँजी की सुरक्षा के लिए उपाय भी ढूंढ़े और वह उपाय था कि विदेश में भारतीय कच्चा माल न भेजा जाय, बल्कि उसका यहीं निर्माण हो जिससे दीनता मिटे। इस प्रकार भारतीय उद्योग की वृद्धि भी होगी—

बनै वस्तु कल की इतै मिटै दीनता भेद।

'मारकीन मलमल बिना चलत कछु नहिं काम ही भारत की आर्थिक दीनता का कारण था और उसके निवारण का मार्ग उन्होंने बताया, यहीं के उद्योगों को प्रश्रय देने का। इस प्रकार आर्थिक गुलामी के प्रति भारतेन्दु ने जेहाद बोल दिया था।

अंग्रेजों के शोषण का बड़ा तीखा और व्यंग्यपूर्ण वर्णन उन्होंने अपनी 'नये जमाने की मुकरी' में की—

भीतर-भीतर सब रस चूसै।
हँसि-हँसि कै तनमन धन मूसै।

जाहिर बातन में अति तेज।
क्यों सखि सज्जन नहिं अंग्रेज ।

अंग्रेजी राज्य के शोषण के इससे अच्छा, तीखा और चुभता हुआ वर्णन शायद ही हो सके। जो लोग भारतेन्दु की राजभक्ति के कारण उनपर संदेह दृष्टि रखते हैं, उसका निवारण अवश्य ही इससे हो जायगा।

अंग्रेजी शासन में शोषण का दूसरा रूप है टैक्स। उन दिनों टैक्सों की ऐसी भरमार थी कि साधारण जन-समूह उससे त्रस्त था। राष्ट्रीयता के गायक कवियों ने टैक्स द्वारा शोषण की नीति का विरोध किया। जनता ने भी अँग्रेजी शासन के रूप को अच्छी तरह पहचान लिया। १८८५ ई० के फागुन-चैत की आनन्दकादम्बिनी के अंक में प्रेमघन ने इन्कम टैक्स की दुस्सहता पर अश्रु अर्घ्य चढ़ाये हैं और उसका विरोध किया है--

रोओ सब मुंह बाय-बाय।
हय-हय टिक्कस हाय-हाय।

भारतेन्दु ने भी टैक्स की आफत से पीड़ित जन-समूह की वेदना की अभिव्यक्ति भारत दुर्दशा में की है—

सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा। हा। भारत दुर्दशा न देखी जाई।

मंहगी और टैक्स की विभीषिका से दीन, श्रीहीन जनता की परवशता का हृदय द्रावक चित्र प्रतापनारायण मिश्र की 'तृप्यन्ताम' कविता में हुआ है। जनता महंगी और टैक्स से पीड़ित है। सागपात भी उन्हें नही मिलता, फिर दूध का नाम लेना व्यर्थ है। तब नाग देवता को कवि दूध कैसे समर्पित करे। गायें भी तो नित्य कटती रहती है। इसलिए सुन्दरी के अलकों की उपमा देकर ही उन्हें कवि ने तुष्ट किया है—

मँहगी और टिकस के मारे हमहिं क्षुधा पीड़ित तन छाम।
साग पात लौं मिलै न जिय भरि लेबो वृथा दूध को नाम।

तुमहिं कहा प्यावैं जब हमरो कटत रहत गोवंश तमाम।
केवल सुमुखि अलक उपमा लहि नाग देवता तृप्यन्ताम।

साम्राज्यवादी शक्ति के शोषण का परिणाम है, आर्थिक दीनता, मंहगी, अकाल। भारत भी इनसे ग्रस्त हुआ। रोगों का विस्तार भी हुआ। भारतवासी इतने निर्धन थे कि उनकी उदर-पूर्ति का भी कोई साधन दृष्टिगत नहीं होता

था। जिन लोगों ने नौकरी पाने की आकांक्षा में अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर बी० ए० की डिग्री ली, अपनी आँखें फोड़ी, उनका भी पेट न भर सका, क्योंकि बेकारी थी। साम्राज्यवाद की शोषण नीति के फलस्वरूप इतनी बेकारी यहाँ व्याप्त थी कि 'तीन बुलाए तेरह आवै' की उक्ति चरितार्थ होती थी—

तीन बुलाए तेरह आवै।
निज-निज बिपता रोइ सुनावैं।
आँखो फूटे भरा न पेट।
क्यों सखि सज्जन नहिं ग्रेजुएट।

इसके फलस्वरूप भारत दुर्दशा ग्रस्त हुआ और उसके पुत्रों का जीवन इतना निकृष्ट हो गया कि वे कुत्तें की तरह दर-दर पेट भरने के लिए घूमते थे। वे उनके पैर चाटते थे जो ठोकर मारता था। इसे बालमुकुन्द गुप्त के शब्दों में सुनें—

पेट भरन हित हाय फिरैं कूकर से दर-दर।
चाटहिं ताके पैर लपकि मारहि जे ठोकर।

गुप्त जी ने भारत की दुरवस्था देखी और उन्हें वह मसान की तरह दीख पडा। भारतवासी प्रेत से डोलते दीख पड़े—

भारत घोर मसान है, तू आप मसानी।
भारतवासी प्रेत से डोलहिं कल्यानी।
हाड़ मांस नर रक्त है भूतन की सेवा।
यहां कहाँ माँ पाइये चन्दन घी मेवा।

वे क्षोभ से भर उठे। उन्होने भगवान से पूछा कि किस कारण स भारत में हाड़ों की चक्की चलती है और हाड़ों का व्यापार होता है—

हरे राम। केहि पाप ते भारत भूमि मझार।
हाड़न की चक्की चलै हाड़न को व्यापार।

अँग्रेजी शासन के अत्याचार का भंडाफोड करते हुए प्रतापनारायण मिश्र ने तीखे व्यंग्य किये। मंहगी और अन्य अत्याचारों के कारण भारत की जो स्थिति हो गई थी, वह मृत्यु के निकट थी। अकाल और मंहगी का विरोध करने वालों पर शासन की बन्दूकें तैयार थी। इस प्रकार कवि ने बताया कि अब तो मृत्यु देवता की तृप्ति की सम्पूर्ण तैयारी हो गई है—

उर्दू पढ़ हुए निलज्ज लाज नहिं आती।
अब देश दुर्दशा देख फटत है छाती।

उर्दू और अंग्रेजी का विरोध करने वाले ये कवि अंग्रेजों से भी माँग करते रहे कि नागरीलिपि और हिन्दी भाषा का व्यवहार अदालतों में हो। राजाश्रय भी हिन्दी को प्राप्त हो, इसके लिए भी कवियों ने माँग की। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने राजाश्रय की आशा प्रकट करते हुए नागरी की प्रशंसा की है—

गुणग्राम की आगरी नागरी
प्रजा की जु सन्मान जो जागरी है।
मिलै ताहि राजाश्रय क्षेमकारी।
यही परियो एक आशा हमारी।

भीषण आन्दोलन एवं उद्योग के फलस्वरूप पश्चिमोत्तर प्रदेश के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर सर ऐन्टनी मैकडानेल ने नागरी प्रवेश की घोषणा की। इसका स्वागत करते हुए राधाकृष्ण दास ने 'मेकडानेल पुष्पांजलि' नामक कविता १८९७ ई० मे लिखी—

धन मेकडानेल लाट प्रजा के दुख निवारे।
कचहरिया लीला सों सबके प्रान उबारे।

+ + +

जब लौं हिन्दू हिन्दी रहै यह शुभ दिनन बिसारि हैं।
मेकडानेल नाम पवित्र यह नित सादर उच्चारि हैं।

भारतेन्दु को हिन्दी की उन्नति प्रिय थी, लेकिन उर्दू भाषा से विरोध नही था। यदि ऐसा होता तो वे उर्दू में क्यों लिखते या उर्दू के शब्दों का प्रयोग क्यों करते ? उर्दू में भी उन्होंने कई चीजें लिखीं। यदि उन्हें विरोध होता तो वे उसका अवश्य ही बहिष्कार करते। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी की उन्नति की समस्या जातीय जीवन की समस्या थी, राष्ट्रीय आन्दोलन का एक मुख्य अग थी।

(आ) **काव्य-कला** –भारतेन्दु युग में जैसे राष्ट्रीय चेतना के आगमन के कारण काव्य के नये विषयों की ओर कवियों का ध्यान गया वैसे ही काव्य-कला में भी नवीन तत्वों का समावेश हुआ और इसमें नयी दिशा की ओर अभियमान किया गया। नवोत्थान की भावना कलापक्ष में भी प्रभावपूर्ण रही और नवीनता का संस्पर्श इसे प्राप्त हुआ।

काव्य-रूप—काव्य के नये रूपों में शोकगीत (Elegy) का प्रयोग भारतेन्दु युग में विशेष हुआ। शोक के कारण मृत्यु, युद्ध आदि होते हैं। भारतेन्दु की मृत्यु पर श्री प्रेमधन ने 'शोकश्रु बिन्दु' नाम से एक शोकगीत की रचना की थी। बालमुकुन्द गुप्त, श्रीधर पाठक आदि ने भी शोक गीतों की रचना की।

शोक-गीत के अतिरिक्त संबोधगीत (ode) की रचना भी भारतेन्दु-युग में हुई। तुकान्त या अतुकान्त कोई भी गीत जिसमें सबोधन किया गया हो, संबोध गीत है। भारतेन्दु द्वारा अनेक अवसरों पर पढ़ी जाने के लिए लिखी कविताओं में सबोधन ही प्रमुख हैं। अतः वैजयन्ती विजयपताका, भारतभिक्षा, भारत वीरत्व, आदि कविताओं में सबोधन गीत शैली का अवलम्बन किया गया है। सानेट की रचना भी इस काल में हुई। श्रीधर पाठक की 'श्रान्त पथिक' में समर्पण रूप में लिखी चौदह पंक्तियों की कविता सानेट के अन्तर्गत ही परिगणित होगी। व्यंग्य काव्य की परम्परा भी इस युग में प्रारभ हुई। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक कुरीतियों के विरोध के लिए व्यग्य काव्य का आश्रय कवियों ने लिया। भारतेन्दु की 'देखी तुमरी काशी', प्रतापनारायण की तृप्यन्ताम, लोकोक्ति शतक आदि व्यग्य काव्य रूप के सफल एवं श्रेष्ठ रूप है।

हिन्दी काव्य में वर्णनात्मक शैली का सूत्रपात भी इस काल में हुआ। आन्तपथिक तथा ऊजड़ ग्राम आदि अनुवाद ग्रन्थों से काव्य में वर्णनात्मक शैली प्रारम्भ हुई। रोमांटिक वर्णनात्मक काव्य का श्रीगणेश भी इसी युग में हुआ।

काव्य के रूप की दिशा में प्राचीनता की ओर भी ध्यान रहा। पदों आदि की जो परम्परा पहले रही उसका भी पूर्णतः त्याग नहीं हुआ।

भाषा-शैली—भारतेन्दु जनवादी एवं राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत थे। इसलिए उन्होने न तो संस्कृत का राग अलापा और न अँग्रेजी और उर्दू को ही तत्कालीन स्वार्थ वश गले लगाया। उन्होंने राष्ट्रीय भावना के फलस्वरूप हिन्दी को अपनाया और खड़ी बोली में कविता लिखनी शुरू की और दूसरों को भी इसे अपनाने की प्रेरणा दी। हिन्दी भाषा की उन्नति के लिए आन्दोलन भी प्रारम्भ किया गया। उर्दू एवं अँग्रेजी का विरोध किये जाने पर भी उनका बहिष्कार इस काल में नहीं हुआ। भारतेन्दु ने नयी चाल में हिन्दी को १८७३ ई० में ढाला न उसे नया रूप दिया।

ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग भी इस काल में हुआ, लेकिन उनकी ओर से कवि उदासीन ही रहे। वे भाषा का नित-नित परिष्कार चाहते थे। खड़ी बोली को बढ़ाने का कार्य इस युग में राष्ट्रीय भावना के कारण हुआ।

छन्द—पुराने छन्दों के साथ नये छन्दों का प्रारम्भ राष्ट्रीय नवोत्थान के फलस्वरूप हुआ। दोहा, रोला, उल्लाला, छप्पय, कवित्त, सवैया आदि के साथ लावनी, होली, कजली आदि लोक जीवन से सम्बद्ध छन्दों का प्रयोग इस काल में हुआ। इस प्रकार काव्य के शिल्पविधान पर भी राष्ट्रीय चेतना का पूरा प्रभाव पड़ा। इस दिशा में भी राष्ट्रीयता ने उन्हें नयी दिशा की ओर अग्रसर किया।

उपसंहार—भारतेन्दु की राष्ट्रीय कविता विभेद तथा असमानता के प्रति क्रिया-स्वरूप उत्पन्न कविता है। काले-गोरे की रंग-भेद-नीति तथा शासक-शासित के बीच आई अनेक असमानताओं ने भारतीय जनता में यह धारणा दृढ़ कर दी कि वे उपेक्षित हैं, पतित हैं, उन्हें यह भी मालूम हुआ कि शासक वर्ग के अधिकार तथा सुविधाएँ उन्हें नहीं प्राप्त हो सकेंगी। इन परिस्थितियों में भारतेन्दु-युगीन राष्ट्रीय कविता का आविर्भाव हुआ।

भारतेन्दु युगीन राष्ट्रीय काव्य ने सबसे पहले शासक-शासित के बीच के विभेद को प्रकट किया और शासित वर्ग में गौरव तथा अधिकार की चेतना उत्पन्न की। इस काल की राष्ट्रीयता ने शासित वर्ग में ऐसी चेतना जगाई कि वह शोषण, असमानता, अत्याचार आदि का विरोधी हो गया। शासित वर्ग में चेतना को आविर्भाव का श्रेय भारतेन्दु को है। उन्होंने अपनी राष्ट्रीय कविताओं में परतन्त्र देश के अनेक दुःखों का करुणापूर्ण वर्णन किया तथा नयी चेतना का आविर्भाव किया।

गौरव तथा अधिकार की भावना से अभिभूत राष्ट्रीय चेतना दो रूपों में इस काल में प्रकट हुई। हीनता की भावना से भरे हृदय में देश एवं जाति के गौरव की भावना जाग्रत हुई। इस भावना के प्रभाव से जातीय जीवन के आदर्शों तथा वीरों की पूजा की गई। हिन्दू संस्कृति को गौरव प्रदान करने वाले अतीत के आदर्शों को श्रद्धापूर्वक स्मरण किया गया और उनके उज्ज्वल चरित्र से अपनी हीनता दूर करने की चेष्टा की गई। इन आदर्शों से उत्थान की प्रेरणा दी गई है।

आदर्श चरित्रों के उपस्थापन तथा वीर-पूजा की भावना के कारण भारतेन्दु युग की राष्ट्रीयता सांस्कृतिक धरातल पर प्रतिष्ठित है। वह हिन्दू गौरव की घोषणा करती है। अतीत के इन आदर्श चरित्रों ने राष्ट्रीय चेतना को उद्दीप्त किया और उत्साह को बहुत शक्ति दिया।

डा० केसरी नारायण शुक्ल स्पष्ट कहते हैं कि 'भारतेन्दु युग के कवि प्राचीन हिन्दू गौरव की ओर संकेत कर देश भक्ति की भावना जागरित करते हैं, ये कवि सबसे पहले हिन्दू हैं। भारतेन्दु युग की राष्ट्रीय कविता में पुनरुत्थान का भाव विशेष रूप से लक्षित होता है। पुनरुत्थान के लिए धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक असंगतियों को दूर करने का प्रयास होता है और इस प्रकार पतित जाति के उत्थान के प्रयत्न होते हैं। इस युग में अतीत के आदर्शों की स्थापना का पुनरुत्थान के प्रेरक बनकर ही आते हैं। इस पुनरुत्थान के लिए ही हिन्दू कवियों ने अपने आदर्शो को ग्रहण किया। वे अन्य आदर्श चरित्रों को नहीं अपना सके, क्योंकि उनके साथ कवियों का न तो सांस्कृतिक और न मनोवैज्ञानिक लगाव था।

इससे प्रकट है कि भारतेन्दु युग के कवियों ने हिन्दू गौरव का गान साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण नही गाया। पुनर्जागरण की प्रेरणा के लिए ये गीत गाये गये। इन गीतों में मुसलमानों का कही विरोध नही है और न साम्प्रदायिकता को उभरने का ही अवसर दिया गया है।

इतना स्पष्ट है कि इस युग की पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीयता एकांगी है, क्योंकि वह सांस्कृतिक धरातल पर एक जाति विशेष के गौरव को ही जाग्रत करती है। उसमें हिन्दू भाव है, किन्तु साम्प्रदायिकता नही।

अतीत के गौरव तथा मातृ-भूमि के प्रति पूज्य भाव को व्यक्त करने वाली सांस्कृतिक राष्ट्रीय कविता वर्तमान जीवन को भी अपनाती है। इस युग के कवियों ने युग का यथार्थ रूप देखा और उसकी यथा-तथ्य अभिव्यक्ति बड़े करुणामय ढंग से की है। इस तरह भारतेन्दु युग की कविता में यथार्थवादी दृष्टिकोण की प्रमुखता है। इस यथार्थ दृष्टि के कारण स्थूल जीवन की सामयिकता का प्रभाव राष्ट्रीय कविता पर पड़ा। युग के यथार्थ रूप की अभिव्यक्ति में भारतेन्दु युग की कविता विशेष निपुण है।

यथार्थवाद के निरूपण क्रम में राष्ट्रीय कविता ने सामाजिक रूढ़ियों के उन्मूलन की प्रेरणा दी सामाजिक जीवन की अनेक विषमताओं की ओर ध्यान जाते ही भारतेन्दु युग के कवियों का ध्यान आर्थिक विषमता की ओर, शोषण की ओर चला जाता था। इसलिए उन्होंने सामाजिक जीवन के उत्थान के लिए भी आर्थिक उन्नयन की माँग की। यह भी कहा जा सकता है कि इस युग के काव्य में आर्थिक शोषण, आर्थिक विषमता तथा उसके निवारण के उपाय विशेष रूप से लक्षित होते हैं। मध्यम वर्ग ने अपने जन्म के बाद व्यापार को ही जीविका का साधन बना लिया था। इसलिए उसने आर्थिक

शोषण दूर करने, औद्योगीकरण, सम्पन्नता आदि की माँगे विशेष रूप से प्रकट कीं।

भारतेन्दु युग की राष्ट्रीयता संघर्ष की राष्ट्रीयता नहीं है। वह समझौता-वादी राष्ट्रीयता है। इसलिए वह विरोधी स्थितियों से भी समझौता कर उन्हें अपने साथ लेकर चलना चाहती है। वह राष्ट्रीय भावना अनेक विरोधों के संयोग पर आधारित है। डा० केसरी नारायण शुक्ल ने भी कहा कि 'इसलिए यदि हम चाहें तो भारतेन्दु युग के साहित्यकारों को सामंजस्यवादी कह सकते हैं। यह सामंजस्यवाद उनके जीवन की मूल विशेषता है। उन्होंने राजनीतिक दृष्टि से राजभक्ति और देशभक्ति दोनों की कविताएँ रची। सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में नवीनता एवं प्राचीनता का सामंजस्य भी दृष्टिगत होता है। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में जहाँ हिन्दू भावना की प्रमुखता थी, वहाँ उदार राष्ट्रीयता का भी उसमें संयोग था, जो सम्पूर्ण जन-जीवन का कल्याण चाहती थी।

आलोच्यकाल की राष्ट्रीय चेतना में संघर्ष की भावना नहीं थी, आक्रामक या आन्दोलनात्मक तीव्रता नहीं थी। उसमे निवेदन का जोर था इसलिए राजनीतिक अधिकारों की जोरदार माँग उसमें नही है। यह सुधार की आकांक्षा रखने वाली राष्ट्रीयता है। यह दृष्टि तत्कालीन परिस्थितियों के कारण थी। केवल हिन्दी कवि ही नही, सम्पूर्ण जन-वर्ग ही इन भावनाओं से ओत-प्रोत था।

इन तथ्यों से यह प्रकट है कि भारतेन्दु युग की कविता में राजनीतिक उग्रता नहीं है। सामंजस्य का संयोग इसमें है। इसलिए यह क्रान्ति तो नहीं कर सकी, लेकिन क्रान्ति की पृष्ठ-भूमि इसने प्रस्तुत कर दी।

पंचम अध्याय

द्विवेदी-युग (१९०१ ई०-१९१९ ई०)

काल सीमा का निर्धारण-युक्तियाँ-नामकरण

हिन्दी साहित्य में १९०० ई० के आस-पास से लगभग १९२० ई० तक के काल को द्विवेदी-युग माना जाता है। इस काल मे काव्य के बहिरंग में क्रान्ति हुई और ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली को काव्य भाषा के रूप में ग्रहण किया गया। इस क्रान्ति-यज्ञ के पुरोधा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। इसलिए उनके नाम पर इस युग का नामकरण हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में १९०१ ई० से १९१९ ई० तक के काल को द्विवेदी-युग के अन्तर्गत माना गया है। यह काल राष्ट्रीय जागरण की दृष्टि से भी अपना अलग अस्तित्व एव महत्व रखता है। भारतेन्दु युगीन शासन-सुधार की माँग करनेवाली राष्ट्रीय चेतना इस अवधि में स्वशासन की अधिकार-घोषणा करने लगी। राष्ट्रीय चेतना का सम्बन्ध इस युग मे जनता से हुआ। वह जागरूक हुई और क्रान्ति की लपटें त्वरित गति से बढने लगी। इसका श्रेय, बहुत अधिक श्रेय, लार्ड कर्जन को है। उनके भारत विरोधी कार्यों ने राष्ट्रीय चेतना को बहुमुखी विकास प्रदान किया। मैकडोनाल्ड ने ठीक ही कहा है कि 'यदि कोई एक आदमी वर्तमान अराजकतावाद के लिए जो भारत मे अपना सिर उठा रहा है, उत्तरदायी है तो लार्ड कर्जन हैं।' उनका कार्यकाल १९०१ ई० के आस-पास से प्रारम्भ होता है। इसलिए राष्ट्रीय चेतना के विकास की दृष्टि से १९०१ ई० को इस काल का प्रारम्भ बिन्दु माना गया है। १९२० ई० से गांधी का अवतरण भारतीय राजनीति तथा राष्ट्रीय चेतना के क्षेत्र में होता है। उन्होंने सत्य-अहिंसा की नूतन पद्धति पर राष्ट्रीय भावना को विकसित किया, उसे नया तेज प्रदना किया। इसलिए इन दोनों वर्षों के बीच की अवधि (१९०१ ई० से १९१९ ई० तक) में राष्ट्रीय भावना एक विशिष्ट प्रवृत्ति की संवाहिका रही है। इसलिए प्रस्तुत प्रबन्ध में द्विवेदी युग अध्याय के अन्तर्गत इस प्रवृत्ति-विशेष का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

इस युग में विशेष सुधारों का जोर रहा। द्विवेदी जी भी भाषा के साथ जीवन के अन्य क्षेत्रों में सुधार कर मर्यादा की स्थापना करना चाहते थे। उन

पर आर्य-समाज का सुधारवाद हावी रहा। राष्ट्रीय क्षेत्र में तिलक का प्रभाव इसके उत्तरार्द्ध में रहा। इसलिए राष्ट्रीय काव्य पर पड़ने वाले प्रभाव की दृष्टि से इस युग का नामकरण दयानन्द युग अथवा **तिलयुग** किया जा सकता है, लेकिन हिन्दी साहित्येतिहास में प्रचलित द्विवेदी-युग नाम ही यहाँ गृहीत है, जिससे वस्तु-प्रतिपादन में व्यवधान न हो।

(क) परिस्थिति

राजनीतिक—आलोच्यकाल में देश की सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस में महान् क्रान्ति के लक्षण दीख पड़ने लगे। १९वीं शताब्दी तक उसका उद्देश्य भारतीय हित के लिए शासन-सुधार की माँग करना था, किन्तु इस काल में कांग्रेस का उद्देश्य 'स्वशासन' हुआ। पहले कुछ पढ़े-लिखे लोगों का ही सहयोग उसमें था और इसीलिए वह 'आराम कुर्सी की राजनीति' का आलम्बन किये रही, किन्तु इस काल में उसका सम्बन्ध मध्यमवर्ग और जनता से हुआ। इसलिए वह निरंतर जनप्रिय होती गई। इस काल में कांग्रेस अँग्रेजी शासन की दया-दृष्टि की भिखारिणी नहीं, वरन् अधिकार की माँग करने वाली मालकिन बन बैठी। फलतः सरकार की कांग्रेस में सहयोग करने की नीति दमन नीति में परिवर्तित हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय चेतना बढ़ने लगी।

इस काल की सर्वप्रमुख एवं राष्ट्रीयता को बल देनेवाली घटना है बंग-भग। १९०५ ई० में लार्ड कर्जन ने बंगाली भाषा-भाषी जनता को दो हिस्सों में बाँट दिया। फलस्वरूप सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीय आन्दोलन व्यापक रूप में फैल गया। इसमें जनता का भी सहयोग पूर्ण रूप से रहा। जुलूस, सभा, प्रदर्शन आदि का दौर दौरा था। सरकार ने भी दमन की नीति का आलम्वन किया। ज्यों–ज्यों सरकार की उग्रता एवं नग्नता बढ़ती गयी राष्ट्रीय आन्दोलन की जड़ मजबूत होती गई। डा० सीतारामय्या ने कांग्रेस के इतिहास में ठीक ही लिखा है कि 'दमन नीति से पोषण पाकर राष्ट्रीय उत्थान उलटा बढने लगा।' इस घटना ने राष्ट्रीय-चेतना को इतना तेज कर दिया कि उससे प्रसन्नता प्रकट करते हुए श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लार्ड कर्जन के सम्बन्ध में लिखा था—

'उन्होंने राष्ट्रीय जीवन की नींव विस्तृत एवं गहरी डाली, उन्होंने उन शक्तियों को उत्तेजित किया जो राष्ट्रों के निर्माण में सहायक होती हैं, उन्होंने हमें एक राष्ट्र बनाया।'

१९०६ ई० के कलकत्ता अधिवेशन में कांग्रेस के अध्यक्ष दादा भाई नौरोजी ने स्वराज्य का प्रस्ताव प्रथम बार उपस्थित किया। अक्तूबर १९०६ ई० में

भारतीय मुसलमानों का एक प्रतिनिधि-मंडल तत्कालीन वायसराय से मिला और उसने आगामी सुधारों में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की जोरदार माँग की। लार्ड कर्जन ने ढाका के नवाब सलीमुल्लाह खां को कम सूद पर एक लाख पौण्ड कर्ज दिया था। उन्होने ही ३० दिसम्बर १६०६ ई० को मुस्लिम लीग की स्थापना की। इस वर्ष एक और महत्वपूर्ण कार्य हुआ। कांग्रेस ने प्रस्ताव पास करने की अपेक्षा इस वर्ष स्वदेशी आन्दोलन की ओर विशेष ध्यान दिया और इस प्रकार उसमें क्रियाशीलता का सयोग हुआ।

स्वदेशी आन्दोलन तथा अन्य आतंकवादी कार्यो का स्वर मन्द करने के लिए सरकार ने भारत के शासन में सुधार करना आवश्यक समझा और १६०६ ई० में मार्लो मिन्टो सुधार योजना का परीक्षण आरम्भ हुआ। इसके पूर्व भारतीय कांग्रेस में उदारवादियों (नरमदल) का ही प्राधान्य था और उनके हाथ में ही कांग्रेस का सूत्र था। इस सुधार से नरम दल वाले संतुष्ट हुए। इसके द्वारा मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन प्रणाली का अधिकार दिया गया था।

१६१० ई० में पंचमजार्ज ब्रिटेन के सिंहासन पर आसीन हुए। उनके राज्यारोहण के उपलक्ष में १६११ ई० में दिल्ली में विशाल दरबार हुआ। उसमें राष्ट्र के कोने-कोने से राजा-महाराजा एकत्र हुए और सम्राट् का स्वागत कर उनके प्रति अपनी राजभक्ति प्रकट की। सम्राट् ने इस दरबार में बंगाल को अखण्ड रखने की घोषणा की, जिससे जन-समूह में प्रसन्नता का उदय हुआ। इसे जनता ने आन्दोलन की विजय माना। १६१३ ई० में मुस्लिम लीग ने भी स्वशासन अपना लक्ष्य बनाया और वह कांग्रेस के निकट आती गई।

१६१४ ई० में संसार व्यापी महायुद्ध प्रारम्भ हुआ, जिसमें विश्व के प्राय: सभी राष्ट्रों को प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षत: सम्मिलित होना पडा। इस घटना ने भारत को राजनीतिक परिस्थिति को भी प्रभावित किया। भारत का सम्बन्ध महायुद्ध से प्रत्यक्ष रूप से नहीं था, किन्तु ब्रिटिश शासित होने के कारण उसे युद्ध में शामिल होना पडा। इसी वर्ष लन्दन में श्रीमती एनीबेसेन्ट ने होमरुल लीग की स्थापना की। उन्होने भारतीय जागरण के संदेशवाहक रूप में कार्य करने का निश्चय किया। अपने उद्देश्य की घोषणा करते हुए उन्होंने कहा, 'मैं सभी सोने वालों को जगाने वाला भारतीय टमटम हूँ, जिससे वे जगें और अपनी मातृभूमि के लिए काम करें।'

१६१६ ई० का महत्व इस काल की राजनीतिक घटनाओं में विशेष रूप से है। १६१५ ई० में गोखले और फिरोजशाह मेहता के निधन के पश्चात् नरम-

दल का प्रभाव मन्द हो गया और कांग्रेस गरम दल वालों के हाथ में आने लगी। १६१६ ई० में इसी वर्ष पूना में श्रीमती बेसेन्ट ने होमरुल लीग की स्थापना की। कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के पृथक् प्रतिनिधित्व के अधिकार को स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप १६१६ ई० में दोनों संस्थाओं का संयुक्त अधिवेशन लखनऊ में हुआ और हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द की भावना का विकास हुआ।

होमरुल लीग की आवाज देश के कोने-कोने तक पहुँच गई और सर्वत्र लीग की शाखाएँ खुलने लगीं। जिन्ना, लाला लाजपत राय तथा तिलक का सहयोग भी उसे प्राप्त हुआ। १६१७ ई० में मद्रास में लीग की स्थापना की गई। भारत में बढ़ती हुई चेतना को दबाने के लिए सरकार ने दमन-नीति का आश्रय लिया। लीग की संस्थापिका श्रीमती बेसेन्ट के पत्रों से जमानतें माँगी गईं।

देश में बढ़ती हुई जागरूकता को दबाने के लिए भारतीय शासन में पुनः सुधार की अपेक्षा हुई और १६१७ ई० के नवम्बर महीने में मांटेग्यू साहब का आगमन हुआ। सन् १६१५ में गांधी जी अफ्रीका से विजयी सेनानी के रूप में भारत लौटे। प्रारम्भ में तो उन्होंने कांग्रेस से अलग ही अपने को रखा। पर १६१६ ई० के अन्त में उन्होंने फीजी की 'गिरमिट प्रथा' को बन्द कर देने के लिए व्यक्तिगत सत्याग्रह की चुनौती दी। १६१७ ई० में वायसराय ने यह घोषणा की कि यह प्रथा बन्द कर दी गई।

मांटफोर्ड योजना का प्रकाशन १६१८ ई० में हुआ। इससे कांग्रेस के नरम और गरम दल का मतभेद और भी बढ़ गया। नरम दल वाले इस सुधार से संतुष्ट थे, किन्तु गरम दल वाले उन सुधारों को पर्याप्त नही समझते थे और सरकार के साथ सहयोग करने को तैयार नहीं थे। अंग्रेजों ने इसके अनुसार यह मान तो लिया था कि भारत को उत्तरदायी शासन प्राप्त करना है, लेकिन उसे योग्य बनाने के लिए यह जरूरी था कि उन्हें शासन-सूत्र संचालन की शिक्षा दी जाय। इसलिए शासन-व्यवस्था में उनके प्रतिनिधित्व की योजना की गई।

६ फरवरी, १६१६ को विलियम बेसेन्ट ने कौन्सिल में रौल्ट बिलों को पेश किया। पहला बिल पास हुआ और दूसरे को वापस ले लिया गया। गाँधी जी ने घोषणा की कि यदि रौलट कमीशन की सिफारिशें कानून का रूप ग्रहण करेंगी तो वे नम्रतापूर्वक इसका विरोध करेंगे। ३० मार्च, १६१६ की तिथि हड़ताल के लिए निश्चित हुई। किन्तु कारणवश उस तिथि को बदल

कर ६ अप्रैल कर दिया गया। दिल्ली में इस तिथि-परिवर्तन की सूचना उचित समय पर न पहुँच सकी और वहाँ उसी दिन हड़ताल हुई। सरकार दमन करने पर तुली हुई थी। इधर जनता में भी उत्तेजना बढ़ गई। फलस्वरूप कई स्थानों पर गोलियाँ चली।

पंजाब में इन आन्दोलनों के फलस्वरूप एक महान् ऐतिहासिक घटना हुई, जो राष्ट्रीयता के इतिहास में अमर रहेगी। पंजाब का निरंकुश शासक ओडायर नही चाहता था कि उसके प्रान्त में भी आन्दोलन फैले। इसलिए उसने बेरहमी से दमन करना शुरू किया। इस क्रम में १० अप्रैल, १९१९ को डा० किचल और सत्यपाल को गिरफ्तार कर अज्ञात स्थानों में भेज दिया गया। इस घटना से प्रान्त भर में सनसनी फैल गई, और जनता ने सरकारी कदम के प्रतिरोध में १३ अप्रैल, १९१९ को अमृतसर के जलियांवाला बाग में महान् सभा की। इसमें २० हजार स्त्री-पुरुष और बच्चे शामिल हुए। उस जन जागृति को ओडायर की सरकार कैसे बर्दाश्त कर सकती थी। उसने भी दमन का निश्चय किया और जनरल डायर भीड़ को तितर-बितर करने के लिए भेजा गया। किन्तु डायर ने वहाँ पहुँचते ही गोली चलाने की आज्ञा दे दी। अनेक स्त्री, पुरुष एवं बच्चे बेरहमी से मौत के घाट उतारे गये। मृत एवं घायल व्यक्ति रात भर बाग मे पड़े रहे। इस समय बेंत लगाने, पेट के बल रेंग कर चलने, पानी और बिजली बन्द करने, मुकदमा चलाने आदि के अमानुषिक कार्य दमन-नीति के अन्तर्गत हुए। ५ गवर्नर ओडायर ने जनरल डायर के कार्य की सराहना की। गुजरानवाला, कसूर और शेखपुरा में भी इसी तरह के अमानुषिक अत्याचार हुए।

गाँधी जी ने इन घटनाओं के प्रति क्षोभ प्रकट किया और अपनी भूल स्वीकार करते हुए सत्याग्रह को वापस ले लिया। वे शान्ति स्थापना के लिए सरकार को सहायता देने को तैयार हुए। सितम्बर १९१९ में पंजाब के उपद्रव की जाँच के लिए हण्टर कमीशन की नियुक्ति हुई। इसी वर्ष १८ सितम्बर को इनडेम्निटी मिल आया। श्रीमती बेसेन्ट का मन भी इन दुर्घटनाओं से दुःखी हुआ और उन्होने देश को बताया कि रौलट बिल में ऐसी कोई चीज नही थी जो ईमानदार नागरिक को अनुचित लगे। उनके अनुसार 'लोग जब भीड़ पर रोड़े बरसायेगे तो गोली की आज्ञा देना अधिक दयापूर्ण है'। 'श्रीमती बेसेण्ट के इस रूख से भारतीय जनता के हृदय में उनके लिए कोई स्थान नहीं रहा था और उनकी लोकप्रियता नष्ट हो गई। कांग्रेस ने मालवीय जी तथा मोतीलाल नेहरू को पंजाब काण्ड की जाँच के लिए नियुक्त किया।

इसी वर्ष भारत का एक शिष्ट मंडल इंग्लैंड गया। वहाँ के मजदूर दल ने उसका स्वागत किया। शिष्ट मण्डल ने माँग की कि मिस्र और आयरलैण्ड की तरह भारत को भी आत्म-निर्णय का अधिकार मिलना चाहिये।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति हो गई थी और भारत को यह आशा थी कि अंग्रेजों की सहायता करने के पुरस्कार स्वरूप आत्म-निर्णय का अधिकार दिया जायगा। मगर ऐसा नहीं हुआ। मात्र सुधारों के द्वारा ही भारतीयों को तुष्ट करने की चेष्टा की गई।

आलोच्यकाल में विभिन्न राजनीतिक परिस्थितियों के कारण आतंकवादी कार्यों एव साम्प्रदायिक भावना का भी उदय हुआ। आतकवादी कार्यों के उदय के सम्बन्ध में वेलेन्टाइन शिरोल का मत है कि यह कट्टर हिन्दुत्व की भावना से प्रेरित हुआ था और विशेषत: यह पश्चिम के प्रति ब्राह्मणवादी प्रतिक्रिया था। उनके अनुसार ब्रह्मणवाद दक्षिण में भीषण रूप से सैनिक भाव लिए हुए था और तिलक उसके विजयी नेता थे।

गैरेट इस मान्यता को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि यह कट्टर हिन्दुओं का ब्रिटिश राज्य उलटने का षड्यन्त्र नही था, क्योंकि उसके नेता ब्राह्मणेतर भी थे। लाला लाजपतराय की दृष्टि मे आतंकवादी आन्दोलन के सूत्रपात का कारण स्वतंत्रता की प्रेरणा है। कांग्रेस की असफलता के फलस्वरूप आतंकवाद का जन्म भारतीय राष्ट्रीय जीवन में हुआ। कांग्रेस उन दिनों उग्र राजनीतिज्ञो और नवयुवको को क्रान्ति विरोधी सस्था ही प्रतीत हुई, क्योंकि वह अहिंसात्मक ढग से बहिष्कार आन्दोलन का नेतृत्व करने को भी तैयार नही थी। आतंकवाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लाला लाजपतराय की यह मान्यता सही है। गैरेट के कथन से शिरोल के मत का स्पष्ट ही खण्डन हो गया है। किन्तु एक बात स्पष्ट है कि उसमें धार्मिक भावना अवश्य थी और हिन्दुत्व की यह भावना पुनरुत्थानवादी थी।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास मे जिस उग्रता और आतकवाद के दर्शन होते है वह धार्मिक पुनरुत्थान भावना से प्रेरित रही है। भारतीय राष्ट्रीयता की एक अभूतपूर्व विशेषता रही है और वह है राजनीति के साथ धर्म का सहयोग तथा देशभक्ति के साथ साम्प्रदायिकता का मिश्रण। लाल-बाल-पाल (लाला लाजपतराय, बाल गगाधर तिलक और विपिनचन्द्र पाल) तथा अरविन्द देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत थे। उन्हें स्वदेश की वस्तुएँ ही प्यारी थी। विदेशी शासन, विदेशी वस्तु तथा अंग्रेजी शिक्षा के प्रति उनके मन में अपार एवं तीव्र घृणा थी। उनकी राष्ट्रीयता ने

हिन्दू धर्म के अक्षय प्रकाश से प्रेरणा ली। तिलक ने केवल अंग्रेजी शासन का ही विरोध नही किया, वरन् इस्लाम एवं ईसाई धर्मों का भी विरोध किया।

अरविन्द ने प्राचीन शक्ति-पूजा को पुनर्जीवित किया और हिन्दू पूजा के रूपों एवं प्रतीकों को राजनीतिक व्यंजना दी। काली भारत माता के रूप में मानी गई, जो वेदना के काले आवरण में ढंकी हैं, निर्धन हैं तथा वस्त्रहीन हैं। किन्तु दुःख की गहरी छाया से ढंकी भारत माता रूप में काली नरमुण्डों की माला धारण किए हुए हैं, जिससे खून की बूदें टपक रही हैं। ये मुण्ड उसके ही उन पुत्रों के हैं जिन्होंने अकाल एवं अत्याचार में प्राण गंवाये हैं। अरविन्द ने कहा कि हमारे सभी आन्दोलनों में स्वतंत्रता ही जीवन का लक्ष्य है और हिन्दुत्व हमारी इस अभिलाषा की पूर्ति कर सकेगा। उनके अनुसार राष्ट्रीयता एक धर्म है जो ईश्वर से अवतरित है।

आलोच्यकाल में आतंकवादी कार्यों में इतनी तेजी से प्रगति हुई कि इस आन्दोलन को जैसा श्रीमती बेसेन्ट ने 'हाउ इण्डिया राट फार फ्रीडम' में कहा, नहीं कहा जा सकता था। उन्होंने कहा था कि यह उन बच्चों का पागल प्रयत्न है, जो कुछ बेकार अपराधों के द्वारा अपनी मातृ-भूमि की स्वतंत्रता पाने का सपना देख रहे हैं।

वह राष्ट्र जो अत्याचारी शासक के चरणों पर लुंठित रहता है तथा अत्याचारों एवं क्रूरताओं का मूक रूप से सहन करता है, अफीमचित्रों अथवा नरकंककालों का राष्ट्र है। भारत में ऐसी स्थिति नहीं थी। इसलिए क्रान्तिकारी कार्यों द्वारा अत्याचारों एवं गुलामी का जोरदार विरोध किया गया। इससे ब्रिटिश सत्ता निःसंदेह बौखला उठी। आतंकवादियों ने सरकार के विरोध में युद्ध छेड़ दिया।

आतंकवादियों का संगठन विशेषतः बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब में हुआ। बंगाल के आतंकवादियों की गीता 'मुक्ति कौन पथे' नामक पुस्तक थी। वे लोग वेदान्त अथवा माता सम्प्रदाय को मानने वाले थे। वेदान्ती भागवान कृष्ण द्वारा गीता में प्रचारित संदेशों और विवेकानन्द के लेखों और वक्तव्यों से प्रेरित थे। वे एक हाथ में बम और दूसरे हाथ में गीता लेकर मातृभूमि को मुक्ति प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील थे। माता सम्प्रदाय के आतंकवादी दुर्गा को माता का प्रतीक मानते थे तथा श्वेत राक्षसों को, जो भारत पुत्रों पर अत्याचार कर रहे थे तथा उनकी संस्कृति और धर्म को नष्ट कर रहे थे, मिटा देने की प्रेरणा ले रहे थे।

महाराष्ट्र के आतंकवादियों के नेता तिलक तथा पंजाबियों के लाला हरदयाल थे। वे सरकारी खजाने लूटने तथा सरकारी सम्पत्ति नष्ट करने का आन्दोलन चलाते थे। वे व्यक्तिगत डकैतियों में नही, वल्कि राजनीतिक डकैतियों में विश्वास करते थे तथा अत्याचारी शासकों को मौत के घाट उतारने के कार्य में संलग्न रहे। पंजाब के क्रान्तिकारी डकैतियों और हत्या के अलावा फौज को अपने पक्ष में मिलाकर विद्रोह करना चाहते थे तथा गुरिल्ला युद्ध छेड़ने के हिमायती थे।

वंगभंग तथा स्वदेशी आन्दोलन की जो लहर देश भर में व्याप्त हो गई थी, उसके प्रभाव से नवयुवकों में जागृति आई और उन्होंने मातृ-भूमि की मुक्ति के लिए आतंकवादियों तथा हिंसात्मक कार्यों का आश्रय लिया। वे यह मानते थे कि कॉंग्रेस के सुधारवादी कदमों से भारत की स्वतंत्रता संभव नही है। 'पुरानी राष्ट्रीयता डरपोक, हिचकिचाने वाली, गणना करने वाली, हानि-लाभ का सतुलन करने वाली थी और सांसारिक विचारों, दूरदर्शिता तथा स्वार्थ स बाधित थी। इसलिए वह कोई प्रभाव उत्पन्न करने में असफल हो गई। इसलिए अराजकतावादी दृष्टिकोण से प्रभावित युवकों ने सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा देश के उद्धार के लिए अभियान किया। १९०८ ई० में खुदी राम बोस ने मुजफ्फरपुर में जिला जज पर बम चलाया। संयोगवश उससे दूसरे अँग्रेज की मौत हुई। खुदी राम को इस अपराध के लिए फांसी दे दी गई। दमन एव अत्याचार के फलस्वरूप उत्पन्न आतंकवाद का विकास होता गया। श्याम जी कृष्ण वर्मा और विनायक राव सावरकर ने गुप्त षड्यंत्र का संगठन शुरू किया। १९१० और १९११ ई० में बंगाल, महाराष्ट्र और मध्य-भारत में क्रान्ति के अनेक विस्फोट हुए। सरकार को मिटाने के लिए भारत के क्रान्तिकारियों ने इटली एवं रूस की तरह गुप्त रूप से संगठन शुरू किया। लाला हरदयाल ने अमेरिका में गदर पार्टी की स्थापना की। इस दिशा में राजा महेन्द्र प्रताप ने भी काम किया। उनका सम्बन्ध रूस के बस बालेशेविकों से भी हुआ था।

आतंकवादी विचारधारा का विशेष प्रभाव भारत पर नहीं पड़ा। इस आन्दोलन में भारत की जनता अत्यल्प परिमाण में सम्मिलित थी। अहिंसात्मक कार्रवाई से भारतीय चेतना का योग होने के कारण उन्हें अधिक समर्थन तो नही मिला, लेकिन देशभक्ति जनता उनके विरुद्ध कोई काम नहीं करना चाहती थी। उच्च वर्ग के लोगों को इसका समर्थन नहीं प्राप्त था, क्योकि वे बम-सम्प्रदाय से अत्यधिक भयभीत हो गये थे। सरकार ने भी आतंकवादियों का दमन बड़ी

बेरहमी से किया। अनेक क्रान्तिकारी फांसी पर लटका दिये गये। इस काल में आतंकवादी कार्यों की बाढ़ से भयभीत होकर सरकार ने १९१९ ई० में रौलट ऐक्ट पास किया। ये आतंकवादी देशभक्ति की उत्कट भावना से प्रेरित थे। ये अँग्रेजों की कृपा से अधिकार प्राप्त करने के समर्थक नहीं थे, ये अपनी मुक्ति स्वयं करना चाहते थे। केन्द्रीय संगठन न होने के कारण उपर्युक्त परिस्थितियों में आतङ्कवाद को विशेष सफलता नही मिली।

इन घरेलू राजनीतिक परिस्थितियों के बावजूद कुछ विदेशी परिस्थितियों ने भी भारत की राष्ट्रीयता को तीव्र किया। पहली घटना १९०४ ई० मे रूस पर एशियाई देश जापान की विजय है। इस प्रेरणा ने देश के राष्ट्रीय जीवन में अद्भुत शक्ति का संचार किया। सम्पूर्ण देश नयी जागृति से कर्ममय हो उठा। इस क्रियाशीलता का रूप बंग-भंग वाले आन्दोलन तथा परवर्ती काल की घटनाओं में देखा जा सकता है। दूसरी घटना १९०७ ई० में रूस की जारशाही को समाप्त कर वहाँ किसानों और मजदूरों की गणराज्य स्थापना है। इससे भी राष्ट्रीय चेतना को शक्ति मिली। भारत के किसानों और मजदूरों में भी चेतना का प्रकाश फैला और वे मुक्ति के लिए प्रयत्नशील हुए। इस प्रकार दिनानुदिन देश में अधिकाधिक जागृति होती गई और राष्ट्रीयता जन-सम्पर्क से पुष्ट एवं क्रियाशील होती गई।

अफ्रीका में महात्मा गांधी ने अपने सत्य-अहिंसा के सिद्धान्त का सफल प्रयोग किया और वहाँ के गोरों पर अभूतपूर्व विजय पाकर १९१५ ई० में वे स्वदेश आये। उनकी इस विजय से भारतीय राजनीतिक आन्दोलन सबल हुआ संपूर्णतः देशी एवं विदेशी घटनाओं के प्रकाश में भारतेन्दु युग की अपेक्षा राजनीतिक जीवन में अधिक क्रियात्मकता और शक्ति आती गई।

प्रथम महायुद्ध से भारत की भूमि का कोई सम्पर्क नही था। अतः इसे भी विदेशी घटना हो मानना उपयुक्त होगा। इस युद्ध में भारत ने ब्रिटेन का सहयोग किया, किन्तु इसके बावजूद उसे स्वतत्रता नही दी गयी। आत्म-निर्णय के अधिकार की माँग प्रथम महासमर की आग से ही पैदा हुई थी, जिसकी ओर भारतीय जनता का ध्यान गया। 'विश्वयुद्ध ने विश्व भर के लोगों का हृदय तथा मस्तिष्क जनतंत्र के नये दृष्टिकोण के प्रति खोल दिया था।'

सामाजिक—राजनीतिक दिशा में आलोच्यकाल में जिस प्रकार क्रान्तिकारी कदम उठाये गये सामाजिक क्षेत्र में भी युगान्तरकारी क्रान्ति भावना जाग्रत हुई। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे सामाजिक खोखलेपन के कारण ब्रह्म समाज और आर्य समाज ने उसके पुनरुत्थान की जो पुकार की थी, उसको इस काल

में बहुत बल मिला। इसका कारण यह था कि अब समाज के मस्तिष्क को अपनी रुग्णता का ज्ञान हो उठा था और उसे मिटाने की बलवती इच्छा उसमें जाग पड़ी थी। पाश्चात्य शिक्षा ने अनेक भारतवासियों को सामाजिक जड़ता का बोध कराया और इस दिशा मे परिवर्तन के लिए कदम बढ़ चले। सुधार की पुकारों तक ही भारतीय जनता का ध्यान नही था, बल्कि वे इस दिशा में गतिशील भी हुए। भारतेन्दु युगीन कवियों की सुधारवादी रचनाओं ने भी उन्हें अद्भुत प्रेरणा दी थी।

पुनरुत्थान और अभ्युत्थान की नयी चेतना ने नये सामाजिक मूल्यों को जन्म दिया। फलस्वरूप देश के सामाजिक जीवन को जड़ता-प्रदान करने वाली मान्यताओं पर आघात हुआ और वे खण्ड-खण्ड होकर टूटने लगीं। आर्य-समाज ने विधवा-विवाह, अछूतोद्धार आदि की घोषणा की और भारतीय जनता का ध्यान इस दिशा की ओर गया। इस दिशा में लगाये गये बन्धन टूटने लगे और सामाजिक विद्रोह की प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी।

आलस्य, दंभ, फूट, व्यभिचार, विलास, दुराचार आदि को सामाजिक जीवन की जर्जरता का कारण मानकर उनके त्याग की ओर लोग प्रवृत्त हुए। देश को इस काल में कर्मण्यता की आवश्यकता थी। इसलिए राजनीतिक क्षेत्र में व्याप्त कर्मण्यता का विकास सामाजिक दिशा में भी हुआ। जाति-पाँति के बन्धन ढीले हुए और हरिजनों को अपनाने की ओर लोगों का ध्यान गया। फूट को देश के पतन का कारण मानकर उसे दूर करने की ओर भी प्रवृत्ति हुई।

इस काल की महान् सामाजिक अभ्युत्थान की भावना नारी-जागरण में दीख पड़ती है। सामाजिक दृष्टि से हीन भारतीय स्त्रियों में भी जागृति आई और उनके संगठन हुए। शिक्षा, राजनीति आदि क्षेत्रों में नारियों ने सक्रिय सहयोग देना प्रारंभ किया। उनमें समानता की भावना का जन्म एवं विकास भी हुआ। किन्तु इस क्षेत्र में पाश्चात्य प्रवृत्तियों को पूर्णतः ग्रहण नही किया गया। गुलामी के बन्धनों को तोड़ने की आकांक्षिणी नारियाँ क्रान्ति कुमारियाँ बनीं। स्वदेशी आन्दोलन तथा सत्याग्रह आन्दोलन जैसे कार्यों में भी उन्होंने पुरुषों के साथ कार्य किए। इस प्रकार सामाजिक अधिकारों को समझने और ग्रहण करने की अभिलाषा से प्रेरित नारी-जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन एव क्रियाशीलता दृष्टिगत होती है।

कूप मंडूकता की भावना का ह्रास भी इस युग की महत्वपूर्ण सामाजिक क्रान्ति है। समुद्र पार कर विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने का विरोध उच्च वर्णों

द्वारा प्रारम्भ से ही होता आ रहा था। आर्य समाज आदि सामाजिक सुधार करने वाली सस्थाओं ने इस कार्य की निन्दा कर भारतीयों को कूप-मंडूकता त्यागने का उपदेश दिया था। उसका प्रभाव यह हुआ कि अनेक भारतीय उच्च शिक्षा के निमित विदेश गये। धीरे-धीरे यह बन्धन ढीला होता गया।

आलोच्यकाल मे जनवादी चेतना का प्रभाव विशेष रूप से लक्षित होता है। बुद्धिवाद भी इसमें संयुक्त है। इस चेतना ने भारत को सामाजिक दिशा में खडित मूल्यों को त्यागने तथा समानता स्थापित करने की प्रेरणा दी। अछूतोद्धार, नारी स्वतंत्रता आदि आन्दोलन समानता की भावना के फलस्वरूप ही जोर पकड़ते गये।

देश के उत्थान के लिए सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता के प्रति रुचि न होने के कारण इस काल में अनेक परिवर्तन हुए। इससे राष्ट्रीयता जनप्रिय एवं प्रबुद्ध हुई तथा उसे पर्याप्त विकास मिला।

आर्थिक—भारत में अंग्रेजी राज्य की कहानी शोषण, धन-लोलुपता आदि की कहानी है। अंग्रेजी राज्य के शोषण की ओर भारतेन्दु कालीन कवियों का ध्यान गया और उन्होंने इसके विरोध में स्वर उठाया। कांग्रेस ने भी राजनीतिक स्वतंत्रता से अधिक जोर आर्थिक विकास को दिया। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीयता का अभिन्न अंग आर्थिक उन्नयन रहा है। आलोच्य काल मे राजनीतिक माँगों में उग्रता आने लगी। फलस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में भी उग्र कदम उठाये गये और शोषण का विरोध हुआ।

अग्रेज भारत के लोगों को शिक्षित एवं सभ्य बनाने नहीं आये थे, वरन् उनका शोषण करने आये थे। इसका उल्लेख करते हुए एक अग्रेज ने लिखा है 'हमारी पद्धति एक स्पंज के समान है जो गंगा तट से सब अच्छी चीजों को चूसकर टैक्स तट पर ला निचोड़ती है।' राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्रों मे नवचेतना से अभिभूत भारतीय जनता ने अपनी विपन्नता देखी और उसका कारण भी जाना। वह कारण था अग्रेजी राज्य द्वारा शोषण। राष्ट्रीय चेतना से उद्बुद्ध भारत-जनों ने इस शोषण का विरोध किया।

शोषण की दिशा में अंग्रेजों ने १९वी शताब्दी में भारतीय उद्योग-धन्धों को नेस्तनाबूद कर देने का जो प्रयास प्रारम्भ किया था, वह बीसवी शताब्दी के प्रथम दो दशकों मे भी चल रहा था। भारतीय कच्चे माल से मैनचेस्टर की मिलें पालित-पोषित हो रही थीं। इसके अभाव में उनका विकास असभव था। इस दिशा मे दूसरा कदम था इग्लैण्ड में बने सामान की भारत में

खपत । अपने उद्योग-धन्धों के क्रमशः मिटने के कारण भारतीय विदेशी सामान पर ही निर्भर रहने लगे ।

भारतेन्दु ने इन दोनों कदमों के विरोध में स्वदेशी का जो नारा लगाया था, उसका कार्यान्वयन नहीं हो सका था। विदेशी बहिष्कार की नीति ही स्वदेशी आन्दोलन है। इससे एक ओर स्वदेशी उद्योग-धन्धों के विकास की आशा थी, तो दूसरी ओर विदेशी माल न खरीदने के कारण देश की सम्पत्ति देश में रह जाने की भावना का जोर था। कांग्रेस ने आर्थिक नीति को अपने कार्य में स्थान तो दिया था, किन्तु इस दिशा में कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया गया था। १९०५ ई० में पहली बार भारत की जनता ने स्वदेशी आन्दोलन के माध्यम से अंग्रेजों की आर्थिक नीति के प्रति विद्रोह भाव व्यक्त किया। सम्पूर्ण देश में विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गई और स्वदेशी वस्त्रों को ही धारण करने के संकल्प किये गये। बंग-भंग के बाद इस आन्दोलन की व्यापकता देश में रही। 'कर्जन के शासन का राजनीतिक-आर्थिक फल बहिष्कार है।'

भारतीय शासन-सूत्र-संचालन का असाधारण व्यय, दिल्ली दरबार के दुर्वह व्यय-भार, प्रथम महा समर का अपार व्यय भारत के सिर पर ही पड़ा। दुर्भिक्ष से जर्जर भारत देश के निवासियों पर लादा गया यह व्यय-भार असह्य हो उठा और अंग्रेजी राज्य के प्रति रोष भाव का जागरण होने लगा। बेकारी की समस्या दिन-दिन बढ़ती जा रही थी। भारतीय युवक ऊँची-ऊंची डिगरियाँ लेकर भी बेकार थे। इसलिए उनके मन में अंग्रेजी शासन के प्रति विरोध का भाव बद्धमूल होने लगा। इससे आतंकवादी कार्यों की ओर देश के नवयुवकों का ध्यान गया। बेकार नवयुवकों में क्रान्ति तत्व का आविर्भाव होने लगा और वे सुधार की आशा छोड़ हिंसात्मक कार्रवाइयों से अंग्रेजी राज्य के विनाश के लिए सक्रिय हुए।

प्राचीन भारत के गाव राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र थे, किन्तु खेती के बढ़ते हुए भार के फलस्वरूप तथा जमींदारों के शोषण के कारण उनकी दशा भी दिनोदिन खराब होती गई। शोषण एवं उत्पीड़न के अंग्रेजी शासन में उनकी भी आस्था नहीं रही और राजनीतिक आन्दोलनों के उद्घोष ने उनका ध्यान देश की परतंत्रता की ओर आकृष्ट किया। फलस्वरूप उनमें भी राष्ट्रीय चेतना का जागरण हुआ।

बंगाल और बिहार में अंग्रेज नीलहों की अत्याचारपूर्ण नीति के कारण वहाँ के किसान तबाह हो उठे थे। उनकी दयनीय दशा की ओर महात्मा

गांधी का ध्यान गया। उन्होने १९१७ ई० में गोरे नीलहो का विरोध सत्याग्रह से दिया और उनका उद्धार किया। चम्पारण उनके प्रयोग की भूमि थी। वहाँ की सफलता के कारण गांधी बिहार के किसानों के लिए भगवान हो गये। १९१८ ई० मे उन्होंने गुजरात के खेड़ा और अहमदाबाद के अकाल-ग्रस्त किसानो को कष्ट-मुक्त करने के लिए सत्याग्रह का अवलम्बन लिया और पूर्ण सफलता प्राप्त की। इससे किसानों के विचारो को नया मोड़ मिला। उनके मन में अपने उद्धार की भावना का बीजारोपण हुआ। इस प्रकार किसानो के विचार-जगत् मे राष्ट्रीय चेतना का क्रान्तिकारी रूप फैलने लगा।

खेतिहर मजदूरों के संकटों का यहीं अन्त नही था। अग्रेज उपनिवेशों मे खेती करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध मजदूर ले जाये जाते थे। वहाँ उनके साथ अच्छा वर्ताव नही होता था तथा उन्हें स्वदेश भी नहीं लौटने दिया जाता था। अशिक्षित खेतिहर मजदूरों को अनेक प्रलोभन देकर ये 'गिरमिटिया साहब' उनसे अँगूठे का निशान लगवा कर जीवन भर के लिए उन्हें गुलाम बना लेते थे। 'ऐग्रीमेण्ट' लिखवाने के कारण ही जनता उन्हें 'गिरमिटिया' साहब कहा करती थी। गाँधी ने इस अमानुषिक कार्य का सत्याग्रह के अस्त्र से विरोध किया। इस दिशा में भी उन्हे सफलता मिली।

इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से शोषित, पीड़ित भारतीय जनता के विचारों में नया मोड़ आया। उसमे जागृति आने लगी। अपनी दरिद्रता एव शोषण से निवृत्ति पाने की ओर उसका ध्यान गया।

धार्मिक एवं सांस्कृतिक—आलोच्यकाल की धार्मिक परिस्थितियों की कहानी साम्प्रदायिकता की कहानी है। १९वी शताब्दी में स्थापित आर्य समाज के धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक पुनरुत्थान की भावना में हिन्दुत्व का भाव ही प्रबल था। उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे श्री जवाहरलाल नेहरू कहते है, 'आर्य समाज, इसलाम और ईसाई धर्म के, विशेषतः इसलाम के प्रभाव की प्रतिक्रिया था।' आर्य समाज के बढ़ते हुए प्रभाव ने मुसलमानों को सचेत कर दिया और उन्होने अपने धर्म और धर्मावलम्बियों के हित के लिए संगठन प्रारम्भ किया। फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय चेतना मे साम्प्रदायिक फूट के बीज का वपन हुआ और दोनों सम्प्रदाय क्रमशः एक दूसरे से अलग होते गये। उनके इस विरोधी दृष्टिकोण के कारण राष्ट्रीय चेतना ह्रास की ओर ही उन्मुख हुई।

उन्नसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हिन्दू और मुसलमान दोनों में पुनर्जागरण

की चेतना आई। हिन्दुओं ने वेद और प्राचीन सभ्यता की कल्पना से वर्तमान को भूलने का उपक्रम किया तो मुसलमानों ने कुरान और अरब के रेगिस्तान के सपने में अपनी पीड़ा को भूलाने का प्रयास किया। हिन्दुओं ने आर्यसमाज के माध्यम से 'हिन्दुस्तान हिन्दुओं के लिए' का नारा बुलन्द किया और मुसलमानों ने वृहत्तर इस्लाम के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया। फलस्वरूप दोनों की भावनाओं में मतभेद बढ़ता गया। कांग्रेस की स्थापना से सर सैयद अहमद खाँ को देशद्रोह की गंध मिली और इसीलिए उन्होंने मुसलमानों को कांग्रेस में शामिल न होने का आदेश दिया था। सर सैयद के प्यारे कवि हाली ने मुसद्दस में इसलाम का गौरव गाया। 'वृहत्तर इस्लाम की कल्पना का पक्षी, साहित्य की भूमि पर उतरने के लिए हाली की कविता में अपने डैने तौल रहा था।'

सर सैयद ने मुसलमानों को हिन्दुओं के सम्पर्क में आने की मनाही की थी, क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं इस्लाम सनातन धर्म का ही अनुवाद न बन जाय। इसलिए उन्होंने मुसलमानों का सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक दृष्टि से नेतृत्व किया। उन्होंने मुसलमानों को राजभक्त होने की प्रेरणा दी और इस प्रकार मुसलमानों में साम्प्रदायिकता का भाव जगाया।

मुसलमानों के कांग्रेस में शामिल न होने के कारण की ओर संकेत करते हुए श्री नेहरू ने लिखा है कि 'मुसलमान राष्ट्रीय कांग्रेस के खिलाफ इसलिए नहीं थे कि वह एक ऐसी संस्था थी जिसमें हिन्दुओं की प्रधानता थी, बल्कि इसलिए कि उनकी दृष्टि में वह बहुत उग्र थी। यद्यपि उन दिनों कांग्रेस अत्यन्त सौम्य विचारों की संस्था थी।'

इससे साफ जाहिर हो जाता है कि मुसलमान कांग्रेस से अलग हिन्दुओं की प्रधानता के कारण भले ही न रहे हों, राजभक्ति के कारण अलग जरूर रहे, लेकिन परवर्ती काल में जिस तरह की उनकी मनोवृत्ति रही तथा उन्होंने जैसी माँगें सरकार के सामने रखी उनसे प्रकट हो जाता है कि उनमें मुस्लिम परस्ती तथा हिन्दू विरोधी भाव अवश्य ही वर्तमान थे।

वंग-भंग आन्दोलन मुख्यतः हिन्दू आन्दोलन था। हिन्दुओं के संगठन ने मुसलमानों की आँखें खोल दीं और उन्होंने अनुभव किया कि उनका भी कोई राजनीतिक संगठन अपेक्षित है, जिसके द्वारा वे अपने सम्प्रदाय के हित की माँगें सरकार के सामने रख सकें।

अंग्रेजों का राज्य भारत में फूट के बल पर ही विकसित हुआ है। उन्होंने भारतीय जनता का संगठन, देश-प्रेम की उदात्तता तथा उग्रता देखी और उससे

भयभीत हुए। उन्होंने दमन के साथ ही भारतीय जनता में फूट डालने की नीति भी अपनाई और मुसलमानों को हिन्दुओं के विरोध में उकसाने लगे। उन्होने मुसलमानों को स्वतन्त्र संगठन के लिए बढावा दिया तथा सहायताएँ भी दीं। फलस्वरूप १९०६ ई० में मुसलमानों ने आगा खाँ के नेतृत्व में मुसलमानों के पृथक् निर्वाचन की माँग की और उसी वर्ष दिसम्बर में मुस्लिम लीग की भी स्थापना की गई। कहा जाता है कि इसके पीछे तत्कालीन वायसराय मिण्टो का हाथ था।

संयोगवश उसी काल में इकबाल भी साहित्य क्षेत्र में आये और अंग्रेजों ने साम्प्रदायिक इकाई का जो बीज मन्त्र मुसलमानों को दिया था, वह उनकी कविता में ध्वनित होने लगा। मुसलमानों को यह विश्वास होता गया कि साम्प्रदायिक इकाई कल्पना नही है। इसे सरकारी समर्थन भी प्राप्त हुआ जब मार्ले मिण्टो सुधार में धार्मिक आधार पर राजनीतिक अल्पसंख्यकता मान ली गई और अल्पसंख्यक मुसलमानो को प्रतिनिधित्व का अधिकार दिया गया। इससे मुसलमानो की पृथक् इकाई की भावना को बल मिला और १९०८ ई० मे पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग को सर सैयद अली इमाम की अध्यक्षता मे पुनः दुहराया गया।

कांग्रेस ने १९१० ई० मे इसका विरोध किया। लार्ड हार्डिंग की कांग्रेस के प्रति सहानुभूति के कारण मुसलमानों का जोश ठडा पडने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने भी मुसलमानों को निराश किया और फलस्वरूप उनकी राजभक्ति भावना पर कठोर आघात लगा। १९१३ ई० मे मुस्लिम लीग ने भी स्वराज्य अपना लक्ष्य घोषित किया।

प्रथम विश्वयुद्ध मे तुर्की जर्मनी के साथ होकर अंग्रेजो के खिलाफ लड़ा। इससे मुसलमानों के हृदय में यह बात जम गई कि इंगलैण्ड इस्लाम का दुश्मन है। मौलाना मुहम्मद अली ने मुसलमानों का मस्तिष्क राष्ट्रीयता की दिशा मे विकसित किया। उन्होंने मुसलमानों की राजभक्ति और साम्प्रदायिकता के खिलाफ प्रचार कर उन्हें राष्ट्रीय भावना से अभिभूत किया। परिणामस्वरूप १९१६ ई० में कांग्रेस और लीग का समझौता लखनऊ में हुआ, जिसमें कांग्रेस ने मुसलमानों के पृथक् प्रतिनिधित्व के अधिकार को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार दोनों जातियाँ एक दूसरे के निकट आने लगीं।

युद्ध के बाद तुर्की की दशा अस्तव्यस्त हो गई। मुसलमान नहीं चाहते थे कि अंग्रेज उनके साथ वह व्यवहार करें। इसलिए उनके मन में अंग्रेजों के

खिलाफ द्वेष भाव जगा। १९१९ ई० में रौलट ऐक्ट के विरोध में मुसलमानों का भी सहयोग मिला। दोनों जातियों की एकता एवं भ्रातृभावना का उल्लेख एक सरकारी रिपोर्ट में यों किया गया, 'सब लोग बड़े ही उत्तेजित थे। एक बात मार्के की दिखाई पड़ती थी। वह था हिन्दू-मुस्लिम भ्रातृभाव। दोनों जातियों के नेता बस इसी एकता की रट लगाये हुए थे·······वह भ्रातृभाव का अद्‌भुत दृश्य था।'

हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध के अतिरिक्त यह भी बताना अनुपयुक्त नहीं होगा कि आलोच्यकाल में भी धार्मिक सुधारों की ओर लोगों का ध्यान गया। पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति दोनों जातियों में जगी और दोनों ने अतीत से अपने धूमिल वर्तमान को परिष्कृत करने की चेष्टा की। जड़ धार्मिक मान्यताओं को दूर करने की ओर लोगों का ध्यान था। दूसरी ओर कट्टरता भी पनपने लगी थी। किन्तु वह परिस्थितियों के अनुरूप मन्द और तीव्र होती रही, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में भी आलोच्यकाल में नई शक्तियों का उदय हुआ और हमारी सांस्कृतिक परम्परा को एक नई दिशा मिली। भारत की संस्कृति ने यूरोपीय संस्कृति के सम्पर्क से बुद्धिवादी का अवदान प्राप्त किया। अंध-विश्वासों का अंधकार इस बुद्धिवाद के प्रकाश में नष्ट हो गया और परम्पराएँ ढहने लगी। नये मूल्यों का विकास होने के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नवीन दृष्टिकोण का उदय हुआ। हमारी दृष्टि परीक्षक की हो गई और तर्क तथा ज्ञान के द्वारा हमने उसका मूल्यांकन किया। बुद्धिवाद की प्रेरणा का स्रोत यदि यूरोपीय संस्कृति है तो भारतीय सांस्कृतिक संस्थाएं भी कम हितकर नहीं हुईं। आर्य समाज, ब्रह्म समाज आदि की दृष्टि बुद्धिवादी थी। रवीन्द्र, विवेकानन्द, गाँधी आदि ने इस युग को बौद्धिक चेतना प्रदान की और जीवन के प्रति हमें एक नया दृष्टिकोण दिया। विवेकानन्द ने वेदान्त के अद्वैत दर्शन की नवीन व्यवस्था प्रस्तुत की और इस क्रम में मानव को ईश्वरता की दिव्यता प्रदान की। उन्होंने मानव का बुद्धिवादी दृष्टिकोण के आधार पर दैवीकरण किया और देवोपम राम-कृष्ण को मानव-महिमा मंडित किया।

सामाजिक क्षेत्र में रूढ़ियों का खण्डन तथा नयी मान्यताओं का ग्रहण हुआ। इस प्रकार बुद्धिवाद ने इस युग में हमारी सांस्कृतिक परम्परा को अस्थिरता दी, अनास्था दी। अनास्था और सन्देह की भावना जीवन की प्रत्येक मान्यता के सामने प्रकट हुई। अवतारवाद को बुद्धिवाद का कठोर आघात सहना पड़ा।

इस काल की सांस्कृतिक धरातल पर आदर्शवाद के दर्शन होते हैं। राष्ट्रीय जीवन के जागरण एव सांस्कृतिक पुनरुत्थान के युग में आदर्शवाद का उदय अपेक्षित भी है। इसलिए बुद्धिवाद के साथ आदर्शवाद के भी दर्शन इस युग में होते हैं। यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि आदर्शवाद का बुद्धिवाद विरोधी नहीं है, बल्कि आधार रूप में उससे उद्भूत यथार्थवाद आदर्शवाद मे वर्तमान रहता है। इस प्रकार इस युग में बुद्धिवाद से स्वीकृत आदर्शवाद ग्राह्य हुआ। इस युग मे अतीत की बड़ी भव्य एवं आदर्शमूलक व्यंजना हुई, लेकिन अतीत के उसी पक्ष को अपनाया गया, जो संदेह रहित था।

इस काल में भारतीय सांस्कृतिक जीवन में जनवाद की भावना का भी उदय हुआ। इसके साथ ही मानववाद की भावना भी जाग उठी थी। मानव-वाद की भावना की पृष्ठभूमि भारतीय दृष्टि से वेदान्त दर्शन है, जिसमे सभी मानवों को समान अथवा एक मूलभूत तत्व से ओत-प्रोत देखने की दृष्टि प्राप्त होती है। विवेकानन्द ने भारतीय विचार-धारा मे मानववाद की प्रतिष्ठा की। पश्चिमी प्रभाव से मानवतावाद को भी बल मिला।

जनवाद की भावना राजनीतिक समता की भावना है। इस काल मे राजनीतिक सत्ता को मध्यम वर्ग से निम्नवर्ग के हाथ मे प्रतिष्ठित करने की भावना जग उठी। यो कहें कि सम्पूर्ण मानव को राजनीतिक दृष्टि से समान मानकर सबको समान राजनीतिक अधिकार देने की चेतना इस काल में विकसित हुई। इन सबका श्रेय बुद्धिवाद को ही है।

गांधीवादी विचारधारा का भी पर्याप्त प्रभाव इस काल की सांस्कृतिक चेतना पर पड़ा। सत्याग्रह, सत्य और अहिंसा की व्यापक एवं उदात्त भावना ने युग की भावना को प्रभावित किया। स्वच्छन्दतावाद का भी इस काल में उदय हुआ। इसके कारण बन्धन के तिरस्कार की सहज वृत्ति का विकास हुआ। परम्परा का विरोध स्वच्छन्दतावाद की मुख्य प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति बुद्धिवाद में भी है, इसलिए स्वच्छन्दतावाद को भी बुद्धिवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत ग्रहण किया जा सकता है। इन सभी भावनाओं के मूल में बुद्धिवाद वर्तमान है, इसलिए उन्हें एक ही नही मान लेना चाहिये। वस्तुतः ये पृथक् भावधाराएँ हैं, जिनसे आलोच्यकाल के जन-मानस का सम्पर्क स्थापित हुआ, और तदनुकूल जीवन-धारा का विकास हुआ।

शिक्षा-विषयक—ज्यों-ज्यों भारतीय जनता में जागृति आती गई, त्यों-त्यों अधिकाधिक भारतीयों का ध्यान शिक्षा प्राप्त करने की ओर अग्रसर हुआ।

यह बात सही है कि अंग्रेजों ने भारत में शिक्षा का विकास अपने लाभ के लिए किया, और इस तथ्य से अवगत राष्ट्रीय नेताओं ने अंग्रेजी शिक्षा का विरोध किया, लेकिन जनता में शिक्षा का प्रचार बढ़ता गया।

अंग्रेजों का उद्देश्य सम्पूर्ण भारत को शिक्षित बनाने का नहीं था। इसीलिए शिक्षा पर कम से कम खर्च किया जाता था। अंग्रेजी शिक्षा खर्चीली भी थी, इसलिए जन-साधारण उससे लाभान्वित नहीं हो सकता था। १९०१ ई० में मात्र ६ प्रतिशत लोग ही साक्षर थे। किन्तु कुछ भारतीय नेताओं का ध्यान शिक्षा की ओर था और गोखले ने १९११ ई० में एक बिल कौन्सिल में प्रारंभिक शिक्षा के उत्तम प्रबन्ध के लिए पेश किया। किन्तु सरकार की ओर से बहुत उत्साहवर्धक कदम इस दिशा में नहीं उठाये गये।

ईसाई धर्म प्रचारकों ने धर्म निरपेक्ष शिक्षा की योजना की थी, जिसके फलस्वरूप निम्नवर्ग में साक्षरता का प्रसार हुआ। थियोसोफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण मिशन, आर्य समाज आदि ने शिक्षा प्रचार की दिशा मे बहुत महान् काय किये। आर्य समाज द्वारा गुरुकुल विद्यालयों की स्थापना की गई, जिसमे भारतीय संस्कृति को प्रधानता दी गई।

शिक्षा के क्षेत्र मे बहुत अधिक उन्नति तो इस काल में नहीं हुई, लेकिन सर्व साधारण का ध्यान इस ओर गया और उससे लाभ उठाने के लिए लोग पढ़ने-लिखने लगे। प्रथम महासमर में भारत के बहुत से लोग विदेश में युद्ध के लिए गये थे। अपने स्वजनों को कुशल-क्षेम का पत्र लिखने की भावना ने भी बहुतों को साक्षर होने की प्रेरणा दी और देश धीरे-धीरे इस दिशा मे गतिशील होने लगा।

पत्रकारिता---आलोच्यकाल में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का जन्म हुआ। नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सरस्वती, इन्दु, मर्यादा आदि पत्रों ने देश की चेतना को नई गति दी। अनेक साप्ताहिक एवं दैनिक पत्रों के प्रकाशन भी हुए, जिससे देश के कोने-कोने में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत हुई।

इस काल में साहित्य का ध्यान जन-साधारण की ओर गया और जन-साधारण ने भी साहित्य को अपनाया। अनेक साहित्यिक संस्थाएँ भी इस काल में स्थापित हुईं, जिनमें नागरी प्राचरिणी सभा, आरा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग आदि का नाम प्रमुख है।

चित्रकला की दिशा में भी नई चेतना जगी। इसका श्रेय रविवर्मा को है। उन्होंने पाश्चात्य एवं भारतीय प्रभावों के सम्बन्ध से चित्रकला को नयी

दिशा प्रदान की। संगीत की दिशा में भी नवीनता आई। गायनाचार्य विष्णुपंत दिगम्बर पलुसकर ने भारत में संगीत कला का पुनरुत्थान किया। उन्होंने मिटती हुई भारतीय संगीत परम्परा की रक्षा की तथा उसे नये ढंग से संघटित किया।

(ख) निष्कर्ष—उपर्युक्त परिस्थितियों का राष्ट्रीय चेतना पर समवेत प्रभाव

भारतेन्दु युग आधुनिक राष्ट्रीय चेतना का बीज वपन काल है और द्विवेदी-युग उसका विकासकाल। भारतेन्दुयुगीन राष्ट्रीय भावना विभिन्न परिस्थितियों से धीरे-धीरे विकास की ओर अग्रसर हुई। उसका पूर्ण विकास में न होने के कारण उसमें मसृणता थी, उग्रता नहीं थी, किन्तु द्विवेदी युग में उसे विशालता रूप मिला। इसलिए उसमें उग्रता भी आने लगी।

आलोच्यकाल की राष्ट्रीय चेतना में उग्रता आने का मुख्य कारण असतोष है। पराधीन जाति जब अपनी वर्तमान परिस्थितियों से, अपने पतन से असंतुष्ट होती है तो असंतोष में तीव्रता आने के साथ ही राष्ट्रीय चेतना में भी तीव्रता आती है। राष्ट्रीय चेतना प्रारम्भ में उदारवादी होती है लेकिन ज्यो-ज्यों दमन और अत्याचार बढ़ता जाता है, वह उग्र होती जाती है। स्वतंत्रता की भावना शासकों के विरोध तथा दमन से अधिक बढ़ती जाती है।

विश्व इतिहास साक्षी है कि निरंकुश शासन से ही क्रान्ति उत्पन्न होती है। निरंकुशता ही राष्ट्रीय चेतना के उद्भव का मूलाधार है। श्रीसुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने अपनी पुस्तक 'एनेशन इन मेकिंग' में ठीक ही लिखा है कि प्रतिक्रिया-वादी शासक महान् जन आन्दोलन के निर्माता होते हैं। अंग्रेजों की दमन-नीति को ही भारत में राष्ट्रीय चेतना तीव्र करने का श्रेय है।

आलोच्यकाल के प्रारम्भ में राष्ट्रीय चेतना में कोई परिवर्तन लक्षित नही होता क्योंकि परिस्थितियाँ सम रहीं। साथ ही कांग्रेस जो प्रमुख राष्ट्रीय संस्था थी नरम दलवाले नेताओं के हाथ में थी। वह सुधार की माँग भी दबे स्वर में ही करती थी। इसी लिए १६०५ ई० के पूर्व राजभक्ति भावना के दर्शन होते हैं। भारतीय जनता अंग्रेजों से लाभान्वित होने की आशा कर रही थी। इसीलिए वह राजा के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करती रही।

१६०५ ई० में राष्ट्रीय चेतना को एक नया मोड़ मिला। इसका श्रेय लार्ड कर्जन की निरंकुश शासन नीति को है। इसके पूर्व भारत की राष्ट्रीय चेतना सक्रिय विचार-धारा के रूप में विकसित नहीं हो सकी थी। बंग-भंग घटना

ने सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीयता की ज्वाला फैला दी और वह व्यापक, विस्तृत और गहरी होती गई। विद्रोहियों के गगन भेदी जयनाद से बंगभूमि मुखरित हो उठी और उसकी प्रतिध्वनि सम्पूर्ण देश में फैल गई। लार्ड कर्जन के राष्ट्रीय उन्नयन में योग-दान का पूर्ण विश्लेषण करते हुऐ सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने ठीक ही कहा है कि 'उन्होंने हमारे राष्ट्रीय जीवन की नींव गहरी और विस्तृत डाल दी। उन्होंने उन शक्तियों को उभाड़ा जो राष्ट्र के विकास में योगदान करती है।' सचमुच लार्ड कर्जन की सेवाओं से हमारी राष्ट्रीय चेतना को जितना बल मिला, उतना शायद ही किसी प्रतिक्रियावादी तत्व से मिला हो। जन गण मन राष्ट्रीय गीत के प्रणयन का भी श्रेय लार्ड कर्जन को ही दिया जा सकता है।

जन आन्दोलन की वृद्धि के साथ-साथ सरकारी दमन नीति भी चलती रही। लेकिन इससे देश की राष्ट्रीय चेतना मन्द होने की अपेक्षा उत्तरोत्तर विकसित होती गई। दमन के फलस्वरूप राष्ट्र जागरण की हलचल विराट् रूप धारण करती गई। 'स्वदेशी आन्दोलन, भी इसी काल में जगा। स्वदेशाभिमान का ऐसा व्यापक रूप इसके पूर्व कभी प्रकट नहीं हुआ था। इसमें राष्ट्रीय उद्योग-धन्धों के उन्नयन से देश को शोषण से बचाने की मूल भावना काम कर रही थी।

इन दोनों आन्दोलनों के कारण राष्ट्रीय चेतना को बहुत शक्ति मिली। दमन-चक्र ने उसे विस्तार एवं तलस्पर्शिता प्रदान की। सम्पूर्ण देश देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत होकर स्वतंत्रता के लिए तत्पर हो उठा। इसके पूर्व विदेशी शासन के प्रति विद्रोह की ऐसी विराट् भावना प्रकट नहीं हो पाई थी और १९०६ के बाद जो नवीन जागृति और नया तेज देश में इस छोर से उस छोर तक फैल गया था वह नित नूतन रूप में प्रकट होने लगा। रूस पर जापान की विजय ने सम्पूर्ण एशियावासियों में नयी आशा भर दी और उससे भारत की राष्ट्रीय चेतना को अद्भुत प्रेरणा मिली। '१९०५ ई० से राष्ट्रीयता धीरे-धीरे विकसित होती गई और उसने जातीय भावना का मिश्रण अपने में किया।' इसी काल में उसमें भारतेन्दुयुगीन पुनरुत्थान की भावना प्रमुख हुई और राजनीति में धर्म का सम्मिश्रण होने के कारण धार्मिक पुनरुत्थान से राष्ट्रीय चेतना ओत-प्रोत हो उठी। पुनरुत्थान की भावना राष्ट्रीयता के विकास में सहायक ही होती है, किन्तु भारत की दो विरोधी जातियों में इससे अनेकता की भावना ही बढ़ी, जो राष्ट्रीयता के लिए अवरोधक है।

पुनरुत्थान की भावना केवल हिन्दुओं में ही नहीं थी, वरन् मुसलमानों

में भी थी। दोनों अपने उज्ज्वल भविष्य के लिए अतीत की ओर उन्मुख हुए। हिन्दु पुनरुत्थान के नेता लाल-बाल-पाल थे और मुसलिम के सैयद अहमद खां, इकबाल आदि। हिन्दुओं ने अपने गौरवमय अतीत से प्रेरणा ग्रहण करना शुरू किया और वेद तथा प्राचीन सस्कृति को उसके लिए आधार स्वरूप ग्रहण किया तो मुसलमानों ने कुरान और अरब के रेगिस्तान की ओर मुख किया। उन्होंने मुसलमानों को एक स्वतत्र इकाई माना तथा वृहतर इस्लाम की कल्पना की।

हिन्दू और मुस्लिम पुनरुत्थानवादी भावना भारतेन्दु युग मे एक दूसरे का विरोध नही करती थी। वह अंग्रेजी शासन की धूमिलता को मिटाकर उज्ज्वल अतीत को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहती थी, किन्तु इस काल मे उसमें एक ओर जहाँ विदेशी सत्ता का विरोध हुआ, वहाँ दूसरी ओर विरोधी जाति के प्रतिकूल भी आवाज उठाई गई। हिन्दू पुनरुत्थानवाद के सम्बन्ध में लिखते हुए वेलेन्टाइन शिरोल ने ठीक ही लिखा है कि 'उसकी प्रवृति उतनी मुस्लिम-विरोधी थी, जितनी ब्रिटेन-विरोधी रही, बल्कि उससे भी अधिक।'

प्रारम्भ से ही मुस्लिम पुनरुत्थानवाद हिन्दू विरोधी रहा। यद्यपि श्री नेहरू ने भारत की खोज नामक पुस्तक में मुसलमानों के कांग्रेस से पृथक् रहने का कारण कांग्रेस की उग्रता बताया है, लेकिन उसके मूल में हिन्दुओं का विरोध ही प्रमुख था। कांग्रेस को मुसलमान हिन्दुओं की सस्था ही मानते थे। इस विरोधी भावना को उत्तेजना देने का श्रेय सर सैयद अहमद को है। इसी भावना के कारण १९०६ ई० में भारतीय मुसलमानों ने पृथक् निर्वाचन की माँग की तथा मुस्लिम लीग की स्थापना की।

अंग्रेजों की कूटनीति का मूल अंग फूट है। जब उन्होंने बंग-भंग तथा स्वदेशी आन्दोलन में जन-जागृति की विकरालता देखी तो मुसलमान और हिन्दुओं में फूट डालकर राष्ट्रीय जन-जागरण को अवरुद्ध करने की चेष्टा की। सचमुच यदि मुसलमान और हिन्दू एकता के द्वारा राष्ट्रीय जागरण को अधिक शक्तिशाली बनाते तो हमारी स्वतंत्रता-प्राप्ति की कहानी इतनी लम्बी नही होती। इसलिए हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य राष्ट्रीयता की अवरोधक शक्ति के रूप में ही इस काल में आई। 'इस शताब्दी के प्रथक में राष्ट्रीयता के स्वरूप में अराजकतावादी दर्शन तथा कार्य का संयोग देश-भक्ति के साथ था।'

अंग्रेजी शासन के दमन एवं कांग्रेस की उदारवादी नीति के कारण हिन्दू पुनरुत्थानवाद का रूप क्रान्तिवाद और आतंकवाद के रूप में अवतरित हुआ। सरकारी सम्पत्ति नष्ट करने तथा लूटने और अत्याचारी शासकों की हत्या का दौर इस काल में प्रारम्भ हुआ। १९०८ ई० में मुजफ्फरपुर के

बम काण्ड के सम्बन्ध में तिलक ने कहा था, 'सरकार की नीति बमों से नहीं टूट सकती। पर बम से सरकार का ध्यान उस अंधेर खाते की तरफ खींचा जा सकता है जो उसकी सैनिक शक्ति के मद के कारण उपस्थित है।' तिलक ने आतंकवादी कार्यों के परिणाम का सही मूल्यांकन यहाँ किया है। सचमुच, इससे भारतीय राष्ट्रीय चेतना में उग्रता ही आई, उससे सरकार को मिटाया नहीं जा सका।

हिन्दू पुनरुत्थानवाद ने भारतीय राष्ट्रीयता को भारत माता के दैवीकरण की भावना प्रदान की और अतीत की ओर उसे उन्मुख कर नवीन राष्ट्रीयता के साथ उसका सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित कर दिया। उसने विदेशियों को अपनी उद्दाम राष्ट्रीयता का प्रमाण दिया तथा जन-मानस में राष्ट्रीय चेतना की बिजली छिटका दी।

धीरे-धीरे भारत के मुसलमानों को अंग्रेजों से निराशा होने लगी और उन्होंने भी १९१३ ई० में स्वशासन को अपना लक्ष्य घोषित किया। स्मरण रहे कि कांग्रेस ने १९०७ ई० में ही स्वशासन की माँग की थी। मार्लो मिण्टो सुधार से नरमदलीय नेताओं के प्रभाव के कारण राष्ट्रीय चेतना का तेज कुछ मन्द जरूर हुआ, लेकिन उग्रवादी राष्ट्रीय नेताओं के प्रयत्न से वह अधिक मन्द न हो सका। इस मन्दता में मुसलमानों का विलगाव तथा आतंकवादी कार्यों के कारण देश की जनता का आंतकित होना भी शामिल है।

मुसलमानों की निराशा ने उन्हें राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख किया और होमरूल आन्दोलन में पुनः दोनों जातियों को एक कर दिया और राष्ट्रीयता पूरी गति के साथ स्वतंत्रता-प्राप्ति के लक्ष्य की ओर अग्रसर हुई। राष्ट्रीयता के इतिहास में डा० अंसारी, आजाद और हकीम अफजल खां के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने दोनों जातियों को एक लक्ष्य की ओर ले आने में सहायता प्रदान की।

बाह्य परिस्थितियों ने भी हिन्दू मुस्लिम एकता में योग दान किया। द्वितीय महासमर में टर्की का अंग्रेजों के विरोध में लड़ना तथा टर्की के साथ युद्धोपरान्त अच्छा व्यवहार न होना भी हिन्दू मुस्लिम एकता की पृष्ठभूमि के रूप में है। द्वितीय महासमर के बाद होमरूल आन्दोलन में मिस्टर जिन्ना भी शामिल हुए और बाद में १९१६ ई० में दोनों संस्थाओं (लीग और कांग्रेस) में समझौता हुआ, जिससे राष्ट्रीय चेतना का मार्ग प्रशस्त हुआ। जलियां वाला बाग का हत्यकाण्ड तथा अन्त में खिलाफत आन्दोलन में दोनों जातियाँ पास-पास आईं और राष्ट्रीयता को अधिक बल प्राप्त हुआ।

युद्धोपरान्त दोनों जातियों में समान रूप से राष्ट्रीय चेतना का स्फुरण था। इसलिए उन्होंने लखनऊ पैक्ट के आधार पर हिन्दुस्तान को स्वतंत्रता प्रदान करने की माँग पेश की।

राष्ट्रीय चेतना को बल देने वाली अन्य घटनाओं में रूसी क्रान्ति तथा प्रथम महायुद्ध का भी कम महत्व नहीं है। रूसी क्रान्ति ने भारतीय जनता को यह आशा और विश्वास दिया कि जन-आन्दोलन से स्वतंत्रता की प्राप्ति संभव है। द्वितीय महायुद्ध ने भारत की जनता को अन्य स्वतंत्र देशों की पंक्ति में प्रतिष्ठित किया, जिससे भारतीय जनता के हृदय में स्वतन्त्रता प्राप्ति की आकांक्षा बलवती हो उठी। युद्ध की समाप्ति पर आत्म निर्णय के सिद्धान्त ने भारत की राष्ट्रीयता को माँग की प्रेरणा दी और अपने स्वतन्त्र होने के अधिकार की ओर उसकी प्रवृत्ति अधिक तीव्रता से अग्रसर होती गई। सचमुच 'युद्ध का एक अन्य महत्वपूर्ण परिणाम भारत को राष्ट्रीयता के पथ पर प्रवृत्त करना है।'

स्वदेशी आन्दोलन ने दोनों जातियों को एक होने की प्रेरणा दी और भारत का आर्थिक शोषण समाप्त कर देने की आकांक्षा दृढ़तर की। लोगों में यह धारणा बढती गई कि ब्रिटिश पूंजी भारत मे लगने से ही उसे अनुचित राजनीतिक सुविधा लेने का अधिकार नहीं है।

सत्याग्रह का मार्ग अफ्रीका और भारत में भी सफल होते देखकर शान्तिपूर्ण ढग से देश को स्वतंत्रता की मंजिल तक ले जाने की भावना का उदय क्रमशः राष्ट्रीय भावना में आया। आतंकवाद के स्थान पर अहिंसा का अस्त्र उसने आलोच्यकाल के अन्त में ग्रहण किया। इस प्रकार राष्ट्रीयता मे सत्य का तेज जाग उठा और उसे अहिंसा का आधार मिला जो आतंकवाद की अपेक्षा दृढ़तर था।

विविध सामाजिक एवं शिक्षा-विषयक परिस्थितियों के कारण देश में नवीन भावना का उद्रेक हुआ। भारतवासी अब समझने लगे की स्वतंत्रता उनका जन्म-सिद्ध अधिकार है और उसकी प्राप्ति के साधनों मे सहयोग देने की भावना का विकास हुआ। पत्र-पत्रिकाओं ने देश में जागृति लाने में कम महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया है। अनेक पत्रों ने राष्ट्रीय नीति का आलम्बन किया और सरकार का कोप भाजन बनकर भी राष्ट्रीय भावना को जन-जन तक पहुंचाया। उनके सहयोग से ही देश के कोने-कोने से राष्ट्रीयता फैली।

इस काल में उदारवादी नीति थी। 'भारतीय उदारवादी जीवन के

प्रत्येक क्षेत्र में जनतांत्रिक आदर्श के साथ थे। वे भारतीय और अंग्रेजों में समानता चाहते थे।' पर असतोष के कारण आलोच्यकाल की राष्ट्रीयता उदारवादी कांग्रेसी नीति के बावजूद उग्रतर होती गई। दमन ने इस उग्रता को बल दिया।

जनता में राष्ट्रीय चेतना का जागरण इसकाल में प्रथम वार हुआ और उसने अभिभूत अनेक आन्दोलनों में सम्मिलित होकर राष्ट्रीयता को जन-मानस में प्रतिष्ठित होने का अवसर दिया। आलोच्यकाल की राष्ट्रीय चेतना जन-साधारण की राष्ट्रीय चेतना है।

इस काल में स्वतंत्रता की भावना तीव्र हुई और स्वशासन को अपना लक्ष्य घोषित किया। 'अपने राजनीतिक रूप मे भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा देश का शासन अस्वीकार करने लगी उससे मुक्ति की कामना करने लगी।'

विभिन्न आन्दोलनों के फलस्वरूप सरकार ने शासन में जो सुधार किये उससे भी यह स्पष्ट हुआ कि राष्ट्रीय चेतना के लक्ष्य की प्राप्ति इस पथ से ही सभव है।

कुछ अवरोधक शक्तियाँ भी इस काल में आई और उनसे देश-प्रेम की भावना कुछ दबी, लेकिन संपूर्णतः उसमें कोई कमी नहीं दृष्टिगत हुई। परवर्ती वर्षों में तो वे अवरोधक शक्तियां भी शिथिल होकर राष्ट्रीय चेतना के विकास में साधक ही हो गईं। संपूर्ण आलोच्यकाल की राष्ट्रीयता युगान्तरकारी राष्ट्रीयता है। यहीं से उसमें विद्रोह तत्व का समावेश होता है।

(ग) अभिव्यक्ति

(अ) काव्य-विषय

द्विवेदी युग की विविध परिस्थितियों ने भारतीय जीवन में मानस क्रान्ति उपस्थित की। फलस्वरूप जन-मानस का क्षेत्र विस्तृत हो गया। आर्य-समाज रामकृष्णमिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि भारतीय संगठनों तथा बुद्धिवाद, जनवाद मानवतावाद, स्वच्छन्दतावाद आदि की पश्चिमी लहर ने विचारों में युगान्तर उपस्थित किया। जन-मानस के प्रतिबिम्बित करने वाले काव्य-विषय में उनकी सहज एव सफल अभिव्यक्ति हुई। भारतेन्दु-युग में काव्य के विषय में क्रान्ति तो अवश्य हुई थी, लेकिन जीवन की यथार्थता का वर्णन उतना खुलकर नहीं हो सका। इस काल में जीवन की विविध

घटनाओं की अभिव्यक्ति के माध्यम से राष्ट्रीया चेतना को काव्य-विषय में नया स्वरूप प्राप्त हुआ वह स्वरूप भारतेन्दु युग के काव्य की तरह अल्प व्याप्त नहीं था, बल्कि वह इस युग में विस्तृत हो उठा । राष्ट्रीय चेतना के उस रूप की विविध अभिव्यक्तियों का मूल्यांकन हम यहां प्रस्तुत करेंगे ।

(१) **राजभक्ति** भारतेन्दु-युग राष्ट्रीयता के साथ राजभक्ति की जो धारा वही थी, वह द्विवेदी-युग में भी क्षीण एवं मन्द गति से बहती रही । इस युग की मुख्यधारा है राष्ट्रीयता की, राजभक्ति की नहीं, क्योंकि अधिकतर भारतीयों को अब तक यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि सम्राट् से अपने जीर्णोद्धार की आशा व्यर्थ है । इसलिए द्विवेदी युग की राष्ट्रीयता में सम्राट् की ओर देखने की प्रवृति नहीं है, किन्तु युगीन परिस्थितियों के प्रभाव के कारण कहीं-कही आधे उत्साह से राजभक्ति का स्वर भी ध्वनित हो उठा है । कांग्रेस बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में सुधारवादी सस्था के रूप में ही काम करती रही । बाद मे उसकी उदारवादी नीति से कुछ लोगों को असंतोष हुआ और उन्होने इस नीति का जोरदार विरोध किया । १९०७ ई० में कांग्रेस दो दलों में विभक्त हुई, किन्तु नरमदल का ही प्रभाव इस युग के अधिकांश काल में रहा । कांग्रेस ने १९१७ ई० तक राजभक्ति के प्रस्ताव अपने अधिवेशनों में स्वीकृत किये । इन परिस्थितियों के प्रभाव के कारण इस काल में भी राजभक्ति परक कविताओं के दर्शन होते हैं ।

इस युग में राजभक्ति के गति गानेवालों में सर्वप्रथम राधाकृष्णदास तथा श्याम बिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र हैं । १९०१ ई० में भारत की साम्राज्ञी विक्टोरिया के निधन पर राधाकृष्ण दास ने विलाप किया और सर्वत्र शोक की रेखा व्याप्त देखी । भारतेन्दुयुगीन चेतना के कवि होने के कारण विक्टोरिया को 'माता' रूप में भी उन्होंने संबोधित किया है । उसे दया मूर्ति तथा अनाथ भारत को दुख में आश्रय देने वाली कहकर उन्होंने विलाप किया है—

हाय दया की मूर्ति, हाय बिक्टुरिया माता ।
हा ! अनाथ भारत को दुख में आश्रय दाता ।

कवि ने विक्टोरिया 'माता' के यश का वर्णन विस्तार से किया है । अन्त में वह 'असीस' भी मांगता है—

तुव असीस या देस को दुख दारिद सबही बहै ।
उन्नति गौरव सब पूर्व सम यह भारत फिर सो लहै ।

भारतेन्दुयुगीन काव्य की छाया में श्री श्याम बिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र द्वारा रचित 'श्री विक्टोरिया अष्टादसी' का रचना काल भी १९०१ ई० ही है। उन्होंने भी 'सोह जगत जननि विक्टोरिया हाय आजु कित पगु धर्‌यो' कहकर उसे जगज्जननी का समादर दिया है तथा उनके निधन पर शोक प्रकट किया है। कवि ने अटल राजभक्ति की अभिव्यक्ति के क्रम में अपने दुर्भाग्य के कारण ही भारत का उद्धार न होना बताया है, क्योंकि भारतीय जनता को पुत्रवत समझने वाली तथा उसके दुख को अपना दुख समझने वाली 'श्रीमती' तो इसके लिए तत्पर ही थीं—

जदपि अभागे भारत के दुरभाग्यहि कारन।
आप नही श्रीमती सकीं इत हमे उधारन॥

पर हम सब प्रिय हुते उन्हें पुत्रन की नाईं।
भारत के दुख उन जान्यो निज दुःख सदाई॥

महारानी विक्टोरिया के निधन पर शोक-गीत रचना के पश्चात् १९०२ ई० में सम्राट सप्तम एडवर्ड के राजतिलकोत्सव पर लिखी गई हर्षोत्साह की कविताएं राजभक्ति की कोटि में आती हैं। राजकुमार कमलानन्द सिंह 'सरोज' ने श्री राजराजेश्वर सातवें एडवर्ड के तिलकोत्सव के उमग में उनका यशोगान किया है। उनके गुण से प्रजा उनके वश में है तथा उनका यश गाकर लोग प्रेमरस पगे हैं। कवि ईश्वर से प्रार्थना करता है कि वे अजातशत्रु हों, चिरायु हों तथा जब तक जगत् जंजाल में जीना है, जन्मजन्मान्तर तक उनके राज्य में ही निवास वह करे—

'तनय सुयोग्य प्यारे मातु विक्टोरिया के
तेरो गुन भारत को वशकर लीनो हैं।

नाम एडवर्ड सुनि आनन्द में पागे प्रजा
तेरो यश गाय लोग प्रेम रस भीनो हैं।

होय के अजातशत्रु जुग जुग जीओ सदा
जाचना सरोज सबै ईसुर सो कीनो हैं।

राज में तिहारे बास जनम जनम होय
जगत जंजाल मांहि जब लगि जीनो हैं।

'सरोज' जी भी विक्टोरिया को 'माता' कहकर अभिहित करते हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी 'बाल-विनोद' शीर्षक कविता में आलस्य, फूट, मदमोह

आदि दूर करने की प्रार्थना ईश्वर से करते हैं और अन्त में एडवर्ड के चिरायु होने की कामना करते हैं—

है एक और विनती तुमसे हमारी,
सो भी करौ सफल हे प्रभु पापहारी।
ये सातवें नृप नए यडवर्ड देव,
रानी समेत चिरजीवी रहें सदैव।

राजभक्ति का स्वर इस अवसर के उपरान्त मन्द पड़ गया, क्योंकि उसकी गूंज विशेष अवसरों पर होती रही है और ऐसा कोई अवसर दृष्टिगत नहीं हुआ। इसके दबने का दूसरा कारण है बंगभंग और स्वदेशी आन्दोलन का आविर्भाव तथा उसके कारण राष्ट्रीय भावना का उत्तेजन। राष्ट्रीय भावना की उत्तेजना में राजभक्ति मन्द पड़ गई। इसकी अभिव्यक्ति पुनः दिल्ली में आयोजित होने वाले पंचम जार्ज के मुकुटोत्सव में होती है। मैथिली शरण गुप्त 'राज्याभिषेक' में सम्राट् के भारत आगमन पर हर्ष प्रकट कर उनका स्वागत करते हैं तथा उन्हें चिरायु होने के साथ ही 'प्रजा-प्रेम-पीयूष प्रेम से पीते रहिये' का भी आशीष देते हैं। अपनी राजभक्ति का जोरदार सबूत देते हुए वे कहते हैं—

राजभक्त हमसा न विश्व में और कहीं है
ऐसा कहना स्वयं हमें ही उचित नहीं है।
यह अवश्य हम लोग कहेंगे उच्च स्वर से
है नृप का ही यहां दूसरा पद ईश्वर से।

उन्होंने 'भारतेश्वरो वा जगदीश्वरो वा' का भारतेन्दुयुगीन विश्वास राजभक्ति में व्यक्त किया है। इस क्रम में वे राजा के कर्तव्य का भी उल्लेख करते हैं कि उसका कर्तव्य है प्रजा रंजन, दुख-शोक-भंजन। अपनी स्थिति का वर्णन वे करते हैं, किन्तु कुछ मांगते नहीं। वे विनती करते हैं कि उनकी याद सम्राट् के मन में बनी रहे और उनकी कीर्ति भारत की जनता के मन में भूलती रहे—

छिपी आपसे नहीं हमारी स्थिति है कैसी,
उसका कहना व्यर्थ रहे वह चाहे जैसी।
बिनती है बस यही—हमारी याद न भूलें,
और आपकी कीर्ति हमारे मन में भूले।

क्रोड़ीमल मालू अपनी राजभक्ति निष्काम ईश्वर-भक्ति के निकट रखते हुए 'मिले बिन हिले जबान' की भावना व्यक्त करते हैं, क्योंकि सम्राट् यहां मेहमान हैं—

जो सकाम भक्ती नहिं भक्ती, उसको कहते मतलब गर्ज ।
जो निष्काम भक्ति है जानो, अपना धर्म लाज़िमी फर्ज़ ।
सब कुछ हमको मिला भूप से, शेष मिले बिन हिले जबान ।
नहीं उचित इस समय मांगना, भूप हमारे घर मेहमान ।

किन्तु लोचनप्रासद पाण्डेय ने राजभक्त बनकर अपना शासन स्वयं करने की मांग 'सम्राट्-स्वागत' नामक कविता में की है। वे ब्रिटिश पताका के अन्तर्गत ही रहकर 'स्वशासन' के आकांक्षी हैं—

राजभक्त बन अपना शासन आप करें हिलमिल हमलोग ।
ब्रिटिश पताका की छाया में पावें सकल समुन्नति योग ।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने भी १६१० ई० में 'स्वदेशी कुण्डल' में राजभक्ति की भावना व्यक्त की—

परमेश्वर की भक्ति, मुख्य मनुज का धर्म,
राजभक्ति भी चाहिये, सच्ची सहित सुकर्म ।

एक बात ध्यान देने की है कि १६०२ ई० के बाद राजभक्ति की जो तरंग आती है, उसमें सम्राट् को माता, पिता आदि कहकर अपने दुःख निवारण की कामना नहीं है । उसमें नरत्व में ईश्वरत्व का आरोप है । राजा में ईश्वर जैसे आस्था के आधार पर यह भक्ति खड़ी है ।

यह राजभक्ति उदारवादी राष्ट्रीय नीति का परिणाम है। उदारवादी वृति क्रान्ति की नहीं, सुधार की ओर उन्मुख है। इसलिए सुधार की आकांक्षा से ग्रस्त भारतीय जन-मानस में राजभक्ति प्रदर्शन द्वारा देश की दशा सुधारने की मांगें उभरीं और उनका प्रकाशन विविध अवसरों पर किया गया। यह भावना साम्राज्यवाद के पोषण की ओर उन्मुख नहीं है, यह सुधार की मांग की पृष्ठ-भूमि रूप में प्रस्तुत है। इसलिये इसमें विरोध दर्शन की अपेक्षा नहीं रह जाती। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस काल की राजभक्ति विशृंखल है, जो उसकी अशक्तता का द्योतन करती है ।

(२) **देशभक्ति**—आलोच्यकाल की कविता में राष्ट्रीय चेतना का स्वर जितना तीव्र है, उसकी तुलना में राजभक्ति नगण्य-सी लगती है। राजभक्ति

के साथ देशभक्ति की रचनाओं का कारण बताते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'उस समय देश के राजनीतिक प्रयत्नों में अवरोध और विरोध का बल नहीं आया था और लोगों की पूरी धड़क नहीं खुली थी।' इसलिए कुछ कवियों की रचनाओं में जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, भारतेन्दुयुगीन देशभक्ति के साथ राजभक्ति का स्वर भी गूंजता है, किंतु ज्यों-ज्यों राजनीतिक क्षेत्र में अवरोधता और उत्तेजना आती गई, हिन्दी कविता में राष्ट्रीय चेतना दृढ़तर एवं सतेज होती गई।

राष्ट्रीय चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति देश भक्ति में है, किन्तु यह देशभक्ति संकुचित अर्थ में ग्राह्य नहीं है जिससे आर्यो का आर्यावर्त प्रेम अभिहित किया जाय। देश में बसने वाले प्रत्येक जन की उसके प्रति भक्ति देश-भक्ति में मुखर होती है और इसी अर्थ में यहाँ इसका व्यवहार किया गया है।

देशभक्ति अथवा देशप्रेम को धारा हिन्दी काव्य में कई रूपों मे होकर बही है। उसमें सर्वप्रथम है अतीत वर्णन का स्वर। अतीत का गौरव गान राष्ट्रीयता के सास्कृतिक पक्ष को स्पन्दित करता है। यह पक्ष यदि सम्पूर्ण जन की चेतना को अभिव्यक्त करे तो उसे आदर्श रूप में ग्रहण किया जा सकता है। अन्यथा एक खण्ड की सास्कृतिक चेतना की परम्परा का गान करने वाली कविता एकांगी है और कभी वह राष्ट्रीय चेतना के विकास में अवरोधक भी हो सकती है।

इस काल में हिन्दू सस्कृति के गौरवमय दृश्यों का ही वर्णन विशेष रूप से हुआ, इसलिए मुसलमानों में अपनी जाति के उत्थान की भावना उग्र होने लगी और दोनों जातियों में विरोध-भाव बढ़ा। इसका अर्थ यह नहीं कि इस काल में मुस्लिम-विरोधी भावनाओं का ही प्रकाशन हिन्दी काव्य मे हुआ। आगे चलकर हम देखेगे कि किस प्रकार एकता गीत भी गाये गये हैं और उससे राष्ट्रीय चेतना को बल मिला है।

इतनी बात सर्वमान्य है कि अतीत के गौरवमय पृष्ठ पतित जाति को उद्बोधन प्रदान करने के लिए, उसके भीतर की हीनता की भावना को दूर करने के लिए, देश के उद्धार के लिए सक्रिय होने की प्रेरणा देने के लिए अनावृत होते हैं। इन सबका व्यापक प्रभाव देश की राष्ट्रीय चेतना पर होता है और वह उद्बुद्ध होती है। इस दृष्टि से ही हिन्दी काव्य में अतीत का गौरव गीतों में फूट पड़ा था।

अतीत गौरव गान—भारत का अतीत अनेक गौरवमय ओजस्वी दीपस्तंभों का संघटन है। अपनी वर्तमान दशा की तुलना में द्विवेदीयुगीन कवियों ने

अपने उज्ज्वल अतीत की महिमा का गान किया। यह स्पष्ट है कि इसमें हिन्दू जाति का गौरव वर्णित होने के कारण मुसलमानों का गौरव व्यक्त न हो सका। किन्तु यह भी सही है कि हिन्दू संस्कृति का उद्बोधन गीत होने के बावजूद उसमें मुसलमानों का विरोध नहीं हुआ है। ऐसे काव्य में जहाँ भी मुसलमानों का प्रसंग आया है, कवियों ने ऐतिहासिक तथ्य का कथन मात्र किया और मुस्लिम शासन के अत्याचार को ध्वनि दी। यह कथन भी साम्प्रदायिक कहा जा सकता है, क्योंकि इससे एक जाति विशेष के दोष के कथन से अत्याचार पीड़ित जाति के द्वेष को उभरने का बल मिलता है। कौन कह सकता है कि पाकिस्तान के निर्माण के पीछे इन अतीतोन्मुखी रचनाओं का हाथ नहीं रहा है। जो हो, यह निश्चित है कि अतीत गौरव वर्णन के द्वारा एक ओर जहाँ राष्ट्रीयता को बल मिला, वहां दूसरी ओर मुसलमानों में भी अपनी जाति को पृथक् इकाई मानने की भावना जगी, जिससे राष्ट्रीयता के क्षेत्र में उनकी पृथक् नीति की उद्भावना हुई, जो अवरोधक शक्ति बनकर आई।

अतीत गौरव गान की सर्वोत्कृष्ट एवं प्रसिद्ध रचना 'भारत भारती' है। भारत-भारती का प्रेरणा स्रोत मौलाना हाली का मुसद्दस है। सर सैयद अहमद खाँ ने, जो मुसलमानों के सांस्कृतिक नेता थे, मुसलमानों के जातीय कवि मौलाना हाली को 'मदो जज्रे इस्लाम' अर्थात् इस्लाम का ज्वार भाटा दिखाने के लिए एक ऐसे काव्य की रचना की प्रेरणा दी, जिससे मुसलमानों मे प्राण-संजीवनी जाग उठे। और हाली के इस दिशा में किये प्रयत्न का फल 'मुसद्दस' है। निश्चित रूप से हाली के मुसद्दस से मुसलमानो में नयी जागृति आई और उनमें मुस्लिम सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का उदय हुआ। इससे यह भी जाहिर हो जाता है कि जातीय चेतना के उदय की दृष्टि से मुसलमान हिन्दुओं से आगे थे। हाली के मुसद्दस को लक्ष्य करके इस ढंग की एक कविता-पुस्तक हिन्दुओं के लिखने की प्रेरणा कुर्री सुदौली के अधिपति राजा रामपाल सिंह ने मैथिली शरण गुप्त को दी। और गुप्त जी के प्रयत्न 'भारत—भारती' बनकर गूँज उठे।

गुप्त जी संस्कृति शून्य राष्ट्रीयता के पोषक नहीं हैं। अपनी भारत-भारती के माध्यम से गुप्त जी ने भारत के अतीत गौरव का दर्शन कराया और हिन्दू जाति को उत्थान की ओर अभिप्रेरित किया। कवि का उद्देश्य हिन्दुओं में सोई हुई राष्ट्रीय भावना, गौरव भावना को जगाना है। कवि लेखिनी को संबोधित करके कहता है—

स्वच्छन्दता से कर तुझे करने पड़े प्रस्ताव जो,
जग जायं तेरी नोंक से सोये हुए हों भाव जो ।

वह हिन्दुओं को बता देना चाहता है कि वे कौन थे । भूत-दर्शन ही नहीं, वह वर्तमान और भविष्यत् की ओर भी आता है और सारी समस्याओं पर विचार करता है । इसलिए इस पुस्तक को तीन खण्डों में विभाजित किया गया है—अतीत खण्ड, वर्तमान खण्ड, भविष्यत् खण्ड । अतीत खण्ड में भारत के परमोज्ज्वल अतीत का उदात्त वर्णन प्रस्तुत किया गया है । आज भारत वृद्ध है, लेकिन यही कभी संसार का शिरोमणि था । ईश्वर की सम्पूर्ण विभूतियों का भाण्डार यह देश ही है, नर-सृष्टि के विस्तार का क्षेत्र भी यही है—

हाँ, वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है,
ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है ?
भगवान की भवभूतियों का यह प्रथम भाण्डार है,
विधि ने किया नर सृष्टि का पहले यहीं विस्तार है ।

कवि ने अनेक प्रकार से भारतवर्ष की श्रेष्ठता एवं महत्ता का वर्णन किया । भूतकाल में भारत सभी क्षेत्रों में उन्नत था और उस उन्नतावस्था का बड़ा सजीव वर्णन भारत-भारती में हुआ है । उसकी उन्नति के गीत देवता भी गाते हैं—

सब देश विद्या प्राप्ति को संतत यहां आते रहे,
सुरलोक में भी गीत ऐसे देव-गण गाते रहे—
हैं धन्य भारतवर्षवासी धन्य भारतवर्ष है,
सुरलोक से भी सर्वथा उसका अधिक उत्कर्ष है ।

तत्कालीन परिस्थितियों में भारत-भारती 'देशप्रेमी नवयुवकों का कण्ठहार' बन गयी थी । 'यदि 'मुसद्दस' मुसलमानों का जातीय बाइबिल है, तो भारत-भारती वस्तुतः हिन्दुओं की गीता सिद्ध हुई ।' इस प्रकार भारत-भारती के अतीत-दर्शन ने राष्ट्रीय-चेतना को संगठित एवं सशक्त बनाया ।

हिन्दुओं के जातीय गौरव की व्यंजना होने के कारण इसे कुछ लोग साम्प्रदायिक अथवा जातीय काव्य ही मानते हैं । आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी मानते हैं कि 'भारत-भारती में राष्ट्रीय भावना उतनी प्रबल नहीं है जितनी साम्प्रदायिक भावना ।' किन्तु डा० सुधीन्द्र के अनुसार 'भारत-भारती में अपने युग की राष्ट्रीय चेतना का और उसके कवि में अपने समय के राष्ट्रीय प्रवक्ता का प्रतिनिधित्व है ।'

भारत-भारती में हिन्दू जाति का गौरव अवश्य वर्णित है, लेकिन यह मुस्लिम गौरव वर्णन की प्रतिक्रिया है। यह भी सही है कि इसमें मुस्लिम-विरोधी स्वर नहीं है, मात्र हिन्दुओं का गौरव-वर्णन है। लेकिन इस आधार पर उसे शुद्ध राष्ट्रीय काव्य नहीं कहा जा सकता। उसमें राष्ट्रीयता को बल देने का लक्ष्य है, किन्तु सम्पूर्ण जन की गौरव-गाथा न होने के कारण इसे साम्प्रदायिकता के दोष से हम मुक्त नहीं कर सकते। डा० सुधीन्द्र ने कहा है कि उन्होंने अपनी युग की राष्ट्रीयता के अनुरूप वर्णन किया है। इसलिए इसे जातीय अथवा साम्प्रदायिक काव्य नहीं कहा जा सकता। उन्होंने यह भी कहा है कि २०वीं सदी की राष्ट्रीयता सांस्कृतिक हैं और उसका रूप इसमें है। इन तर्कों के बावजूद उसे पूर्ण राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक मानने में कठिनाइयाँ हैं। जिस समय भारत-भारती की रचना हुई, मुसलमान हिन्दू से अलग हट रहे थे और अपना अलग संगठन भी उन्होंने कायम कर लिया था। ऐसी दशा में अपेक्षा इस बात की थी कि राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए दोनों जातियों के संयोग की भावना को बढ़ाने वाले काव्य की रचना की जाय, एकता स्थापित करने की भावना काव्य के द्वारा व्यक्त की जाय। यह सब भारत-भारती में नहीं है। मुसलमानों का विरोध न होने पर भी यह राष्ट्रीय चेतना की तत्कालीन माँग की पूर्ति करने वाला काव्य नहीं ठहरता। इसलिए जातीय उत्कर्ष को व्यक्त करने वाले इस काव्य को हम साम्प्रदायिक अवश्य ही कहेंगे, यद्यपि उसके द्वारा राष्ट्रीय चेतना भी विकसित हुई है। प्रतिक्रिया-स्वरूप उसकी रचना भी तो हुई है। इसलिए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का कथन पूर्णतः सत्य ज्ञात होता है।

गुप्त जी के अतिरिक्त सियाराम शरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, त्रिशूल आदि कवियों ने भी भारत के गौरव की गाथा गाई और भारत-भारती की तरह ही राष्ट्रीय चेतना जगाई।

वर्तमान की प्रतिध्वनि और उसकी प्रेरणा—अतीत-गौरव गान वर्तमान के धूमिल एवं करुण चित्र की पृष्ठभूमि में आता है। अतीत की उज्ज्वलता में वर्तमान की मलीनता और भी प्रखर हो उठती है। इस दृष्टि से अतीत वर्णन वर्तमान के क्षोभ एवं आक्रोश का पूरक है। वह वर्तमान के करुण एवं विषाद-मय महाकाव्य की भूमिका है, जिसके प्रकाश में सारी स्थितियाँ तुलनात्मक रूप में मुखर होती जाती हैं।

आलोच्यकाल की परिस्थियों की प्रेरणा से रचित राष्ट्रीय काव्य का विस्तार सुदीर्घ है। वर्तमान ने राष्ट्रीय काव्य को जितनी अभिव्यक्ति दी है,

उतनी और किसी ने नहीं। इसलिए वर्तमान अवस्था से सम्बन्धित काव्यों का आकार भी वृहत् है। उसमें विविध रूपों के भी दर्शन होते हैं।

मातृभूमि का दैवीकरण—आलोच्यकाल की राष्ट्रीय कविता का एक प्रमुख स्वर मातृभूमि के दैवीकरण का है। मातृभूमि के प्रेम में उदात्त का संयोग होने पर उसमें श्रद्धा का भी समावेश हो उठता है और तब वह पूज्य हो उठती है। वैसे भी जन्मभूमि को माता मानकर उसे माता की सम्पूर्ण श्रद्धा एवं स्नेह दिया जाता रहा है, किन्तु उसे अब उदात्तीकरण के फलस्वरूप दैवी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

मातृभूमि को देवी मानने की परम्परा का सूत्रपात भारतेन्दु युग में ही श्रीधर पाठक की भारत-वन्दना शीर्षक कविता के साथ होता है, लेकिन वह भावना पुष्ट नहीं हो सकी थी। उसे पुष्टि प्राप्त हुई द्विवेदी युग में, जब क्रान्तिकारियों के कारण मातृभूमि को दुर्गा, काली आदि पूज्य एवं आराध्य देवियों का गौरव प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त उसे लक्ष्मी आदि का रूप भी माना गया है।

मातृभूमि को शक्ति का प्रतीक मानने की परम्परा को माता सम्प्रदाय के क्रान्तिकारियों से विशेष बल मिला। बंकिमचन्द्र ने अपने उपन्यास 'आनन्दमठ' में माता के भूत, भविष्यत् और वर्तमान रूप की कल्पना की। दुर्गा से उनके भक्तों ने श्वेत राक्षसों, जो इस भूमि के निवासियों पर अत्याचार कर रहे थे, को समाप्त कर देने की प्रेरणा ग्रहण की। किन्तु इस काल में क्रान्ति की उस भावभूमि पर हिन्दी साहित्य नहीं आ सका। प्रतीक रूप में ग्रहण किये गये आख्यानों एवं तथ्यों के माध्यम से देश पर अत्याचार करने वालों को हिंसा से खत्म कर देने का भाव-संकेत अवश्य मिलता है, जिसका विश्लेषण हम बाद में करेंगे, किन्तु जहाँ तक मातृभूमि के दैवीकरण की बात है, उसमें माता के गुण-गान एवं श्रद्धा प्रदर्शन की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया।

राष्ट्रीय चेतना की मूल भावना का विकास भूमि के आधार पर होता है। राष्ट्र की भौगोलिक एकता की पृष्ठभूमि पर मातृभूमि के दैवी रूप की कल्पना निश्चित रूप से देशभक्ति की उदात्त भावना है और यहाँ तक इसमें किसी प्रकार की संकीर्णता का समावेश नहीं होता। भारत-माता के उदात्त रूप के प्रथम गायक श्रीधर पाठक थे। उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में स्वाधीन एवं प्राचीन हिन्द का जय-गान किया। देश के प्रति अपना असीम अनुराग उसके सूक्ष्म रूप की कल्पना के माध्यम से भी संभव है और उसके द्वारा अपनी तन्मयता, श्रद्धा प्रकट की जा सकती है, किन्तु श्रद्धा पूंजीभूत होकर

देवत्व की प्रतिभा के रूप में साकार हो जाती है। यही साकारता बंकिम बाबू के 'आनन्दमठ' नामक उपन्यास में मातृभूमि के दुर्गा रूप को लेकर प्रकट हुई है। बंकिम बाबू ने 'आनन्द मठ' में 'बन्दे मातरम्' नामक गीत लिखा था। बंगभंग के समय जनता ने इस गीत को बड़ी श्रद्धा से राष्ट्रगीत रूप में स्वीकार किया। स्वदेशी आन्दोलन के साथ इस गीत का प्रचार भी राष्ट्र में हुआ और प्रत्येक कंठ से यह स्वतंत्रता का राष्ट्रगीत फूट पड़ा। इसमें साम्प्रदायिकता कीं गंध है, किन्तु हिन्दी कवियों ने इस काल में इस गीत के आधार पर मातृवंदना के अनेक गीत लिखे। इस प्रकार दैवीकरण का सूत्रपात हिन्दी साहित्य में श्रीधर पाठक से होता है। 'श्रीधर पाठक हिन्दी में भारत दैवत के प्रथम महागायक थे।' उनके साथ ही भारत भूमि के देवत्व के गायक मैथिली शरण गुप्त, महावीर प्रसाद द्विवेदी, राय देवीप्रसाद पूर्ण, गिरिधर शर्मा, गोपाल शरण सिंह, रूपनारायण पाण्डेय आदि हुए, जिसके श्रद्धामय स्वर से हिन्दी साहित्य गूँज रहा था।

दैवीकरण की भावना तीन रूपों में व्यक्त हुई है। प्रथमतः उसकी भौगोलिक एकता की पृष्टभूमि का कथन और राष्ट्र के समग्र एवं समन्वित रूप के प्रति श्रद्धा भाव रूप में। दूसरे, उसकी अभिव्यक्ति राष्ट्र के जन की एकता को दृष्टि मे रखकर हुई है और देश के ऐसे देवी रूप की महिमा का वर्णन कवियों ने किया है। तीसरे, उसके गुणों का वर्णन हुआ है तथा उसके भव्य रूप का अभिनन्दन कवियों ने किया है। महिमा-गान तथा गुणों का वर्णन तो प्रत्येक काव्य में हुआ है, किन्तु भू और जन से सम्बद्ध एकात्म भाव की अभिव्यक्ति प्रत्येक में नहीं है। अधिकतर भारत की प्राचीन महिमा का वर्णन ही किया गया है, जो अतीत-वर्णन का ही एक अग है। श्री गिरिधर शर्मा ने 'भारत माता' शीर्षक कविता में भूमि की महिमा बताते हुए इसे 'सुजल सुफल', 'शस्य श्यामल', 'मलयज शीतल' कहकर विबुध-मनोहर भी कहा है—

'सुजल-सुफल' है मही यहाँ की,
'सस्य श्यामल' मही यहाँ की,
'मलयज शीतल' मही यहाँ की,
'विबुध मनोहर' मही यहाँ की। (सरस्वती सं०, १६०५)

महाबीर प्रसाद द्विवेदी ने भी 'वन्देमातरम्' की भूमि पर हिन्दी में बन्देमातरम् प्रतिबिम्बित किया और सजल, सुफल आदि बताया और इस मूर्ति का ही भावन अपना इष्ट बताया—

पानी की कुछ कमी नहीं है, हरियाली लहराती है,
फल औ फूल बहुत होते हैं, रम्य रात छवि छाती है।
मलयानिल मृदु मृदु बहती है शीतलता अधिकाती है,
सुखदायिनी वरदायिनी तेरी, मूर्ति मुझे अति भाती है।

मैथिलीशरण गुप्त ने मातृभूमि के स्वरूप की और भी विराट् एवं उदात्त कल्पना की तथा उसे गौरवमय बनाया—

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है,
नदियाँ प्रेम-प्रवाह फूल तारे मण्डल हैं,
बन्दी विविध विहंग, शेषफन सिंहासन है।

इस प्रकार कवि की उदात्त कल्पना ने उसे सिंहासनारूढ़ किया और उसमें सर्वेश की सगुण मूर्ति का आधान किया। राष्ट्र के स्वरूप के अन्यतम आख्यान गायक गुप्त जी ने भारतभूमि को वास्तविक भौगोलिक स्थिति के अन्तर्गत रखकर भी उसका जयगान किया है। भारत गीत शीर्षक कविता में व्यक्त यह रूप देखिये—

उन्नत-भाल-विराजित चारु हिमाचल है।
प्रनत पयोधि-प्रसर्पित-पद-चल-अँचल है।
जय जय भारत हे !
जय भारत, जय भारत, जय जय भारत हे।

भारत के देवी रूप के दूसरे निष्ठावान गायक माधव शुक्ल ने 'देश-वन्दना' शीर्षक कविता में देश के सम्पूर्ण अंगों की वन्दना की। उन्होंने महाराष्ट्र, बंग, सिन्ध, राजस्थान, मद्रास, पंजाब तथा युक्तप्रान्त से संयुक्त पुण्य-भूमि की जय ध्वनि का गुंजार किया और स्वदेश हिन्द देश में स्वराज्य का जोश भर दिया—

जयति जयति हिन्द देश, जय स्वराज जय स्वदेश।
जयति महाराष्ट्र बंग, सिंध राजस्थान संग।
भद्र पंचनद सुशान्त, पुण्यभूमि युक्त प्रान्त
जयति जयति हिन्द देश।

श्रीधर पाठक ने भारत के भव्य रूप का आलेख किया है और अपना सम्पूर्ण प्रेम अपने प्राणोपम स्वदेश के चरणों पर न्योछावर कर दिया है-

जय जय शुभ्र हिमाचल शृंगा
कलरव निरत कलोलिनि गंगा
भानु प्रताप चमत्कृत अंगा
तेज पुंज तपवेश ।
जय जय प्यारा भारत देश ।

उनका प्यारा देश संसार से न्यारा है, संसार का मुकुट है और है ईश्वर का दुलारा । पृथ्वी का स्वर्गिक शीश फूल है, प्रकृति नटी का सुललित टीका है जैसे रात्रि का टीका है चन्द्रमा । ऐसे भव्य भारत का जयगान कवि ने बड़े अनुराग के साथ किया है । ऐसा देश कवि के तन, मन, धन, जन तुल्य है । ऐसे देश के प्रति प्रणति निवेदन कवि श्रीधर पाठक ने भारतगीत की भारत-वन्दना शीर्षक गीत में किया है—

प्रनमामि सुभग सुदेश भारत सतत मम मनरंजनम् ।
मम देश मम सुखधाम मय तन-प्रान-धन-जन जीवनम् ।

जयदेव के गीत गोविन्द की पृष्ठभूमि पर भी कवि ने वन्देमातरम के स्वर में वन्दना गीत गाया है—

बन्दे भारत देशमुदारम्
सूखमा-सदन-सकल-सुख सारम्

भारत वन्दना के क्रम में कवियों ने जन्मभूमि के सौख्य एवं रूप अंकन के पश्चात् उसके जन की ओर भी ध्यान दिया है और सम्पूर्ण जन-जीवन को जयनाद से अह्लादित कर दिया है । प्रत्येक जन को जन्मभूमि के स्वरूप में समन्वित कर एकता की भावना के विकास की ओर कवियों ने पुरश्चरण किया है । उनका यह प्रयास निश्चित रूप से राष्ट्रीय चेतना के विकास में अभूतपूर्व योगदान करता दीखता है । सर्वप्रथम इस काल में महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'जन्मभूमि भारत भूमि' शीर्षक कविता आती है । द्विवेदी जी ने इसकी भावना एक गृह के रूप में की तथा प्रत्येक जन को उसमें निवास करने वाले कुटुम्ब का अङ्ग बताया । इस प्रकार उन्होंने सर्वप्रथम जन की एकता, जन-जन के बन्धुभाव का मन्त्रोच्चार किया और जन्मभूमि की वन्दना की नयी कड़ी का सूत्रपात हुआ—

यह जो भारत भूमि हमारी
जन्म भूमि हम सबकी प्यारी
एक गेह सम विस्तृत भारी
प्रजा कुटुम्ब तुल्य है सारी ।

गिरिधर शर्मा भी अपनी मातृभूमि के चरणों पर सब कुछ न्योछावर करने को प्रस्तुत हैं। इस जन्मभूमि को वे राम, कृष्ण आदि की माता बताते हैं तथा भारतवासियों को उनका बंधु कहते हुए 'भारत माता' नामक गीत में अखण्ड बन्धुत्व की प्रेरणा देते हुए कहते हैं —

इक तन इक मन हो सब भाई,
आओ मिल लें भाई-भाई ।
माता इससे सुख पावेगी,
लोक मान्य यह हो जावेगी।

मैथिलीशरण गुप्त भारत को स्वर्ग-सहोदर बताते हैं और इसी क्रम में उसकी समन्वित जन-शक्ति को उद्बुद्ध करते हैं-

जन तीस करोड़ यहाँ गिन के,
कर साठ करोड़ हुए जिनके।
जग में वह कार्य मिला किसको-
यह देश न साध सके जिसको।

इसमें कवि ने भारत की जन-चेतना का महत् गान किया है और उसकी सहज शक्ति को जगाने का प्रयास किया है। इस प्रकार उन्होंने जन-भावना से संयुक्त मातृभूमि के रूप की प्रबल महिमा का आख्यान प्रस्तुत किया है और एकता का संदेश देकर राष्ट्रीयता को बल दिया है। रूपनारायण पाण्डेय भी जन की एकता का स्वर ऊँचा उठाते हैं-

जैन, बौद्ध, पारसी, यहूदी, मुसलमान, सिख भाई।
कोटि कंठ से मिलकर कह दो हम सब हैं भाई-भाई।
पुण्यभूमि है, स्वर्गभूमि है, जन्मभूमि है देश यही,
इससे बढकर या ऐसी ही दुनिया में है जगह नहीं।

जन और भूमि की एकता के आधार पर मातृभूमि के प्रति अनुराग एवं भक्ति के प्रदर्शन के बाद उसे देवी अथवा स्वर्गोपम बताकर उसकी महिमा का वर्णन करने की तीसरी धारा इस दिशा में प्रवाहित हुई है। अपने आराध्य की महिमा का गान भक्त करता है और इस प्रकार अपने हृदय की श्रद्धा को ऐसे महिमा-मंडित देव के चरणों पर समर्पित कर देता है। देश भक्ति के भाव से ओत प्रोत कवियों ने इसी महिमा गान के लिए तथा पूर्व स्वरूप को स्मरण दिलाने और शक्ति जगाने के निमित उन्हें देवी रूप में अथवा देव रूप में माना है। धर्म प्राण देश भारत में कवियों ने देश के प्रति उमड़ती हुई श्रद्धा को

समर्पित करने का एक माध्यम ढूंढ़ा और वह था उसके देवी रूप का आलेख। इस तरह उनकी श्रद्धा भावना को अभिव्यक्ति का एक आधार प्राप्त हुआ। श्री मैथिलीशरण गुप्त भारतभूमि के भव्य रूप का वर्णन करते हुए उसमें सर्वेश की सगुण मूर्ति की प्रतिष्ठा करते हैं–

हे मातृ भूमि ! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।

मातृभूमि के दुर्गा रूप का वर्णन करते हुए रामनरेश त्रिपाठी ने 'मातृभूमि' की वन्दना की है–

अभय दुर्जया शक्ति-धारिणि,
निमिष में अरि उर विदारिणि,
खड्ग हस्ता तेज रूपिणि,
देवि दुर्जन दलनि।

सियारामशरण गुप्त ने जन्मभूमि को लक्ष्मी रूप में देखा और उसके दैन्य-दुख निवारिणी रूप का जय गान किया है–

जय अनिल कंपित मनोरम श्याम अंचलधारिणी
व्योमचुम्बी भाल हिमगिरि है तुषार किरीट है
जय जयति लक्ष्मी स्वरूपा दैन्य-दुख निवारिणी।

इनके अतिरिक्त कामता प्रसाद गुरु ने जन्मभूमि, लोचन प्रसाद पाण्डेय ने हमारा देश, गोपालशरण सिंह ने मातृभूमि, रामनरेश त्रिपाठी ने जन्मभूमि-भारत भूमि, मन्नन द्विवेदी ने मातृभूमि, शिवनारायण द्विवेदी ने मातृगान, सियारामशरण गुप्त ने जननी शीर्षक कविताओं के माध्यम से जन्म भूमि की प्रशस्तियाँ गाईं और सम्पूर्ण देश में देशप्रेम की भावना जगाई। उनके समन्वित गान के प्रभाव से भारत चेतना-संपूर्ण हो उठा और राजनीतिक तथा राष्ट्रीय क्षेत्र में विविध क्रियाशीलताओं के दर्शन होने लगे।

इस काल में मुसलमानों में एक पृथक् जातित्व की भावना का जागरण हो चुका था और इस दिशा में उनके कदम उठ रहे थे। सरकारी सहयोग भी उन्हें प्राप्त था। इस काम में भारत का जयगान करने वाले कवियों ने जन एवं भूमि की एकता के उद्घोष के द्वारा दो टूटती हुई जातियों को एक सूत्र में बाँधने का उत्साह दिखलाया और यह बताया कि देश का कल्याण बन्धुत्व की भावना के आधार पर ही संभव है। इस दिशा में मातृ-भूमि के दैवीकरण की जो प्रवृत्ति लक्षित होती है उसमें हिन्दुत्व के अंश को ही बल मिला है, लेकिन उसमें संकीर्णता नहीं है। भारतभूमि में ऐसे देवी

अथवा देवों के स्वरूप का आधान किया गया जिनके द्वारा भारत का उद्धार संभव है। दुर्गा रूप में चित्रित भारत माता दुष्टों का दमन करने वाली ही दिखाई गई है।

एक बात और भी विचारणीय है कि भारत-स्तवन के सभी गीतों का स्वर "वन्देमातरम्" अथवा "जन-गन-मन अधिनायक" वाले गीत पर ही आधारित है। इनमें कवियों का देश-प्रेम प्रस्फुटित हुआ है मातृभूमि के प्रति श्रद्धा-पुण्य बनकर और इस माध्यम से उन्होंने देश में राष्ट्रीय चेतना का जयगान किया है।

वर्तमान के प्रति क्षोभ एवं आक्रोश—अतीत की गौरव-गाथा वह पृष्ठ-भूमि है, जिस पर वर्तमान के परमोज्ज्वल प्रासाद की स्थापना की कामना लहराती रहती है। यह कामना जब वर्तमान की यथार्थ भावभूमि से टकराकर चूर होती है तो क्षोभ एवं आक्रोश का भाव जगता है। इस प्रकार अतीत की गरिमा के प्रकाश में धूमिल वर्तमान का सामंजस्य न हो पाने के कारण ही आक्रोश का जागरण होता है। यह जागरण जन-मानस का स्वतंत्रता के लिए जागरण है, राष्ट्रीय चेतना का जागरण है। इस दृष्टि से वर्तमान अतीत का पूरक बन जाता है, क्योंकि उसके अभाव में वर्तमान का पूर्ण चित्र नहीं उग पाता।

राष्ट्रीय चेतना से अभिभूत हिन्दी कवियों ने वर्तमान दैन्य का करुणामय रूप अंकित किया है तथा उसके मूल कारणों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। वर्तमान दुरवस्था से उत्पन्न क्षोभ एवं आक्रोश की भावना शतधा होकर फूटती है। कहीं वह वर्तमान राजनीतिक घटनाओं के प्रकाश में शासन की क्रूरता एवं अत्याचार का विश्लेषण बनकर फूटी, कही जागृति की प्रेरणा, उत्साह एवं उद्बोधन बनकर और कहीं बलिदान की बलवती आकांक्षा होकर प्रवाहित हुई। इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना इस युग में अनेकरूपा बन गई।

भारत के वर्तमान रूप के महागायक मैथिलीशरण गुप्त थे। उन्होंने भारत भारती के पृष्ठों पर जहां एक ओर अतीत का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत किया, वहीं दूसरी ओर वर्तमान दुरवस्था का भी बड़ा वेदनामय रूप अंकित किया। उनकी भारती कहीं अपनी व्यथा एवं तज्जनित करुणा से भरी है, कहीं क्षोभ और आक्रोश बनकर फूट पड़ी है और कहीं उद्बोधन से मुखरित है। कवि भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् की समस्याओं पर भारत-भारती में विचार प्रकट करता है—

हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी,
आओ विचारें आज मिल कर ये समस्याएं सभी।

अतीत की पृष्ठभूमि पर वर्तमान को देखकर कवि का हृदय दुख एवं करुणा से भर उठता है और वह गा उठता है—

वह बोधि द्रुम कहाँ गया है ?
महावीर की दया कहाँ है ?
जो कुछ है सब नया यहाँ है,
वही पुराना भारत हूँ मैं ?
हूँ या था, चिन्तारत हूँ मैं ?

अतीत के दृष्टिकोण से जिस भारत के दर्शन कवि को हुए हैं, वह चिन्तारत है। भारत की सारी निधियाँ, सारी महानता, सम्पूर्ण श्री नष्ट होने के कारण कवि उसके भयंकर वेश को देखता है और विचार करता है कि आज उसका शुद्रत्व और पशुत्व ही शेष है —

भारत तुम्हारा आज यह कैसा भयंकर वेष है ?
है और सब निःशेष केवल नाम ही अब शेष है।
ब्रह्मत्व, राजन्यत्व युत वैश्यत्व भी सब नष्ट है,
शुद्रत्व और पशुत्व ही अवशिष्ट है, हा कष्ट है।

देश की ऐसी दशा देखकर भला कौन ऐसा देश प्रेमी होगा जिसके हृदय मे क्षोभ न जाग उठे। क्षोभ और आक्रोश की अभिव्यक्ति एक ओर जहाँ अधोगति जनित है, वहाँ दूसरी ओर शासन की विविध क्रूर एवं दमनपूर्ण क्रियाओं की प्रतिक्रिया भी है। इसलिए राजनीतिक हलचलों के प्रकाश में भारत के जन-जीवन की जागृति का अध्ययन हम करें।

राजनीतिक क्रियाओं की प्रतिक्रिया—अतीत-दर्शन, देशभूमि का दैवीकरण आदि भाव राष्ट्रीय चेतना के सांस्कृतिक पक्ष के अन्तर्गत विद्वानों द्वारा परिगणित हैं। राजनीतिक हलचलों की प्रतिक्रिया की व्यंजना करने वाली कविताओं को ही राष्ट्रीय चेतना की पूर्ण एवं शुद्ध अभिव्यक्ति प्राप्त हो सकी है।

जाग्रत देश शासकों की क्रूर क्रियाओं का प्रतिरोध करता है। वह शासन की राष्ट्रीयता विरोधी क्रियाओं का विरोध करता है और अपने भीतर बल एवं उत्साह संजोकर परतंत्रता के जुए को फेंक देना चाहता है। स्वतंत्रता की कामना वेगमय हो उठती है। इस प्रकार उसमें राष्ट्रीय जीवन की गतिविधि

का सही अङ्कन प्रस्तुत किया जाता है। राष्ट्रीय जीवन के प्राणों का स्पन्दन इसमें व्यक्त हो उठता है।

भारतेन्दु-युग में राष्ट्रीय चेतना की पृष्ठभूमि तैयार हुई, उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति तो द्विवेदी युग में हुई। भारतेन्दु-युग में देश-प्रेम अथवा राष्ट्रीयता का जो स्वर उठा था वह क्षीण था, जन-जीवन के आकुल कंठ की पुकार वह नहीं था, किन्तु द्विवेदी युग में अभिव्यक्त राष्ट्रीय काव्य जन-मानस की आकांक्षा है। वह अकेले कंठ की पुकार नहीं है, बलिक अनेक कंठों का समवेत गान है। राष्ट्रीय जीवन में हुए अभियानों का अङ्कन द्विवेदी युग में ही मिलता है। इस काल की कविता में स्वतन्त्रता की हुकार है, विद्रोह एवं विध्वंस की वाणी है, स्वतंत्रता के लिए बलिदान होने के आकांक्षी प्राणों का उत्साह एवं उल्लास है। इसलिए विवेच्यकाल की राष्ट्रीय कविता को राजनीतिक पक्ष में विद्रोह प्रकट होने लगता है।

बंगभंग द्विवेदी युग की प्रथम राजनीतिक घटना है जिसका देश पर व्यापक प्रभाव पड़ा। सन् १९०५ ई० में लार्ड कर्जन ने साम्प्रदायिक आधार पर बंगाल का विभाजन किया। पहले बगाल और बाद में सारा देश इससे क्षुब्ध और आन्दोलित हो उठा। इसकी अभिव्यक्ति करते हुए गोविन्द दास कहते हैं—

देखा तूने भारतवासी, बने हुए हैं भोग विलासी।
बस तुरंत कर्जन को भेजा, कटवाया बगाल कलेजा।
चौंक उठे बंगाली भाई, तब उनको घर की सुधि आई।
रोये, पीटे, बिलखे भारी, सुखद स्वदेशी विधि विस्तारी।

सेठ गोविन्द दास ने भारतीयों के आलस्य को ही बंग-भंग का कारण बताया। बग-भंग के सांप्रदायिक आन्दोलन ने मुसलमानों को सचेत कर दिया और १९०६ ई० में उन लोगों ने मुस्लिम लीग की स्थापना की। उन्होंने सरकार के समक्ष मुसलमानों से पृथक् निर्वाचन की माँग भी प्रस्तुत की। राष्ट्रीय चेतना के कवियों ने देखा कि भारत का अहित इस द्वैत भाव से होगा, क्योंकि मुसलमान की फूट के कारण साम्राज्यवादी शक्ति स्वतंत्रता आन्दोलन के बावजूद मिट नहीं पायेगी और इस तरह देश परतंत्र ही रह जायगा। इसके लिए अपेक्षा इस बात कि थी कि हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य भाव जगाया जाय और देश की राष्ट्रीय चेतना को शक्तिशाली बनाया जाय। हिन्दी कवियों ने राष्ट्रीयता एवं प्रान्तीयता की जड़ का मूलोच्छेद करने का नारा लगाया।

भेद डालकर राज्य करने की नीति का पर्दाफाश करते हुए राय देवीप्रसाद पूर्ण लिखते हैं—

मुसलमान हिन्दुओं ! वही है कौमी दुश्मन,
जुदा जुदा जो करे फाड़कर चोली दामन।

चोली-दामन से एक रहने वाले हिन्दू-मुसलमानों को दूर-दूर बनाने वाले कौमी दुश्मन की पहचान कवि ने यहाँ कराई है। गिरिधर शर्मा ने भी हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना जगाई। मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, श्रीधर पाठक, माधव शुक्ल आदि कवियों ने भी इस ऐक्ट पर जोर दिया। इस प्रकार उन लोगों ने राष्ट्रीय चेतना के विकास में योगदान किया, क्योंकि उसके लिए इस एकता की बड़ी अपेक्षा थी।

तिलक को उनके देशप्रेम सम्बन्धी कार्यों एवं भाषणों के लिए गिरफ्तार कर ब्रह्मा की जेल में भेज दिया गया। इस अवसर पर शंकर ने अपने उद्गार प्रकट कर भारत को उनके वियोग-दुख में निमग्न दिखलाया है। उनके अनुसार देश में दिव्य देशभक्ति की पताका खिसकाई है। वास्तव में तिलक देशानुराग के अनुपम स्तंभ थे। उनके वियोग में इस तरह के उद्गार अपेक्षित ही है—

शोक महासागर में जीवन जहाज आज
भारत का डूबेगा रही न बात बसकी,
धारती है भार तीस कोटि मन्द भागियों का
हाय-हाय मेदिनी तू नेक भी न धसकी,
टूट गया शंकर अखण्ड उपदेश दण्ड
दिव्य देश भक्ति की पताका आज खसकी,
तिलक-वियोग-विष बरस रहा है अब
सुकवि न चरचा करेंगे नवरस की।

इसी सम्बन्ध में उन्होंने और भी कहा है कि भारत मुकुट विहीन तो था ही आज तिलक के वियोग से वह तिलकहीन भी हो गया—

मुकुट विहीन जिसे देखते हैं आज उस
भारत के भाल पै तिलक भी रहा नहीं।

लोकमान्य तिलक १९१४ ई० में ब्रह्मा के कारावास से रिहा होकर आये। उन्होंने स्वदेश आते ही 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' की घोषणा

कर देश की जड़ता में चेतना की क्रान्ति स्थापित की। देश में नयी चेतना उमड़ी जिसकी अभिव्यक्ति कवियों ने पूरी निष्ठा एवं तन्मयता से की। मैथिली-शरण गुप्त ने उस राज्य को ही अपना इष्ट बताया जिसके पूर्व 'स्व' पद संयुक्त होगा। उन्होंने स्वराज्य की माँग की, अन्य के पदार्थ की कामना न तो उन्होंने की और न वे करते हैं। स्वराज्य तो उनका जन्म सिद्ध अधिकार है—

जो पर-पदार्थ के इच्छुक हैं,
वे चोर नहीं तो भिक्षुक हैं।
हमको तो 'स्व' पद विहीन कहीं,
है स्वयं राज्य भी इष्ट नहीं।

'भारत-संतान' को उद्बोधन करते हुए त्रिशुल जी ने जन्मसिद्ध का ध्यान किया और बताया कि अधिकार छिन जाने पर हम कब तक मन मार कर बैठ सकते हैं, कब तक अत्याचार सहते रहेंगे। और इस माध्यम से उन्होंने देश में जन्मसिद्ध अधिकार की रक्षा-भावना का आरोपण किया—

हमारे जन्मसिद्ध अधिकार। अगर छीनेगा कोई यार।
रहेंगे कबतक मन को मार। सहेंगे कब तक अत्याचार।
कभी तो आवेगा यह ध्यान। सकल मनुजों के स्वत्व समान।

तिलक ने भारतीय जनता को अधिकार और अभिमान का मन्त्र दिया। अधिकार की भावना से प्रेरित होकर भारत ने निर्भय होकर अपने देश की स्वतन्त्रता की माँग की और अभिमान के माध्यम से वह अपने भीतर बल एव उत्साह का विश्वास लेकर अधिकार के आगे बढ़ाने लगा।

इसी समय प्रथम विश्व युद्ध का प्रारम्भ हुआ। अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ने वाले देशों ने भारत को भी अपनी स्वतन्त्रता के लिये तलवार उठाने की प्रेरणा दी। उस समय देश में आतंकवादी कार्यवाहियाँ भी जोर पर थीं। इसलिए भारतीय जनता के जीवन में युद्ध एवं क्रान्ति की भावना जाग उठी थी। इस भावना को और भी बल दिया तिलक के कर्मयोग के उपदेश ने। गयाप्रसाद शुक्ल सनेही ने इस भाव से प्रेरित होकर कर्म की तलवार उठाई और उस पर ज्ञान की शान चढ़कर वे स्वाभिमान के साथ समर में कूद पड़े—

लेकर कर्म कृपाण, ज्ञान की शान चढ़ाओ।
बल-विद्या-विज्ञान झिलम उर पर झलकाओ।
स्वाभिमान के साथ समर में सम्मुख आओ।
चलो बला की चाल कला कौशल दिखलाओ।

स्वराज्य आन्दोलन का अगला और जबर्दस्त, कदम है होमरूल आन्दोलन इसका नेतृत्व श्रीमती एनीबिसेन्ट ने किया। १९१६ ई० में होमरूल आन्दोलन का सूत्रपात होते ही सम्पूर्ण देश जाग उठा और स्वराज्य प्राप्त करने की आकांक्षा तथा साम्राज्यवाद को मिटा देने की भावना फूट पड़ी। माधव शुक्ल ने 'लेंगे होमरूल अपना' शीर्षक गजल में होमरूल के लिए सब कुछ न्योछावर कर देने की भावना व्यक्त की है—

खुशी से छीन लो घर बार जीवन प्रानधन मेरा।
ये आँखें फोड़कर सारा जला दो तन वतन मेरा।
× × ×
हमें परवा नहीं, इसका न लेंगे बदला हम अपना।
अगर कुछ लेंगे बदले में तो लेंगे होमरूल अपना।

कवि ने इसमें केवल अपनी स्वराज्याकांक्षा ही नहीं व्यक्त की है, बल्कि शासन के दमन एवं अत्याचार का भी उल्लेख कर दिया है। वह सब कुछ त्याग कर सकता है होमरूल के लिए।

होमरूल आन्दोलन को एक उर्दू कवि ने गुलर का फूल कहा था और इस आधार पर मालवीय जी के होमरूल आन्दोलन समर्थन की खिल्ली उड़ाई थी—

कहते हैं 'मालवी' जी हम होमरूल लेंगे।
दीवाने हो गये हैं गुलर के फूल लेंगे।

इसका उत्तर मैथिलीशरण गुप्त ने दिया था—

जब होमरूल होगा, बर बैंक जन्म लेंगे।
हां, हां जनाब तब तो गुलर भी फूल देंगे।

स्वराज्य की पुकार होमरूल की पुकार थी और उसकी अभिव्यक्ति कंठ-कंठ से होने लगी और प्रत्येक व्यक्ति गा उठा था—

खुला यह कहते हैं आज अब हम स्वराज लेगे।
करेंगे आवाज अब न मध्यम स्वराज लेंगे, स्वराज लेंगे।

इन पंक्तियों में भारतीय राष्ट्रीय चेतना का अभय स्वर गूंज उठा था। स्वराज्य की आकांक्षा होमरूल आन्दोलन से अधिक तीव्र और शक्तिपूर्ण हो उठी थी।

तिलका का निधन राष्ट्रीय जीवन के इतिहास की बहुत बड़ी दुर्घटना है। तिलक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्मठ सूत्रधार थे। उनके निधन पर

हिन्दी कवियों ने आंसू बहाये। माधव शुक्ल उनके निधन में शासकों के अत्याचार के दर्शन करते हैं। भारतीय कंठ की भारती आज और भी दुगुने जोश से मुखरित हो उठेगी जिससे लन्दन भी थहरा उठेगा—

सारी दुनिया कांप उठेगी दोषी दिल हिल जायेगा।
आज भारती हुंकारों से लन्दन भी थहरायेगा।
आज पर्व दिन है स्वराज्य का गांधी युग का मेला है।
उठो भारती जल्द नहालो स्वतंत्रता की बेला है।

तिलक का नाम स्मरण होते ही कवियों को स्वराज्य की याद हो आती थी। तिलक का श्राद्ध दिवस कवि की भारती के लिए स्वतंत्रता की बेला है, वह स्वराज्य का पर्व दिन है। इसी प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी ने भी बलिदान की परवाह नहीं की है और तिलक की निधन तिथि पर लिखते समय यह कामना की है कि भारत का स्वराज्य अटल रहे—

बलि होने की परवाह नहीं,
मैं हूं, कष्टों का राज्य रहे,
मैं जीता जीता जीता हूं,
माता के हाथ स्वराज्य रहे।

स्वतंत्रता के आन्दोलन में भाग लेने वाले लोगों को बड़ी बेरहमी से दमन चक्र में पीसा जाता था। १९१७ ई० में गणेश शंकर विद्यार्थी की गिरफ्तारी पर लिखी गई कविता में माखनलाल चतुर्वेदी ने बन्धन को सुख कहा है। कवि ने कहा कि बेड़ियाँ और हथकड़ियाँ उन्हें परितोष दे तथा जयघोष की तरह वे उनको आदरणीय हों—

आत्मदेव। प्यारी हथकड़ियाँ,
और बेड़ियाँ दें परितोष,
उतनी ही आदरणीया हैं,
जितना यह जय जय का घोष।

१९१८ ई० में प्रताप के राष्ट्रीय कार्यों से परेशान नौकरशाही ने उसकी जमानत जब्त कर ली। "शहीदे वतन" शीर्षक कविता में त्रिशूल जी ने अपनी राष्ट्रीय भावना व्यक्त करते हुए नौकरशाही की विवेक-बुद्धि पर करारा वार करते हुए लिखा है—

धर्म युद्ध में लड़ी लड़ाई आनबान की,
रहे निभाते शान सदा देशाभिमान की।

सेवा करते रहे राष्ट्र हिन्दोस्तान की,
रहे आपके बने और कुर्बान जान की।
लगा घाव है अब कठिन, रह रह के होती चमक।
रहा काम अब आपका, मरहम रखिये या नमक।

प्रताप की देश सेवा का, निर्भीकता का जैसा चित्र इसमें प्रस्तुत है, वह अत्यन्त श्रेयस्कर है और उसकी जमानत जब्त होने पर प्रत्येक राष्ट्रीय अभिमान वाले व्यक्ति को चोट लगी थी।

भारतीय जनता ने राजभक्ति का अभूतपूर्व प्रदर्शन किया, लेकिन नौकरशाही कभी उसके कार्यों से प्रसन्न नहीं हुई। उसने अनेक प्रकार से उसे पीड़ा दी। इस पीड़ा से व्यथित भारतीय जनता स्वराज्य की ओर अग्रसर हुई, क्योंकि उसे सेवाओं का बड़ा कटु फल शासकों ने प्रदान किया है—

ब्रिटिश मान रक्षाहित हमने लाखों बन्धु कटा डाले।
पेट काट दे दिये द्रव्य खुल गये खजानों के ताले।
हा। तिस पर भी डैम फूल हम कुली पुकारे जाते हैं।
अपनी राजभक्ति का प्रतिफल रौलट बिल हम पाते हैं।
'माधव' कौन कहेगा ये नहिं हम पर अत्याचारी हैं।
झेले लाखों कष्ट हुए अब हम स्वराज अधिकारी हैं।

तिलक ने स्वराज की प्ररणा देकर हमारे भीतर से भय भगा दिया और गांधी के अफ्रीका आन्दोलन की सफलता ने हमें अत्याचारी शासन से लड़कर अपने अधिकार प्राप्त करने का बल दिया। इसलिए प्रत्येक जन-मानस में राष्ट्रीय चेतना जग उठी और प्रान्तीय संकीर्णता मिटने लगी—

जातीयता का भाव देखो ! है यहां जगने लगा।
प्रांतीयता का पाप इसको छोड़ कर भगने लगा।

राजनीतिक आन्दोलन ने देश में व्याप्त संकीर्ण प्रान्तीय भाव को मिटा दिया और सबके भीतर राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ। दमन ने भारत की प्रबुद्ध राष्ट्रीयता चेतना को दमित नहीं किया, बल्कि उसे और विकसित किया। दमन के साथ बल आया देशभक्तों में और उनमें कर्म की प्रेरणा जगी, उनमें स्वतंत्र होने की तीव्र कामना फूटी और बलिदान के रक्त से उसे सिंचन मिला। त्रिशूल ने अपनी बरबादी के बावजूद देश की आबादी को कायम रखने की तथा स्वयं कैद होकर भी देश को आजाद रखने की चेतना का गान किया—

हम उजड़ते हैं तो उजड़ें वतन आबाद रहे।
हों गिरफ्तार तो हों पर वतन आजाद रहे।

कवि सनेही ने 'जातीय संगीत' में अपने स्वत्वों के सम्बन्ध में कहा है कि कौन है जो उन्हें रोके। लेकिन यह भी आवश्यक है कि उस स्वत्व के कौम अंगद के चरण बनकर डटी रहे। इस प्रकार कर्त्तव्य की प्रेरणा देते हुए कवि कहता है—

मिलेंगे स्वत्व सब, है किसका यह साहस जो रोकेगा ?
चरण अंगद का बनकर कौम जब इस पर डटी होगी।

बलिदान की भावना का एक अंग है मातृभूमि के प्रति कर्तव्य-चेतना। कर्तव्य चेतना से प्रेरित होकर कवि गोपालशरण सिंह ने कहा कि यदि हम अपने कर्तव्य नहीं पालेगे तो विश्व में हम कृतघ्न कहे जायेंगे और हम परलोक में कभी स्थान नही पा सकेंगे—

पालेंगे हम जो कही न अपना कर्तव्य तेरे प्रति,
मानेंगे उपकार जो हम नहीं तेरे सदा ही अति।
जानेंगे तब क्या हमें न जग में पूरे कृतघ्नी सभी।
पावेंगे परलोक में भला ठौर माता कभी।

कर्तव्य-भावना में उत्साह की अपेक्षा होती है। उसके अभाव में कर्तव्य संभव नहीं है। आलोच्यकाल की कविता में कवियों में अपूर्व उत्साह झलक उठा था और उससे उन्होंने देश के प्रत्येक जन को उत्साहमय बना दिया। रूपनारायण पाण्डेय ने "मातृमूर्ति" शीर्षक कविता में जिस उत्साह का भाव जगाया, वह बिभेद एवं मतभेद के बावजूद देश की राष्ट्रीय भावना के विकास में सहायक सिद्ध हुआ है—

है हममें मतभेद मगर वह धर्म-कर्म-शिक्षा में है।
राजनीति में, अर्थ नीति में, उद्यम में, भिक्षा में है।
किन्तु देश की सेवा का जब प्रश्न सामने आवेगा,
तब हम में हरएक एकमत होकर हाथ बढ़ावेगा।

यह कर्तव्य-भावना खण्डता में अखण्डता का विधान करने वाली है। आंतरिक विरोध के बावजूद इस कर्तव्य की ओर हमारा ध्यान यहाँ कवि ने आकृष्ट किया है। यह अपूर्व है।

इसके अतिरिक्त कवियों ने सेवावृति की भी विगर्हणा की। नरक में रहकर स्वतंत्र रहना कवि श्रेयस्कर समझता है, किन्तु स्वर्ग में रहकर परतंत्र रहना नहीं चाहना। महावीर प्रसाद द्विवेदी की "सेवावृति की विगर्हणा" देखिये—

स्वतंत्रता तुल्य अति ही अमूल्य रत्न
देखा न और बहुबार किया प्रयत्न।
स्वातंत्र्य में नरक बीच विशेषता है,
न स्वर्ग भी सुखद जो परतंत्रता है।

इसीलिए भारत को भी जाग्रत होने का सदेश दिया गया है। मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में देखिये—

अरे भारत उठ आंखें खोल।
उड़कर मंत्रों से, खगोल में घूम रहा भूगोल।
अवसर तेरे लिए खड़ा है,
फिर भी तू चुपचाप पड़ा है।
तेरा कर्म क्षेत्र बडा है,
पल-पल है अनमोल।
(चेतना : स्वदेश-संगीत)

बलिदान की भावना से ओतप्रोत कवियों ने मातृभूमि के लिए उत्सर्ग हो जाने में ही अपने जीवन की सार्थकता मानी। लेकिन वह बलिदान कर्म विरहित नहीं होना चाहिये। कर्म ही जीवन है, कर्म ही प्राण है, इसलिए उस कर्म पर ही लोक-हितार्थ बलि जाने का भाव कवि व्यक्त करता है—

कर्म है अपना जीवन-प्राण।
कर्म पर हो जाओ बलिदान।

कर्मक्षेत्र की विघ्न-बाधाओं को स्वयं ही दूर करना वीर का कर्तव्य है। वीर पुरुष लोक-हित के लिए अपने प्राणों को न्योछावर करके भी अमर हो जाते हैं। जो ऐसा नहीं कर पाते वे जीते-जी बन्धन में विवश होकर पशु-तुल्य मरते हैं। "कर्मवीर बनो" की प्रेरणा देते हुए गुप्त जी ऐसी वरेण्य मृत्यु का उल्लेख करते हैं—

वरवीर बनकर आप अपनी विघ्न बाधाएँ हरो।
मरकर जियो, बन्धम-विवश पशु-सम न जीते जी मरो।

कर्मक्षेत्र में बलिदान अमरता की कहानी बन जाता है। मातृभूमि की बलिवेदी पर उत्सर्ग होने की आकांक्षा से उद्‌बुद्ध कवि-सनेही गा उठते हैं—

हे माता वह दिन कब होगा तुझ पर बलि-बलि जाऊंगा ?
तेरे चरण-सरोरुह में मैं निज मन मधुप रमाऊंगा ?
कब सपूत कहलाऊंगा ?

बलिदान की चिनगारी क्रान्ति की अदम्य आग बनकर फूट पड़ती है, जिसमें अत्याचार, क्रूरता, परतंत्रता सब मिट जाती हैं। इसलिए एक ओर देश की वर्तमान अधोगति के प्रति क्षोभ प्रकट करने के बाद कवियों ने अपने अधिकारों के लिए उच्च स्वर से घोष किया, उसके लिए बलिदान हो जाने की इच्छा प्रकट की तथा राष्ट्र प्रेम को अधिक तेज प्रदान किया।

इसके अतिरिक्त वर्तमान दुःस्थिति से मुक्ति के लिए कवियों ने ईश्वर से भी प्रार्थना की। "स्वर्ग सहोदर" शीर्षक कविता मैथलीशरण गुप्त अंत में भारत की दीन-दशा हरण के लिए ईश्वर के समक्ष करबद्ध है—

अब दीन दयालु ! दया करिये,
सब भाँति दरिद्र दशा हरिये।

× ×

अवलम्ब न और कही इसको
तजिये हरि हाय नहीं इसको।

इस प्रकार अन्य कवियों ने भी इस विषम परिस्थिति से मुक्ति के लिए ईश्वर को स्मरण किया है तथा उनसे मुक्ति का निवेदन किया है। लेकिन जैसा पूर्व अध्याय में कहा जा चुका है, यह नहीं समझना चाहिये कि यह कर्म से पलायन है अथवा निराशा का रूप है, जिसे कवियों ने व्यक्त किया है। यह कवियों की ईश्वरभक्ति का परिणाम है जो प्रत्येक कार्य में सामने आ जाती है। गुप्त जी ने जो प्रार्थना करने वालों में आगे हैं, कर्म की, बलिदान एवं त्याग की जो प्रेरणा दी है, उसे हम देख चुके हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन कवियों में न तो निराशा भाव है और न कर्म से पलायन की वृद्धि ही है। वे सही मानी में राष्ट्रीय चेतना के कवि है और पर्याप्त कर्म चेतना तथा आशा उनमें दृष्टिगत होती है।

इसके अतिरिक्त वीर प्रजा की प्रवृत्ति भी राष्ट्र प्रेम के अन्तर्गत ही आती है। महात्मा गांधी, प्रताप, कृष्ण, राम आदि वीर पुरुषों के चरित्राख्यान

के द्वारा कवियों ने स्वराज्य के पथ पर बलिदान के लिए बढ़ने वाले लोगों को प्रेरित किया।

पौराणिक आख्यानों की घटनाओं के आधार पर प्रतीक माध्यम से भी इस काल में रचनाएँ हुईं। अत्याचारी शासन को दुःशासन एवं कंस, गाँधी को कृष्ण, भारत माता को देवकी अथवा द्रौपदी मानकर प्रतीक रूप में कुछ रचनाएँ हुईं, जिनमें अत्याचार की व्यंजना हुई और पौराणिक ढङ्ग से आधुनिक समस्या का समाधान कवियों ने प्रस्तुत किया। इस तरह पौराणिक प्रतीकों के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति द्विवेदी युग की विशेषता कही जा सकती है।

इस प्रकार द्विवेदी-युगीन देश-प्रेम की कविताओं में राजनीतिक चेतना की पकड़ दृष्टिगत होती है और उसके प्रतिरोध में अनेक भावों से आक्रोश एवं क्षोभ व्यक्त हुआ। अतीत का गौरवगान, दैवीकरण आदि देश-प्रेम के प्रबल रूप हैं, जिनसे राष्ट्रीय चेतना को बल मिला है। कर्म की प्रेरणा जीवन-जागृति की हलचल, बलिदान की कामना उत्साह एवं तेज प्रदान करने वाली शक्तियाँ हैं, जिनसे राष्ट्रीयता को तीव्रता एवं गतिशीलता प्राप्त हुई। इस प्रकार इस युग की राष्ट्र प्रेम विषयक कविताओं ने राष्ट्रीयता की भावना को अखण्डता दी, उसे जीवन की क्रांति दी, उसमें क्रांति एवं बलिदान का तेज दिया जिससे उसका विकास निरन्तर होता गया।

(३) **आर्थिक शोषण**—साम्राज्यवादी शक्तियाँ आर्थिक शोषण के लिए उपनिवेशों की स्थापना करती हैं। भारत में अँग्रेजी राज्य का उद्देश्य भी यही था। वे तिजारती थे और भारत के अधिकाधिक आर्थिक शोषण की ओर ही उनका ध्यान था। मगर भारतीय जनता इस तथ्य से अपरिचित न रही। भारतेन्दु ने शोषण की ओर जतना का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा था—

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।

धन विदेश जाने से देश निर्धन होने लगा। शोषण में अंग्रेजों ने मुसलमानों को भी अपवाद में नहीं रखा। दोनों का समान रूप से शोषण हुआ। देश में दुर्भिक्ष पड़े, जनता दिन-दिन निर्धन होती गई। हिन्दू और मुसलमान दोनों को आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ा। इसलिए आर्थिक शोषण ऐक ऐसा विन्दु है जहाँ हिन्दू-मुसलमान को आपसी मतभेद को भूलकर

एक होना चाहिये और अपने कौमी शत्रु को राष्ट्रीय शत्रु को दूर भगाने के प्रयत्न में उन्हें एक मत, एक रूप होना चाहिए। उनमें इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये ही एकता के आधार पर राष्ट्रीय चेतना का विकास होना चाहिये था, किन्तु साम्राज्यवादी ब्रिटेन ने 'फूट और लूट' के माध्यम से आर्थिक पक्ष में भी दोनों जातियों की एकता में संदेह का जहर भर दिया और इस भूमि पर भी दोनों एकमत होकर विरोध का स्वर नहीं उठा सकीं। बंग-भंग आन्दोलन के क्रम में ही स्वदेशी आन्दोलन का भी सूत्रपात हुआ। किन्तु अंग्रेजों ने मुसलमानों को यह कहकर भड़काया कि स्वदेशी वस्तुएँ बनाने और बेचने वाले भी हिन्दू ही हैं। इसलिए इससे हिन्दुओं का ही हित होगा, मुसलमानों को इससे कोई लाभ नहीं। यही कारण था कि 'मुसलमान प्रत्येक राष्ट्रीय आन्दोलन के आर्थिक पक्ष को संदेह से देखने लगे। इसलिए द्विवेदी युग में मुसलमान राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रत्येक कदम में बाधक ही होते रहे, उन्होंने राष्ट्रीय चेतना को कमजोर ही बनाया।

भारतेन्दु-युग में जिस दुर्भिक्ष की चर्चा की गई है, वह द्विवेदी-युग में भी उसी विकास के साथ वर्तमान था। देश में चारों ओर अन्न की पुकार गूंज रही थी। लगता था कि दुर्भिक्ष स्वयं देह धारण कर देश में घूम रहा है। इस स्थिति का करुणामय अंकन मैथिलीशरण गुप्त ने भारत-भारती में किया है—

दुर्भिक्ष मानो देह धर के घूमता सब ओर है,
हा ! अन्न ! हा ! हा ! अन्न का रव गूंजता घनघोर है।
सब विश्व में सौ वर्ष में, रण में मरे जितने हरे,
जन चौगुने उनसे यहाँ दस वर्ष में भूखों मरे।

यह कहानी यहीं नहीं समाप्त हो जाती। अन्न के साथ वस्त्र का संकट भी है और कुल वधुओं को अपनी लज्जा बचाने के लिए भी पर्याप्त वस्त्र नहीं मिल पाते—

नारी जनो की दुर्दशा हमसे कही जाती नहीं,
लज्जा बचाने को अहो ! जो वस्त्र भी पाती नहीं।

इस दुर्भिक्ष के कारण लोग जाति तक छोड़ देते हैं। अन्त का मोह उन्हें अपने आपको विधर्मी बनाने के लिए लाचार करता है। हम धर्म और स्वदेश की चिन्ता किये बिना मुट्ठी भर अन्न के लिऐ विधर्मी और विदेशी बनते जा रहे हैं—

हमको क्षमा करिये क्षुधावश हम तुम्हें हैं खो रहे,
होकर विधर्मी हाय ! अब हम हैं, विदेशी हो रहे ।

इस करुणामय स्थिति से भला कौन ऐसा राष्ट्रप्रेमी अथवा मानवतावादी होगा जो द्रवित न हो उठे । राय देवीप्रसाद पूर्ण ने भी 'स्वदेशी कुण्डल' में इस स्थिति की करुणामयी वेदना का अंकन किया है—

सुनो रमापति ! हाय ! प्रजा धन-हीन रैन-दिन,
हैं अति व्याकुल वृन्द कुमुद के यथा चंद बिन ।

रामचरित उपाध्याय स्वदेश बन्धुओं की आर्थिक दशा से दुखी होते हैं और जो लोग उनकी दशा की ओर नहीं निहारते उनको धिक्कारते हैं—

लाखों देशी बन्धु यहाँ भूखों मरते हैं ।
पर हम उनकी ओर नहीं दृग भी करते हैं ।

जो किसान सरकारी कर दाता है, जो अभ्यागतों की सेवा करने को सदा प्रस्तुत रहता है, जिसने कभी धैर्यवश दुख का अनुभव नहीं किया, वही आज भूखों मरता है मैथिलीशरण गुप्त ने भारत-भारती में भारतीय किसान की पीड़ा का जैसा दैन्यपूर्ण चित्रण किया है, वह अत्यन्त मर्मस्पर्शी है । केशव प्रसाद मिश्र ऐसे किसान की दारुण स्थिति का करुणामय चित्र प्रस्तुत करते हैं—

जो करता था पेट काटकर सरकारी कर-दान,
रहता था प्रस्तुत करने को अभ्यागत का मान ।
नहीं हुआ था जिसे धैर्यवश कभी दुःख का भान ।
आज वही भूखों मरता है माता दीन किसान ।

दीन हीन भारतीय जनता की करुणा का अंकन अनेक हिन्दी कवियों ने किया और उनकी वेदना का संवेदनशील भाव प्रवाहित किया है । सनेही, रामनरेश त्रिपाठी, हरिऔध आदि ऐसे ही कवि हैं जिनकी वाणी में दैन्य विजड़ित देश की करुणगाथा उभरी है । हरिऔध ने दोनों की आह का बड़ा सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है और कहा है कि यदि यह आह भगवान तक पहुंच पाती तो नन्दन-वन भी मरुस्थल हो जाता—

चहल पहल है जहाँ वहाँ मातम छा जाता ।
स्वर्ण छटा है जहां वहाँ गौरव उठ आता ।
दीन आह की ध्वनि यदि हरि कानों में जाती ।
नन्दन वन हैं जहां आज मरु वहां दिखाती ।
'दीन की आह' (मर्यादा, चैत्र, १९७२)

और इन सभी विषय स्थितियों के निवारण का उपाय है स्वदेशी स्वीकार करना। इससे हमारी औद्योगिक उन्नति भी होगी तथा देश की सम्पत्ति विदेश जाने से बच जायगी और क्रमशः देश की दशा उन्नत होगी।

राष्ट्रीयता का अर्थ मात्र राजनीतिक घटनाओं का विरोध अथवा स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए तत्परता ही नहीं है। उससे आर्थिक पक्ष की भी प्रबलता है। आर्थिक उन्नति के बिना देश का उद्धार संभव नहीं है। यह उद्धार तब होगा जब विदेशी सत्ता का शोषण रुके और देश में उद्योग-धन्धों की वृद्धि हो। इसलिए स्वदेशी वस्त्र स्वीकार करना अपेक्षित है। राष्ट्रीय कांग्रेस ने १९०५ ई० के आस पास स्वदेशी का अस्त्र ग्रहण किया था। किन्तु भारतेन्दु की तरह ही हिन्दी कवियों ने स्वदेशी के स्वीकार का स्वर उठाया। वे वास्तव में क्रान्तिद्रष्टा थे। वे जानते थे कि इसके द्वारा ही अंग्रेज बनियों को देश से भगाया जा सकता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने १९०३ ई० में स्वदेशी को स्वीकार करने का सिफारिश की और इसके माध्यम से राष्ट्रीय चेतना का जागरण किया—

स्वदेशी वस्त्र को स्वीकार कीजै,
विनय इतना हमारा मान लीजै।
शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो,
न जाओ पास, इससे दूर भागो।

तत्कालीन भारत उद्योग-धन्धों के अभाव में परमुखापेक्षी था। अनेक वस्तुओं के लिए गुप्त जी ने 'भारत भारती' में इस परमुखापेक्षिता एवं विदेशी वस्त्रों के ग्रहण पर क्षोभ प्रकट किया है। भारतीय सभी वस्तुओं के लिए विदेशी उद्योग-धन्धों के आश्रित थे ही, सौभाग्य-चिन्ह-चूड़ियाँ भी विदेशी पहनी जाती थीं। इससे भारत अपने सौभाग्य से बंचित हो जाता है। कवि अत्यन्त क्षोभ प्रकट करते हुए कहता है—

कुल नारियाँ जिनको हमारी हैं करों में धारती
सौभाग्य का शुभ चिन्ह जिसको हैं सदैव विचारती,
वे चूड़ियाँ तक हैं विदेशी देख लो, बस हो चुका।
भारत स्वकीय सुहाग भी परकीय करके खो चुका।

राष्ट्रीय चेतना से अभिभूत कवि वैश्यों से निवेदन करता है कि वे देश में कल-कारखाने खोलें, जिससे सारी वस्तुएँ देशी हों, यहाँ से कच्चा माल बाहर न जाय और इस प्रकार आर्थिक शोषण समाप्त हो जाय—

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की ओर भी कवि का ध्यान गया और उसने यह घोषणा की कि हिन्दी ही राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित होने की अधिकारिणी है—

बने राष्ट्रभाषा तुही योग्य ऐसो,
नहीं जानता कौन तू श्रेष्ठ जैसी ?

उर्दू को मादरी जबान, हिन्दू होकर, बताने वाले एक काल्पनिक पात्र के माध्यम से विद्यानाथ ने उर्दूदां लोगों पर करारा व्यंग्य किया है--

माँ इनकी हिन्दू है भोली,
प्रिय है उनको हिन्दी बोली,
पर इनको है यह अभिमान,
उर्दू है मादरी जबान ।

नाथूराम शंकर शर्मा ने भी हिन्दी की उपेक्षा करने वाले अंगरेजियत में रंगे युवक पर व्यंग्य करते हुए हिन्दी प्रेम को प्रकट किया है--

फारसी की छार सी उड़ाय अंगरेजी पढ़,
मानो देव नागरी का नाम ही मिटावेंगे ।

भारत भारती में मैथिलीशरण गुप्त ने भी हिन्दी भाषा को यहाँ की राष्ट्रभाषा सिद्ध किया है तथा उसके गौरव को उचित पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। मगर उसका साहित्य अभी अभावग्रस्त है, यह भी उन्होंने बताया है ।

अब सिद्ध हिन्दी ही यहाँ की राष्ट्रभाषा हो रही,
पर है वही सबसे अधिक साहित्य के हित रो रही ।

रामचरित उपाध्याय ने भी हिन्दी के विरोधियों पर व्यंग्य किया है—

हिन्दू हिन्दी लिखें हिन्द में कलम न पकड़ूँ पर मैं,
हिन्दी बने राष्ट्र की भाषा भाषा पढ़ूँ अपर मैं ।

कितनी विडम्बना है कि अपनी मातृभाषा हिन्दी का ही भारतीय जनता ने अपमान किया । यह अपमान या तो अंगरेजी पढ़ने वालों द्वारा हुआ या उर्दूदां लोगों द्वारा । उर्दू-हिन्दी का विरोध उतना जोरदार नहीं था, क्योंकि उर्दू को वह गौरव नहीं प्राप्त हो सका था जो हिन्दी पा रही थी। इसलिए उसका

विरोध विदेशी भाषा अंगरेजी से था। अंगरेजी भाषा के पिठ्ठुओं ने हिन्दी की भर्त्सना की तथा उसका विरोध किया। ऐसे लोगों पर कटु व्यंग्य हमारे राष्ट्रीय हिन्दी कवियों ने किया है। पंडित केशव प्रसाद मिश्र की 'हमारी मातृभाषा हिन्दी और हमारे एम० ए० बी० ए० सपूत' शीर्षक कविता देखिये—

> चाहे विदेशी वर्णमाला आपके पीछे लगे,
> चाहे बृहस्पति से अधिक हों आप इंगलिश के सगे।
> जब तक नहीं निज मातृभाषा प्रीति होगी आप में,
> तब तक नहीं अन्तर पड़ेगा देश के संताप में।

स्पष्ट है कि देश की स्वधीनता की समस्या भी भाषा की समस्या के साथ संयुक्त है। हमारे कवियों ने दोनों को पहचाना और जनता का ध्यान देश एवं भाषा की ओर आकृष्ट किया।

(आ) काव्य-कला पर राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव

काव्य के रूप—काव्य अंतरंग में राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप बहुत अधिक परिवर्तन हुए, जिसका विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है। काव्य के बहिरंग पर भी उसका व्यापक प्रभाव पड़ा। हिन्दी काव्य के दोनों रूपों-प्रबन्ध एवं मुक्तक पर राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। द्विवेदीयुगीन राष्ट्रीय काव्य में उपदेशात्मकता का अधिक स्थान विशेष महत्वपूर्ण रहा है। इसलिए पथिक, मिलन, वीर पंचरत्न, रंग में भंग, विकटभट, मौर्य-विजय आदि प्रबन्ध काव्यों में उपदेशात्मक वृत्ति के विशेष दर्शन होते हैं। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक सुधारों की अभिव्यक्ति का क्षेत्र जन-साधारण होने के कारण मुक्तकों में भी जागृति के निमित्त उपदेशात्मकता के दर्शन होते हैं। मुक्तकों की रचना ही इस काल की विशेषता है। जन-जीवन से अधिक निकटता के लिए इस युग की कविता में इतिवृत्तात्मकता का भी समावेश हो गया था।

शैली—गीति काव्य में जिन शैलियों को अपनाया गया, वे भारतेन्दु युग से ही चली आती हैं। उनमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं दीख पड़ता। सानेट, उद्बोधन गीत, प्रयाण गीत आदि मुक्तक की शैलियों का आलम्बन इस काल में हुआ।

छन्द—इस काल में प्राचीनता के प्रति मोह के कारण बरवै, सोरठा, छप्पय, हरिगीतिका जैसे मात्रिक और द्रुतबिलंबित, शिखरिणी आदि वार्णिक छन्दों

को अपनाया गया । हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के प्रभाव के कारण ही उर्दू के गजल, चौपदे, छपदे आदि अपनाये गये । अंगरेजी छन्दों का उपयोग भी हुआ ।

भाषा—इस काल की भाषा जन-जीवन के अधिक निकट है । कारण यह है कि जनता को संदेश देने के लिए जिस भाषा की अपेक्षा थी, वह साधारण ही संभव थी । उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी भाषा में खूब रहा । उर्दू के मुहावरे भी खूब अपनाये गये । अंगरेजी के शब्द भी व्यंग्य के लिए लिए गए । इस प्रकार द्विवेदी युग में काव्य के बहिरंग पर भी राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव पड़ा और उसके रूप में परिवर्तन हुए ।

उपसंहार—आलोच्यकाल की राष्ट्रीय कविता भारतेन्दुयुगीन राष्ट्रीय काव्य से अधिक ओजमयी है । उसके भीतर जीवन का यथार्थ अधिक तीव्र होकर प्रकट हुआ । राष्ट्रीय काव्य का आधार मानवतावाद होता है । परतंत्र देश के निवासी मानवतावाद के आधार पर 'अपने देश में अपना राज्य' का सिद्धान्त अपनाते हैं और विदेशी शासन का विरोध करते हैं । इस विरोध को अधिक तीव्र बनाने के लिए वर्तमान जीवन का यथार्थ चित्रण राष्ट्रीय काव्य का मुख्य विषय होता है । द्विवेदी युग की राष्ट्रीयता यथार्थवाद से अधिक प्रभावित दीख पड़ती है । भारतेन्दुयुग में याथार्थ जीवन का अंकन राष्ट्रीय काव्य में हुआ, लेकिन उसमें अनुभूतियों की सचाई उतनी नहीं है । इसका कारण यह था कि उस युग में राष्ट्रीय क्षेत्र में जनता का प्रवेश नहीं हुआ था । इस काल में जीवन की विविध घटनाओं ने जनता से काव्य का सम्बन्ध स्थापित किया । इसलिए जन-जीवन की यथार्थ अनुभूतियों की तीव्रता इस युग के काव्य में विशेष रूप से लक्षित होती है । डा० उदयभानु सिंह ने ठीक ही कहा है कि 'अपने पूर्ववर्ती युग की तुलना में द्विवेदी युग की राजनीतिक या राष्ट्रीय कविता अतीत से वर्तमान, कल्पना से यथार्थ, उपदेश से कर्म, पर-प्रार्थना से स्वावलम्बन, निराशा तथा अविश्वास से आशा तथा विश्वास और दीनतापूर्ण नम्रता से क्रान्तिपूर्ण उद्‌गार की और अग्रसर होती गई ।' भारतेन्दुयुगीन राष्ट्रीय काव्य कल्पना के धरातल पर ही नहीं खड़ा है, उसमें यथार्थ का ठोस आधार भी है । इसलिए डा० सिंह के इस कथन से असहमत होते हुए भी अन्य बातों को हम स्वीकार करेंगे ।

यथार्थ जीवन की व्यंजना भारतेन्दुयुग में ही प्रारम्भ हो गई थी । भारतेन्दु की करुणामयी उक्तियों में यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है, लेकिन

उसमें उतनी तीव्रता नहीं है, जितनी तीव्रता हम द्विवेदीयुग की राष्ट्रीय कविता में पाते हैं।

भारतेन्दु ने अपने काव्य से वर्ग-चेतना उत्पन्न की। उन्होंने शासक और शासित-दो-वर्गों की विरोधमूलक प्रवृत्तियों का स्पष्ट निर्देश किया और शासित वर्ग के जीवन की यथार्थ अनुभूतियों की व्यंजना की। उन्होने वर्ग-संघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार की। यह वर्ग-संघर्ष मार्क्सवादी दृष्टिकोण का परिचायक नहीं है, यह शुद्ध विरोधभाव का द्योतक है। इस संघर्ष को कर्म की प्रेरणा द्विवेदी-युग में मिली। वर्ग-चेतना इस युग में अधिक तीव्र हुई और नवीन आशा के साथ उसने संघर्ष प्रारम्भ किया।

द्विवेदीयुग की राष्ट्रीय चेतना का सांस्कृतिक रूप भारतेन्दुयुग की परम्परा का अगला चरण है। इस युग में भी राष्ट्रीय कवियों ने पुनरुत्थान की कामना से प्राचीन वीरों के आदर्श के प्रति श्रद्धा प्रकट की तथा अतीत के सुनहले जीवन की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। मातृभूमि को उन्होने देवी रूप में स्वीकार किया तथा उसके प्रति एकत्र अपने हृदय के पूज्य भाव की विविध रूपों में अभिव्यक्ति की। अतीत चित्रण एवं देवीकरण के अतिरिक्त ईश्वर से उद्धार की प्रार्थना भी इस युग में हुई है। यह राष्ट्रीयता के सांस्कृतिक पक्ष के अन्तर्गत राष्ट्रीय काव्य का विषय रहा और उसकी बार-बार व्यंजना हुई है। द्विवेदी युग ने अतीत का भव्य-चित्र उपस्थित कर जनता में जातीय अभिमान की भावना भरकर अपनी संस्कृति की उच्चता का विश्वास दृढ़ किया।

हिन्दी कवियों द्वारा चित्रित जातीय अभिमान एवं सांस्कृतिक उच्चता हिन्दू जाति से संबद्ध है। तब, क्या यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दुयुगीन हिन्दुत्व भाव इस युग में भी वर्तमान था ? डा० केसरी नारायण शुक्ल ने अतीत और हिन्दुत्व का संयोग दिखाते हुए लिखा है, 'इस प्रकार जन मन के समान काव्य भी अतीत और हिन्दुत्व से ओतप्रोत है।' स्पष्ट ही इस काल के कवियों ने भी अतीत गौरव-गान तथा हिन्दू संस्कृति के गुण-कथन की प्रणाली अपनाई थी। आर्य समाज का स्पष्ट प्रभाव इस काल में इस रूप में व्यक्त हुआ।

किन्तु, इसकाल के कवि जातीय जीवन के आख्याता रूप में सांस्कृतिक पुनरुत्थान के हिमायती होते हुए भी मानवतावाद के पोषक थे। इसलिए वे साप्रदायिकता के समर्थक नहीं थे। भारत के जन-जन की एकता उन्हें इष्ट थी। इसलिए द्वेषपूर्ण सांप्रदायिकता की वृद्धि से कवि चिन्तित हैं। वे देश के हितैषी थे। राष्ट्रीयता के समर्थक थे। इसलिए सांस्कृतिक जीवन के उन्नयन के

साथ ही राजनीतिक दृष्टि में वे एकता के लिए प्रयत्नशील रहे। उन्होंने जाति के साथ ही राष्ट्र के भी गीत गाये।

भारत जैसे देश में यह जातीय गीत की परम्परा स्वस्थ राष्ट्रीय चेतना का विकास नहीं कर सकी और हिन्दू मुस्लिम विरोध कम न हो सका। लेकिन हिन्दी कवियों ने जन-जीवन की यथार्थ अनुभूतियों के चित्रण क्रम में जातीयता और राष्ट्रीयता को साथ-साथ ग्रहण किया। यों कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक राष्ट्रीय की अभिव्यक्ति का रूप भारतेन्दु काल की तरह ही इस युग में भी था, लेकिन सामयिकता के संकेत के कारण वे लोग साम्प्रदायिक नहीं थे और इसीलिए देश के सम्पूर्ण मानव-समाज की एकता के पक्ष पर थे। सब होते हुए भी उनका मूल स्वर हिन्दुत्व की भावना लिए हुए है।

द्विवेदीयुग के कवियों ने अतीत के गीत तो गाये, लेकिन सामयिक समस्याओं ने उनका ध्यान वर्तमान की ओर केन्द्रित किया। इसलिए द्वितीय उत्थान के कवियो का ध्यान अतीत से अधिक वर्तकान की ओर है। वर्तमान जीवन की विविध विषम स्थितियों का रूपांकन इस युग के कवियों ने किया। भारत की अधोगति के अनेक करुण चित्र उन्होंने उपस्थित किये और जनता को अपनी वर्तमान दुखमय स्थिति से परिचित कराया। उन्होंने इसके द्वारा शासितों के मन मे शासकों के प्रति अपूर्व आक्रोश उत्पन्न किया। इस आक्रोश ने क्रान्ति की प्रेरणा दी। द्विवेदी युग में ही त्याग एवं बलिदान के गीत प्रारंभ हो चुके थे। इन गीतों के माध्यम से इसकाल में ही क्रान्ति-भावना का जागरण स्पष्ट लक्षित हो जाता है।

इस काल में शासकों की प्रशंसा के गीत भी गाये गये, किन्तु वह परम्परा का निर्वाह मात्र लगता है। प्रशंसाओं में भारत की मांगों का ही वर्णन विशेष रूप मे हुआ है। यही दशा भारतेन्दु युग की राष्ट्रीयता की भी उस दिशा में थी। इसलिए इस दृष्टि से वे भारतेन्दु युग के साथ हैं।

आर्थिक स्वतन्त्रता की चेतना भारतेन्दुयुग में ही प्रारम्भ हुई थी। उसका उल्लेख आलोच्ययुग के काव्य में भी उसी रूप में हुआ, किन्तु भारतेन्दु युग मे आर्थिक दुरवस्था के साथ जन-जीवन का संयोग नहीं था। इसकाल में किसान, मजदूर आदि की दुर्दशा के चित्र भी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत हुए। राष्ट्रीय कविता के प्रत्येक बिन्दु के साथ आर्थिक पहलू का उल्लेख इस काल में भी होता रहा।

भारतेन्दुयुग की अपेक्षा द्विवेदीयुग की राष्ट्रीयता में सामयिकता की व्यंजना अधिक है। उपदेश की वृत्ति भी उसमें अनुस्यत् है। इसलिए इस युग में उसका रूप पूर्णतः इतिवृत्तात्मक है। इस यथातथ्यता का आवेश इस युग की नयी पीढ़ी में नहीं था। उन्होंने जीवन के स्थायी मूल्यों को काव्य का विषय बनाया। सामयिकता को उन्होंने ग्रहण नहीं किया। हाँ, कुछ कवियों ने वर्तमान पृष्ठ-भूमि पर अतीत के चित्रण द्वारा विषाद की अभिव्यक्ति की है। ऐसी रचनाएं सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के अन्तर्गत ही आती हैं।

षष्ट अध्याय

छायावाद (१९२० ई० से १९३६ ई०)

काल-सीमा का निर्धारण—युक्तियां-नामकरण

छायावाद के उद्भव काल के सम्बन्ध में समीक्षक एक मत नहीं है, लेकिन अंत: तथा बाह्य साक्ष्यों के आधार पर यह माना जाता है कि उसकी उत्पत्ति १९२० ई० के आसपास हुई। छायावाद ने हिन्दी काव्य में वस्तु तथा शिल्प, दोनों दृष्टियों से अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित किया और काव्य की एक नयी प्रवृत्ति को जन्म दिया।

भारतीय राष्ट्रीय चेतना के इतिहास में भी १९२० ई० युगान्तरकारी वर्ष है। भारत की राष्ट्रीय चेतना की संवाहिका राष्ट्रीय कांग्रेस इस तिथि के पूर्वतक सरकार से सहयोग करती रही। १९१७ ई० तक तो उसने अपने अधिवेशनों में ब्रिटिश सम्राट् के प्रति राजभक्ति के प्रस्ताव पास किये। कांग्रेस तथा अधिकाधिक भारतीय जनता को ब्रिटिश राज्य की नेकनीयती पर विश्वास था। उसे यह आशा थी कि भारत के हित के लिए भी सरकार अवश्य ही कुछ ठोस कदम उठायेगी।

प्रथम विश्वयुद्ध ने भारतीय जनता को सजग कर दिया और उन्होंने अन्य राष्ट्रों की तरह आत्मनिर्णय के अधिकारों की मांग की। ब्रिटिश सरकार ने भारत को यह अधिकार नहीं दिया, जिससे भारतीय राष्ट्रीय चेतना को गहरी ठेस लगी। उसने यह जान लिया कि सहयोग से भारत को स्वाधीनता नहीं मिलने वाली है। इसलिए १९२० ई० में कांग्रेस के इतिहास का सहयोग खण्ड समाप्त हुआ और असहयोग खण्ड प्रारम्भ हुआ। असहयोग के प्रस्ताव को १९२० ई० के नागपुर अधिवेशन ने स्वीकृति प्रदान की थी। इसलिए इस काल से नये युग का प्रारम्भ माना गया है।

गांधी जी का भारतीय राष्ट्रीय क्षेत्र में अवतरण एक महत्वपूर्ण घटना है। १९१७ ई० के बाद से वे भारतीय जीवन तथा भारतीय राजनीति में महान् परिवर्तन ले आने वाली शक्ति थे। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता को भी सत्य

और अहिंसा का महान् विचार दिया। इस कारण राष्ट्रीय क्षेत्र में नवीन क्रान्ति की उद्भावना हुई।

१९२० ई० के पूर्व जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड तथा मुसलमानों को प्रथम विश्वयुद्ध के समय दिये गये बचन की अवहेलना से भी सरकारी अत्याचार व्यक्त हो गया। इसलिये खिलाफत और असहयोग का नया अध्याय इस काल में प्रारम्भ हुआ, जो राष्ट्रीय चेतना के इतिहास को नया मोड़ देता है।

इस काल में आर्थिक जीवन में भी गांधी जी ने क्रान्ति उपस्थित की और नये युग का प्रारम्भ किया। इस काल के पूर्व कांग्रेस ने स्वदेशी आन्दोलन को ही अपने आर्थिक जीवन का आधार रखा था। लेकिन स्वदेशी आन्दोलन के फलस्वरूप जिस कारखानेदारी का जन्म हुआ, उससे भी देहात की दरिद्रता एवं बेकारी दूर न हुई, उल्टे बढ़ती गयी। कारखानेदारी से मुठ्ठी भर लोगों को ही रोजगार मिल सकता था। यह देखकर गांधी जी ने स्वदेशी आन्दोलन को ग्रामोद्योग का रूप दिया। इस प्रकार आर्थिक जीवन को गांधी जी ने एक नये दृष्टिकोण से परखा।

इन परिस्थितियों से भारतीय राष्ट्रीयता में असंतोष का जन्म हुआ, क्योंकि ठीक ही कहा गया है, क्रान्ति का बीज क्षेत्र जनता की बुभुक्षा तथा वर्गो का असंतोष है। इसलिए इस युग मे राष्ट्रीय चेतना उग्र हुई और उसने सरकार को अस्त व्यस्त कर दिया। असहयोग तथा खिलाफत के माध्यम से महात्मा जी ने भारतीय राष्ट्रीयता को नया रूप दिया। लेकिन उन्होंने क्रान्ति के लिए किसी घातक अस्त्र का प्रयोग नहीं किया। उनका अस्त्र सत्य और अहिंसा था। अहिंसा धार्मिक मत से कुछ अधिक है, वह एक जातीय प्रवृत्ति है। इस जातीय प्रवृत्ति ने राष्ट्रीय चेतना को नये रूप में प्रस्तुत किया। इस नवीनता के कारण १९२० ई० को हम भारत की राष्ट्रीय चेतना के इतिहास का नया मोड़ मानकर नये युग का सूत्रपात स्वीकार करते हैं। अतः इस खण्ड का प्रारम्भ इसकाल से किया गया है।

१९३६ के बाद से भारतीय राजनीति में वर्गचे तना का का एक सिद्धान्त रूप में अवतरण होता है। इसके बाद से प्रगतिशील चेतना का समावेश भारतीय राष्ट्रीयता में हुआ। काव्य की दिशा में भी इस परिवर्तन के रूप लक्षित होते हैं। हिन्दी काव्य में मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के आधार पर वर्ग चेतना भी इस काल के उत्तरार्ध में मुखरित हुई। इसलिए इस युग की व्याप्ति १९२० ई० से १९३६ ई० तक मानी गई है।

इस युग में राष्ट्रीय चेतना को प्रभावित करने वाले तथा उसे नया मोड़ देने वाले गांधी जी हुए। उनकी भावना का प्रभाव जीवन के हर क्षेत्र मे लक्षित होता है। इसलिए इस युग विशेष का नामकरण राष्ट्रीय काव्य की दृष्टि से गांधी युग अपेक्षित था, किन्तु साहित्य क्षेत्र में छायावाद नाम ग्राह्य होने के कारण यही नाम यहाँ भी रखा गया है।

(क) परिस्थिति

राजनीतिक—आलोच्यकाल का प्रारम्भ असहयोग आन्दोलन से होता है, जो युगान्तरकारी घटना है। भारतीय राजनीति के रंगमंच पर महात्मा गांधी का आगमन इसी समय हुआ। राष्ट्रीय चेतना के इतिहास में भी खिलाफत एवं असहयोग आन्दोलन युगान्तरकारी स्थितियाँ हैं, क्योंकि इन्होंने राष्ट्रीयता को हिन्दू-मुस्लिम वर्ग को एकता का बल प्रदान किया। इस काल की राष्ट्रीयता अखण्ड और शक्तिशाली थी और जन-जीवन में एक नयी चेतना इस दृष्टि से विकसित हुई।

१६२० ई० का राजनीतिक इतिहास कांग्रेस में दलबन्दियों से शुरू होता है। इस वर्ष की घटनाएं खिलाफत को लेकर शुरू हुईं। महायुद्ध के समय इंगलैण्ड के प्रधान मंत्री लायड जार्ज ने भारतीय मुसलमानों को अपने सहधर्मी तुर्की से लड़ने के लिए कुछ बचन दिये थे। युद्ध की समाप्ति के बाद बचन-भंग होने पर भारतीय मुसलमानों में अंगरेजों के प्रति अविश्वास का भाव जाग उठा और वे इससे बौखला उठे। मुसलमानों के अनुसार जजीरतुल अरब को जिसमें मेसोपोटामिया, अरबिस्तान, सीरिया, फिलस्तीन और उनके सभी धार्मिक स्थान थे, खलीफा के अन्तर्गत रखने का वचन दिया गया था, किन्तु संधि की शर्तों के अनुसार तुर्की को अपने प्रदेश नहीं दिये गये और उसे ब्रिटेन तथा फ्रांस ने आपस में बांट लिया। तुर्की का सुलतान भी एक कैदी मात्र रह गया और मित्र राष्ट्रों के एक हाई कमीशन द्वारा उसका शासन होने लगा। इस विश्वासघात से न केवल मुसलमान, वरन् सम्पूर्ण देश क्रोध से भर उठा। अमृतसर में खिलाफती और कांग्रेसी नेता एकत्र हुए और गांधी जी के निर्देशानुसार खिलाफत आन्दोलन शुरू करने का निश्चय किया गया।

१६ जनवरी, १६२० को डा० अन्सारी के नेतृत्व में एक शिष्ट मण्डल वाइसराय से मिला, किन्तु उसका फल निराशाजनक रहा। मार्च, १६२० में मुहम्मद अली की अध्यक्षता में एक शिष्ट मण्डल इंगलैण्ड के प्रधान मंत्री से भी मिला, लेकिन वे उस अभियान में भी असफल हुए। प्रधान मंत्री ने स्पष्ट रूप से

कहा कि ईसाई राष्ट्रों के साथ बरती गई नीति से भिन्न नीति तुर्की के साथ नहीं हो सकती।

हिन्दू-मुस्लिम एकता का ऐसा अच्छा अवसर गत कई दशकों में नहीं उत्पन्न हो सका था। महात्मा गांधी ने तो यहां तक कहा कि सौ वर्षों के भीतर दोनों जातियों की एकता का ऐसा स्वर्ण सुयोग नहीं प्राप्त हो सकेगा। सचमुच इस युग का आरम्भ राष्ट्रीय चेतना के विकास एवं दृढ़ता की दृष्टि से अपूर्व था। इसने जन-जन के मन में विदेशी शासन के प्रति विद्रोह की भावना भर दी।

१४ मई, १९२० को तुर्किस्तान के साथ की गई संधि की शर्तें प्रकाशित हुईं। इसने खिलाफत आन्दोलन एवं राष्ट्रीय चेतना को और भी उग्र कर दिया। गांधी जी ने घोषणा की कि मैं संधि की शर्तों में संशोधन के लिए असहयोग आन्दोलन करूंगा। २८ मई, १९२० को पंजाब की घटनाओं पर हण्टर रिपोर्ट प्रकाशित हुई। अंगरेज सदस्यों ने दुर्घटनाओं को पूर्व नियोजित बताया। माण्टेगु ने कहा कि 'जनरल डायर ने जैसा उचित समझा उसके अनुसार बिलकुल नेकनीयती के साथ काम किया। अलबत्ता, उससे परिस्थिति को ठीक-ठीक समझने मे गलती हो गई।' इससे भारतीय जनता में निराश और क्षोभ फैलने लगा।

तत्कालीन परिस्थितियों पर गंभीरतापूर्वक विचार करने और उनके सम्बन्ध में सही कदम उठाने के लिए कलकत्ता में लाला लाजपत राय की अध्यक्षता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन सितम्बर में बुलाया गया। इसमें कांग्रेस ने महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन के प्रस्ताव को मंजूर कर लिया। गांधी जी ने प्रगतिशील अहिंसात्मक असहयोग करने का अपील की। मदन मोहन मालवीय, विपिन चन्द्र पाल, चितरंजन दास, श्रीमती वेसेन्ट, जिन्ना आदि ने इस प्रस्ताव का जोरदार विरोध किया था। गांधी जी ने सम्पूर्ण देश का दौरा किया और जनता के हृदय से भय दूर कर नयी आशा और उत्साह जगाया और उसे संघर्ष की एक नयी प्रणाली प्रदान की। उन्होंने सम्पूर्ण विदेशी सत्ता के विरोध में हिन्दू और मुसलमान के एक होने की अपील की। उन्होंने चुनाव को एक जाल कहकर उसका विरोध किया। दोनों जातियों में गांधी जी की इस अपील ने भ्रातृत्व भाव भर दिया और देश में राष्ट्रीयता की भावना दृढ़तर होने लगी। १९२० ई० के नागपुर अधिवेशन ने महात्मा गांधी के असहयोग प्रस्ताव को स्वीकृति प्रदान की। दास, पाल आदि इस प्रस्ताव से सहमत न हो सके और कांग्रेस छोड़कर उदारवादियों में सम्मिलित हो गये।

नागपुर अधिवेशन के असहयोग प्रस्ताव में सरकारी उपाधियां, स्कूल-कालेज, विदेशी वस्त्र, कचहरी, कौंसिल तथा फौज और दफ्तरों की नौकरियाँ छोड़ने की योजना थी। गांधी जी के आह्वान पर इन बहिष्कारों में जनता ने खुले दिल से भाग लेकर उसे सराहनीय सफलता प्रदान की। देश में कई राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना की गई। १९२१ ई० में ड्यूक आफ कनाट भारतीय जनता का रुख देखने के लिए भारत आये। जनता ने उनका स्वागत हड़तालों से किया। जगह-जगह विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई। कई स्थानों पर खून खराबियाँ हुईं। अन्त में उसका रूप साम्प्रदायिक दंगे में प्रकट हुआ। बम्बई में हिन्दू-मुसलमानों के खून की धारा बह चली। गांधी जी ने इसके प्रायश्चित स्वरूप अनशन शुरू कर दिया।

१९२१ ई० के सम्पूर्ण वर्ष में असहयोग में शक्ति और तीव्रता आती गई। कचहरियों का बहिष्कार बहुत अधिक सफल हुआ। विदेशी वस्त्रों और शराब का बहिष्कार भी बहुत उत्साहवर्द्धक था। महात्मा गांधी की शान्तिपूर्ण असहयोग के द्वारा एक वर्ष में स्वराज्य लेने की घोषणा ने बहुत अधिक बल इस आन्दोलन को दिया।

धीरे-धीरे आन्दोलन सरकारी नियमों के प्रतिवाद की ओर अग्रसर हुआ। इसी क्रम में चौरीचौरा काण्ड हुआ। वहाँ के किसानों में सरकारी अमलों से प्रतिशोध लेने की भावना उत्तेजित हुई। जन-समूह का बल पाकर उन्होंने कई पुलिस सिपाहियों को मार डाला। गांधी जी इस हिंसात्मक कार्रवाई से क्षुब्ध हो गये। फलतः असहयोग आन्दोलन समाप्त कर दिया गया। इस आन्दोलन के क्रम में देश के अनेक लोग जेल गये।

चितरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, लाजपत राय आदि ने गांधी जी की खूब भर्त्सना की। जवाहर लाल जैसे नवयुवक तो आन्दोलन के बन्द किये जाने से ही क्षुब्ध थे।

आन्दोलन के समय अधिकारियों ने नृशंसतापूर्वक आन्दोलनकारियों का दमन किया, ही बाद में भी उनकी नीति वही रही। इस आन्दोलन में २० हजार से भी ज्यादा सत्याग्रही जेल यात्री हुए।

१९२२ ई० के साम्प्रदायिक दंगों तथा अहिंसात्मक कार्यों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता को कमजोर कर दिया और खिलाफत तथा असहयोग दोनों ही कार्यतः तथा सिद्धान्तः समाप्त हो गये। जेल से मुक्त होने पर चितरंजनदास ने कौंसिल में प्रवेश कर नौकरशाही को पराजित करने की योजना बनायी। इससे कई क्षेत्रों में नौकरशाही सचेत हो गई। ओडायर ने कहा था, 'इस तरह का

ध्वंस प्रकट विद्रोह की अपेक्षा ज्यादा घातक है।' कांग्रेस को सविनय अवज्ञा समिति के अध्यक्ष रूप में हकीम अजमल खां ने घोषणा की कि आन्दोलन मर चुका है। उन्होंने यह भी सिफारिश की कि असहयोगियों को चुनाव में भाग लेना चाहिये। और इस प्रकार वे राज्य की ओर बढ़े। बहुमत प्राप्त होने पर सरकारी हर काम के विरोध की योजना भी उसमें सम्मिलित थी। गांधी जी कौंसिल में प्रवेश करने के पक्ष मे नहीं थे। इस प्रकार कांग्रेस दो दलों में बंट गई। कांग्रेस गांधी जी के हाथ में थी। चितरंजन दास ने स्वराज्य पार्टी की स्थापना की और १९२३ ई० के चुनाव में उन लोगों ने भाग लिया। मध्यप्रदेश और बंगाल में स्वराज्य पार्टी को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। अन्य प्रान्तों मे भी स्वराजी विजयी हुए, लेकिन उनका बहुमत स्थापित नहीं हो सका।

स्वराजी दल को यह आशा थी कि चुनाव में भाग लेकर वे जोरदार ढंग से राष्ट्रीयता का प्रचार करेंगे। वे राष्ट्रीय जीवन के स्वस्थ विकास के लिए कानून बनाना चाहते थे। स्वराजियों ने विधान सभाओं के भीतर सरकारी नीति का विरोध किया और उसके लिए अडंगा की नीति अपनाई। लेकिन इस नीति से सरकार के कार्यों मे गत्यवरोध न हो सका। अधिक सफलता मिलते न देख वे सभा-भवन का बहिष्कार करने लगे। तेजबहादुर सप्रू ने स्वराजियों की देशभक्ति का विश्लेषण करते हुये कहा कि उनकी राष्ट्रीयता 'लोको मोशन' की नाटकीय राष्ट्रीयता है।

बंगाल में स्वराजियों के सफल होने का कारण उनका बहुमत था। उन्होंने मंत्रियों के वेतन-सम्बन्धी सरकारी बिल को रद्द कर दिया। मध्यप्रदेश में भी स्वराजियों ने सरकार का जोरदार विरोध किया। १९२६ ई० में स्वराजी विधान सभाओं से वापस चले आये। उनके कार्यों को बहुत अधिक महत्व भले न दिया जाय, लेकिन उन्होंने अडंगा की नीति से राष्ट्रीय संघर्ष को कायम रखा। असहयोग, खिलाफत और सविनय अवज्ञा आन्दोलनों की असफलता से देश में व्याप्त निराशा की भावना को स्वराजियों की क्रियाशीलता ने मिटा दी और राष्ट्रीय चेतना मिटने नहीं पाई; लड़खड़ाने नहीं पाई। किन्तु १९२३ और १९२४ ई० में देश के कई भागों में जबर्दस्त साम्प्रदायिक दंगे हुए। दिल्ली, गुलबर्गा, नागपुर, लखनऊ, शाहजहांपुर, इलाहाबाद और जबलपुर में दंगो का जोर रहा। सबसे भयंकर दंगा कोहाट में हुआ। कोहाट के दंगे ने भारत की कमर तोड़ दी।

साम्प्रदायिक दंगों ने देश की राष्ट्रीय एकता पर बड़ा आघात किया। गांधी जी इन घटनाओं की आवृत्ति से घबड़ा उठे। उन्होंने प्रायश्चित स्वरूप २१ दिनों का उपवास प्रारम्भ किया। ऐसी दशा में देश में बहिष्कार संभव नहीं था। इसलिए सब प्रकार के बहिष्कार उठा लिये गये, मात्र विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार चलता रहा। १९२५ ई० में भी दंगों का जोर रहा। उसने देश की राष्ट्रीय परम्परा को बहुत अधिक क्षति पहुँचाई।

१९२५ से २७ ई० तक के कार्यों में स्वराजी शाश्वत अवरोध की नीति नहीं अपना सके। मोतीलाल के नेतृत्व में स्वराजियों ने केन्द्रीय धारा सभा में सरकार से सहयोग की नीति अपनाई। मालवीय जी और लाला लाजपत राय ने कांग्रेस स्वतन्त्र पार्टी का गठन किया और देश के हिन्दुओं को अपने झंडे के नीचे एकत्र किया। बम्बई में खुले रूप मे उन्होंने सरकार को सहयोग दिया। सुभाषचन्द्र बोस के क्रान्तिकारी दल से सम्बन्धित होने का संदेह किया गया। वे बर्मा चले गये। इस प्रकार स्वराज्य पार्टी दो भागों में विभक्त हो गयी और राष्ट्रीय आन्दोलन का यह मंच भी खत्म हो गया। इन वर्षों में महात्मा गांधी ने सूत कताई संघ बनाया और इसके लिए देश भर में अनेक संघ बनाये।

१९२८ ई० राजनीतिक दृष्टि से विविध क्रियाशीलताओं का वर्ष था। इस काल-विन्दु के बाद से देश में क्रान्तिकारी भावना का पुनः विकास होने लगा। नवयुवकों में जागरण का उद्भव हुआ और उन्होंने क्रान्तिकारी तथा सामाजिक-आर्थिक सिद्धान्तों पर विशेष ध्यान दिया। नवयुवक जागरण के फलस्वरूप देश के राष्ट्रीय नवजागरण के रंगमंच पर जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस नामक दो नेता अवतीर्ण हुए। प्रो० कोटमैन नामक एक भूतपूर्व पुलिस अफसर ने दोनों के सम्बन्ध में लिखा था कि 'नेहरू को इतिहास लेनिन के रूप में स्मरण करेगा और सुभाष को बंगाल के मुसोलिनी रूप में।' दोनों ही नेता उग्रवादी विचारों के थे और उनके पक्ष में अनेक उत्साही नवयुवक थे।

इस प्रकार १९२८ ई० के बाद राष्ट्रीयता अधिक उग्र एवं क्रान्तिकारी दीख पड़ने लगी। राष्ट्रीय आन्दोलन की इसी उग्रता और शक्तिमत्ता ने अंगरेजी सरकार का भी ध्यान इस ओर आकृष्ट किया और भारत में उत्तरदायी शासन लागू करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए साइमन कमीशन की नियुक्ति की गई। यह स्मरणीय है कि १९२७ ई० की मद्रास कांग्रेस ने अपना ध्येय औपनिवेशिक स्वराज्य के स्थान पर 'पूर्ण राष्ट्रीय स्वतंत्रता' घोषित किया।

कमीशन का काम इस बात की रिपोर्ट पेश करना था कि भारत में उत्तर-दायी शासन की स्थापना तत्कालीन परिस्थितियों में संभव है या नहीं और यदि

है तो किस सीमा तक। चूंकि इस कमीशन में कोई भी भारतीय सम्मिलित नहीं किया गया था, इसलिए भारतीय जनता ने समझा कि उसके स्वभाग्य-निर्णय की पूरी तरह उपेक्षा की गई है। उसने आत्मसम्मानपूर्ण राह यह चुना कि हर दशा में इस शाही कमीशन का बहिष्कार किया जाय।

३ फरवरी, १९२८ को साइमन कमीशन ने बम्बई की भूमि पर चरण रखा और उसका स्वागत हड़तालों से किया गया। सरकार कमीशन के स्वागत के लिए तत्पर थी, लेकिन किसी भी देशभक्त ने उसका साथ नहीं दिया, केवल चाटुकारों ने उसका स्वागत किया। राष्ट्रीय विचार वालों ने काले झंडे दिखा और 'साइमन लौट जाओ' के नारे लगा कर सरकारी निति का विरोध किया। कई स्थानों पर उत्तेजित भीड़ तथा दमन के लिए कटिबद्ध पुलिस सिपाहियों में मुठभेड़ हो गई।

साइमन कमीशन में भारतीय प्रतिनिधियों के सम्मिलित न करने की बात के जबाब में सरकार ने कहा कि साम्प्रदायिक दंगों के कारण वह ऐसा नहीं कर सकी है। प्रत्येक राष्ट्रीय नेता के मन में यह बात खटक रही थी। राष्ट्रीयता के पूर्ण विकास के मार्ग में साम्प्रदायिकता एक बड़ी बाधा थी। मोतीलाल नेहरू ने स्वतंत्रता के लिए सभी पार्टियों के मिलन की एक योजना तैयार की। फरवरी-मार्च, १९२८ में सर्वदल सम्मेलन का आवाहन किया गया। जिसमें कांग्रेस, लीग, महासभा, सिख लीग आदि ने नेहरू की रिपोर्ट पर विचार किया। राष्ट्रीयता के इतिहास में इस सम्मेलन का कार्य एक दिशा-संकेत माना जायगा, क्योंकि इसने देश की एकता को नये रूप में उपस्थित किया। नेहरू रिपोर्ट में साम्प्रदायिक आधार पर की जाने वाली निर्वाचन प्रणाली की भी भर्त्सना हुई थी, क्योंकि राष्ट्रीयता के हित की दृष्टि से वह सर्वथा अनुचित एवं घातक सिद्ध किया गया था। साम्प्रदायिक हिन्दू-मुसलमानों ने इसे कारगर नहीं होने दिया।

धीरे-धीरे कांग्रेस स्वराजियों के हाथ से निकल कर पुनः गांधी जी के हाथ में आई। उन्होंने असहयोग की बात प्रारम्भ की और कहा कि टैक्स देना बन्द कर देना चाहिये।

अप्रैल, १९२९ में मैकडोनाल्ड की मजदूर दलीय सरकार इंगलैंड में बनी। भारत के नेताओं में इससे बहुत अधिक आशा तथा बल का संचार हुआ। जून, १९२९ में लार्ड इरविन इंगलैण्ड गये और वहाँ से लौटकर ३१ अक्तूबर, १९२९ को उन्होंने घोषणा की कि इंगलैण्ड की सरकार ब्रिटिश भारत और राज्यों का

एक कान्फ्रेन्स करना चाहती है । उसका उद्देश्य यह जान लेना था कि भारतीय जनता किस सीमा तक सरकार से समझौता कर सकती थी । उन्होंने बाताया कि वे भारत को वैधानिक प्रगति के माध्यम से औपनिवेशिक स्वराज देना चाहते हैं । उदारवादी नेताओं ने सरकार से सहयोग करना स्वीकार कर लिया । गांधी जी कान्फ्रेन्स में तब शामिल होना चाहते थे, जब वाइसराय यह आश्वासन दें कि उसमें औपनिवेशिक स्वराज के आधार पर बातें की जायंगी। वाइसराय ऐसा कोई आश्वासन न दे सके । फलतः गांधी जी उसमें सम्मिलित नहीं हुए ।

सरकारी समझौते की असफलता के निराशामय वातावरण में लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन १९२९ ई० में हुआ, जिसके अध्यक्ष जवाहरलाल चुने गये । यह इस बात का संकेत था कि कांग्रेस के अग्रणियो ने प्रत्यक्ष कार्रवाई की नीति अपनाने का निश्चय किया है । नेहरू जी ने अपने को समाजवादी घोषित किया और कहा कि भारतीय स्वतन्त्रता की लड़ाई ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध खुली लड़ाई है । इसलिए वे गुप्त संघर्ष रीति पर विश्वास नहीं करते । उन्होने बताया कि अब गोलमेज परिषद् में सम्मिलित होकर औपनिवेशिक स्वराज्य लेने की परिस्थितियां बदल गई हैं। रावी के तट पर कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य अपना लक्ष्य घोषित किया । यह भी निर्णय हुआ कि कामनवेल्थ से स्वतन्त्र भारत का कोइ सम्बन्ध न होगा ।

कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को पुनः शुरू करने का निश्चय किया । श्रीनिवास आयंगर और सुभाष बोस इससे सन्तुष्ट नही थे, क्योंकि सरकार के विरुद्ध युद्ध की खुली घोषणा नहीं की गई थी । कांग्रेस ने जवाहरलाल नेहरू जैसे उग्रवादी के नेतृत्व में भी ऐसा निश्चय नहीं किया, क्योकि देश उस समय विद्रोह के लिए तैयार नहीं था ।

२६ जनवरी, १९३० ई० स्वतन्त्रता के इतिहास में क्रान्तिकारी दिवस माना जायगा, जबकि देश के हर कोने में स्वतन्त्रता का प्रतीक तिरङ्गा झन्डा फहराया गया और पूर्ण स्वराज की घोषणा की गई । साथ ही देश भर में सरकार से सहयोग न करने की प्रतिज्ञाएं भी दुहराई गईं । स्वतन्त्रता दिवस के उपलक्ष में हुए सारे आयोजनो से देश का उत्साह एवं बल स्पष्ट ही प्रकट हो गया । यह भी ज्ञात हो गया कि कार्य प्रारम्भ करने का यही उपयुक्त अवसर है । सविनय अवज्ञा की कांग्रेसी पुकार पर फरवरी १९३० तक १७२ विधायकों ने विधान सभा की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया ।

कांग्रेस कार्य समिति ने गांधी जी को सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू करने का अधिकार दे दिया। गांधी जी ने इसकी घोषणा करते हुए कहा :--

"मुझे भिक्षांदेहि की राजनीति पर विश्वास था। पर सब व्यर्थ हुआ। मैं जान गया कि सरकार को सीधा करने का यह उपाय नहीं है। अब तो राजद्रोह ही मेरा धर्म हो गया है। पर हमारी लड़ाई अहिंसा की लड़ाई है। हम किसी को मारना नही चाहते, पर इस सत्यानाशी शासन को खत्म कर देना हमारा परम कर्त्तव्य है।"

सविनय अवज्ञा के लिये उन्होंने नमक कानून की अवज्ञा का निश्चय किया। अपने आश्रम, साबरमती से २०० मील दूर दण्डी के समुद्र तट पर नमक कानून तोड़ने के लिए उन्होने ७९ साथियो के साथ १२ मार्च, १९३० को प्रस्थान किया। यह अभियान ऐतिहासिक अभियान था। ७५ हजार किसानों ने इस अवसर पर साबरमती में एकत्र होकर तब तक विराम न लेने की प्रतिज्ञा की, जब तक भारत स्वतन्त्र नही हो जाता। देश के हर कोने में नमक कानून तोड़ा गया। जितना अधिक सहयोग एवं समर्थन गांधी को मिला वह अभूतपूर्व था। देश के एक कोने से दूसरे कोने में राष्ट्रीयता की उद्दाम धारा बह चली।

बाम्बे क्रानिकल ने इस अवसर का बड़ा ही मार्मिक शब्द चित्र प्रस्तुत किया है :--

'इस महान् अवसर पर देश प्रेम की जितनी प्रबल धारा वह रही थी, उतनी पहले कभी नहीं बही थी। यह एक महान आन्दोलन का महान् आरम्भ था और निश्चय ही भारत की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के इतिहास में इसका महत्वपूर्ण स्थान रहेगा।'

५ अप्रैल को गांधी जी ने नमक कानून भंग किया और वे गिरफ्तार कर लिये गये। उनकी गिरफ्तारी से देश भर में हड़ताल शुरू हो गयी। देश के प्रत्येक वर्ग का आवाहन किया गया कि वह पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति मे सहयोग दे। करबन्दी, नशाबन्दी तथा विदेशी वस्त्रों का बाहिष्कार देश भर म व्याप्त हो गया। प्रत्येक वर्ग ने स्वराज्य के इस आन्दोलन में अपना अन्यतम योग दान किया। एक बात स्मरणीय है कि कांग्रेस ने इस अवसर पर जो कार्रवाई शुरू की, उसके मूल में आर्थिक राष्ट्रीयता ही थी।

सरकार ने आतंकवादी दमन पूरे वेग से शुरू किया। अनेक स्थानों पर लाठी-चार्ज हुआ। देश जेलखाने के रूप में परिवर्तितं हो उठा। स्त्रियों के साथ बलात्कार किया गया। विद्यार्थियों तथा शिक्षकों को बेरहमी से पीटा गया। लोगों को लम्बी सजाएँ दी गई और उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई।

इसी समय जून, १९३० में साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसमें भारतीय राष्ट्रीय भावना की पूर्णतः उपेक्षा की गई थी। फलतः इसने भी आन्दोलन को और तीव्र कर दिया।

आन्दोलन के विकास के साथ ही देश में क्रान्तिकारी कार्रवाइयों का जोर भी बढ़ा। चटगांव के शस्त्रागार को अप्रैल १९३० में क्रान्तिकारियों ने लूट लिया। शोलापुर में विद्रोह की आग फूटी और विद्रोहियों ने समूचे शहर को अपने कब्जे में ले लिया। इसी वर्ष भगत सिंह ने भी असेम्बली में बम फेका और सरकारी नीति के प्रति विरोध प्रकट कर अपने देश प्रेम का परिचय दिया। इस वर्ष के उत्तरार्ध में शायद ही कोई ऐसा सप्ताह बीता हो जब किसी अंगरेज अधिकारी पर बम न फेंका गया हो।

मध्यवर्ग तथा पूंजीपति वर्ग के लोग इन परिस्थितियों से परेशान हो उठे थे। वे सरकार और कांग्रेस में समझौता चाहते थे। उदारवादी नेता तेजबहादुर सप्रू और जयकर समझौते के लिये वाइसराय और कांग्रेसी नेताओं से मिले। कांग्रेस ने अन्य शर्तों के अतिरिक्त अर्थ और सुरक्षा पर पूर्ण अधिकार के साथ भारतीय जनता के प्रति उत्तरदायी शासन की मांग रखी। वाइसराय इससे सहमत नहीं हो सके और इसलिए कांग्रेस प्रथम गोलमेज परिषद् में शामिल नहीं हो सकी। लार्ड जेटलैण्ड ने इसे 'राजनीतिक बुद्धिमत्ता से रहित अद्वितीय' कार्य कहा। सचमुच दूसरी परिषद् में शामिल होकर कांग्रेस वैधानिक शासन की दिशा मे कोई खास महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकी।

पहली गोलमेज परिषद् १२ नवम्बर, १९३० को प्रारम्भ हुई। प्रधान मंत्री मैकडानल्ड ने परिषद् को भारत के भावी विधान की रूपरेखा निश्चित करने का कार्य-भार सौंपा, लेकिन वह भी पूर्ण नहीं था। उन्होंने संघात्मक शासन प्रणाली की स्थापना का अपना लक्ष्य बताया तथा सुरक्षा तथा वैदेशिक विभाग को सुरक्षित विषय बताकर वाइसराय के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत दे दिया। कांग्रेस को छोड़कर उसमें ब्रिटिश भारत, भारतीय राजाओं तथा ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस परिषद् में एक बात से मजदूर दलीय सरकार अवगत हो गई कि भारत शीघ्रातिशीघ्र औपनिवेशिक स्वराज्य चाहता है।

परिषद् में मुसलमानों ने अपने सम्प्रदाय की सुरक्षा के लिए जोरदार अपील की। हिन्दू प्रतिनिधि इसका विरोध सफलता पूर्वक नहीं कर सके। सुभाषचन्द्र बोस के शब्दों में 'गोलमेज परिषद् ने भारत को दो कड़वी गोलियाँ दीं, सुरक्षा

और सघ की। इन गोलियों को भोज्य बनाने के लिए उनके ऊपर उत्तरदायित्व की चीनी लपेट दी गई थी।'

सरकार ने गोलमेज परिषद् की कार्रवाई पूरी तो की, लेकिन कांग्रेस का अभाव उसे सदा खलता रहा। उसके बिना परिषद् सम्प्रदायवादियों और प्रतिक्रियावादियों का सम्मेलन सिद्ध हुई। वाइसराय ने महात्मा जी से सहयोग की अपील की। प्रधान मंत्री ने भी अपनी सहमति प्रकट की।

इस दिशा में सरकार की सचेष्टता इससे प्रकट हो गई कि उसने गांधी जी को उनके १९ साथियों के साथ २५ जनवरी, १९३१ को बिना शर्त मुक्त कर दिया, जिससे वे समझौते के सम्बन्ध में विचार-विमर्श कर सकें। कांग्रेस ने समझौता करने का निश्चय किया और घोषणा की कि इस समय कोई नया आन्दोलन न शुरू किया जाय।

५ मार्च १९३१ को दिल्ली में गांधी-इरविन समझौते पर हस्ताक्षर हुए, जिसमे गांधी जी ने बहिष्कार और सविनय अवज्ञा को वापस लेना और गोलमेज परिषद् मे सम्मिलित होना स्वीकार किया। सरकार ने राजनीतिक बन्दियों को मुक्त करने, आर्डिनेन्सों को वापस लेने, जब्त सम्पत्ति को लौटाने, समुद्र तटवासियों को बिना टैक्स नमक बनाने तथा नशाबन्दी का शान्तिपूर्ण विरोध करने की छूट देना भी स्वीकार किया। कुछ लोगों ने महात्मा जी पर बलवान जन आन्दोलन को पथभ्रष्ट करने तथा स्वराज्य के संघर्ष को छोड़ने का आरोप किया। कुछ आलोचकों ने इसे भारतीय राष्ट्रीयता का ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति समपर्ण भाव कहा। महात्मा जी ने कहा कि वे इस समझौते में विजयी हुए हैं। नवजवान भारत समझौते के पक्ष में नहीं था, क्योंकि हाल में ही भगत सिंह को फांसी दी गई थी।

इस वर्ष कानपुर में हिन्दू-मुस्लिम दंगा खूब जोरों से शुरू हुआ, जिसमें गणेश शंकर विद्यार्थी मारे गये। इससे सम्पूर्ण देश में क्षोभ एवं शोक व्याप्त हो गया।

१९३१ की कराची कांग्रेस ने बहुत विवाद के बाद समझौते के प्रस्ताव को स्वीकार किया। एकमात्र गांधी जी कांग्रेस प्रतिनिधि के रूप में २९ अगस्त, १९३१ को द्वितीय गोलमेज परिषद् में सम्मिलित होने के लिए इंगलैण्ड रवाना हुए।

वहाँ परिस्थितियाँ भिन्न हो गई थीं। १६ अगस्त को मजदूर सरकार ने इस्तीफा दे दिया था और अनुदार दल की नई सरकार बन गई थी। इसलिए

गोलमेज परिषद् थका देने वाली आडम्बरपूर्ण वाद-विवाद समिति बन कर रह गयी। भारतीय समस्याओं का कोई सही और उपयुक्त समाधान इसमें नहीं प्राप्त हो सका। गांधी जी साम्प्रदायिक समस्या का समाधान इस परिषद् में चाहते थे। उन्होंने इसके लिए अथक परिश्रम भी किया, लेकिन वे भारतीय राजाओं और सम्प्रदायवादियों के संयुक्त मोर्चे के खिलाफ कुछ नहीं कर सके। पं० मालवीय जैसे हिन्दू नेता भी गांधी जी के इस कार्य में विरोधी ही रहे। डा० अम्बेदकर ने दलित जातियों की समस्याओं का बड़ा स्पष्ट और प्रभावपूर्ण चित्र प्रस्तुत कर हिन्दुओं के साथ रहने से अस्वीकार कर दिया। अन्त में मुस्लिम, दलितवर्ग, भारतीय ईसाई, आंग्ल भारतीय और ब्रिटिश सरकार के सदस्य राष्ट्रीय भावना के पक्षधर गांधी के विरुद्ध संयुक्त हो गये और पृथक् निर्वाचन की मांग की। बड़े दुख के साथ महात्मा जी को कहना पड़ा कि वे भारतीय साम्प्रदायिक समस्या का समाधान करने में असफल रहे।

परिषद् की कार्यवाही एक दिसम्बर, १९३१ को समाप्त हुई। ६ दिसम्बर को वे इंगलैंड से भारत के लिए रवाना हुए। जब वे रोम में थे, लन्दन टाइम्स ने एक इटालियन प्रेस रिपोर्टर की रिपोर्ट प्रकाशित कर बताया कि वे पुनः संघर्ष शुरू करने जा रहे हैं। संवाद सर्वथा गलत था। २८ दिसम्बर को वे भारत पहुँचे और ४ जनवरी १९३२ को पुनः गिरफ्तार कर लिये गये। महात्मा जी की गिरफ्तारी संघर्ष प्रारम्भ होने का सूचक थी। संघर्ष पुनः शुरू हो गया। ज्यों-ज्यों आन्दोलन बढ़ता गया, सरकार की बहुमुखी आतंकवादी कार्रवाइयां भी अधिक होने लगी। कांग्रेस के नेता दीर्घ कारावास से दण्डित हुए।

मुसलमानो ने नौकरशाही का साथ दिया ओर बम्बई में मौलाना शौकत अली ने बहिष्कार आन्दोलन को चुनौती दी। इससे हिन्दू-मुस्लिम उत्तेजना बढ़ी और मई महीने में साम्प्रदायिक दंगे शुरू हो गये। दलित वर्ग के सदस्य भी मुसलमानो के रास्ते पर ही थे। शहर की हालत बदतर होती गई, लेकिन नौकरशाही आनन्दपूर्वक सब कुछ देखती रही।

सांप्रदायिक समस्याओं के समाधान में भारतीय सदस्यों की असफलता के कारण मैकडानाल्ड ने पंचायत की और उन्होने एक सुझाव ८ अगस्त, १९३२ को प्रकाशित किया, जिसमें अल्पमत वाली जातियों के लिए पृथक् निर्वाचन का विधान किया गया था। मुसलमानों के अतिरिक्त सिखों और दलित वर्ग के लिए भी स्थान सुरक्षित कर दिये गये थे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा हिन्दू सम्प्रदाय में भी फूट डालने के कारण महात्मा जी दुखी हुए और उन्होने आमरण अनशन शुरू किया।

हिन्दू जनता इससे बहुत उत्तेजित हुई। मालवीय जी ने हिन्दुओं की एक सभा पूना में बुलाई, जिसमें डा० अम्बेडकर भी थे। उसमें गांधी जी की प्राण-रक्षा के लिए समझौते का प्रस्ताव किया गया। डा० अम्बेडकर सरकार द्वारा दी गई सुविधाओं से असंतुष्ट थे। उन्होंने सौदा करने का अच्छा मौका देखा और दलित वर्ग के लिए अधिक स्थानों की मांग की। इस वर्ग को सरकार द्वारा प्रान्तीय विधान सभा में दिये ७१ के बदले १४८ स्थान देना निश्चित हुआ और इस आशय का एक समझौता किया गया जिसे पूना समझौता कहते हैं। गाँधी जी द्वारा की गई उस सिफारिश को सरकार ने भी मान लिया। इससे दलित वर्ग कांग्रेश के साथ हो गया और अछूतोद्धार का आन्दोलन बड़े वेग से प्रारम्भ किया गया।

अछूतोद्धार आन्दोलन के फलस्वरूप सविनय अवज्ञा आन्दोलन मन्द पड़ गया। १९३२ ई० में, जबकि तीसरी गोलमेज परिषद् राजभक्तों और प्रति-क्रियावादियों के सहयोग से लन्दन में भारत के भाग्य पर विचार कर रही थी, भारत के देश भक्त जेल में कोड़ों से पीटे जा रहे थे। धीरे-धीरे सविनय अवज्ञा आन्दोलन पथरा गया, लेकिन इस रूप में भी ८ मई, १९३३ तक, जबकि गांधी जी जेल से मुक्त किये गये, यह चलता रहा।

जेल से मुक्त होते ही गांधी जी ने ६ सप्ताह के लिए आन्दोलन बन्द कर दिया, क्योंकि आर्डिनेन्सों से जनता भयाक्रान्त थी और देश में हिंसा वृत्ति बढ़ रही थी, जिससे अहिंसा का पवित्र सिद्धान्त मिट रहा था। यद्यपि सामूहिक रूप से आन्दोलन बन्द कर दिया गया था, लेकिन राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा के लिए व्यक्तिगत आन्दोलन चलाया जा रहा था और यह क्रम मार्च १९३४ तक चला।

धीरे-धीरे राष्ट्रीय वर्ग में प्रलोभन का प्रभाव बढ़ने लगा और कुछ लोगों में कौंसिल-प्रवेश की भावना जागी। सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग न लेने वालों की एक सभा ३१ मार्च १९३३ को दिल्ली में डा० अन्सारी की अध्यक्षता में हुई और सभा ने पुनः स्वराज्यपार्टी की स्थापना कर नये विधान के अनुसार चुनाव में शामिल होने के लिए मतदाताओं को संगठित करने का निश्चय किया। इस कार्यक्रम को कांग्रेस ने स्वीकार किया। गांधी जी ने इसे सहमति प्रदान की, लेकिन अपने को उन्होंने सविनय अवज्ञा के लिए ही अर्पित किया।

१९३४ ई० के बम्बई अधिवेशन में कांग्रेस ने देश को उसके वीरतापूर्ण कार्यों के लिए बधाई दी और कहा की सत्याग्रह भले कुछ काल के लिए बन्द हो जाय,

उन्हे काफी धक्का लगा। सरकारी सहायता के अभाव में विदेशी उद्योगपतियों के सहयोग से भारतीय पूंजी ने बढ़ना शुरू किया। लेकिन रुपये की कीमत कम हो जाने के कारण देशी उद्योग-धंधों की हालत चिन्त्य हो उठी थी। यह साफ है कि इस नीति के कारण १९२८ ई० के बाद भारतीय पूंजी से खुलने वाले उद्योगों में नाममात्र को ही वृद्धि हो सकी।

इसी समय रिजर्व बैंक की स्थापना हुई, जिससे देश का सम्पूर्ण अर्थतंत्र अंगरेजो के हाथ में आ गया। रुपये की कीमत कम हो जाने से भारतीय माल की कीमत गिर गई, जबकि अंगरेजों का सूद तथा कर्ज बहुत अधिक हो गया। इससे देश तबाह हो उठा और उसका आर्थिक जीवन शोषण के फलस्वरूप जर्जर हो गया।

देश का प्राचीन उद्योग और भी नष्ट हो गया, क्योंकि नये कल-कारखानों ने उन्हें चौपट कर दिया। शिल्प-उद्योग से जितने लोग जीवन-निर्वाह करते थे, उससे कम लोग ही मिलों में काम पा सके थे। भारत की औद्योगिक स्थिति का ब्यौरा देते हुए डी० एच० बकनन ने ठीक ही लिखा है—

'थोड़े से बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्र जरूर हैं, लेकिन दस्तकारी से जितने लोगों की रोजी चलती थी, कारखानों से उतने अधिक लोगों की रोजी नहीं चलती। देश के प्रति वर्ष के आयात से निर्यात कम है।'

इसलिए दिन-दिन भारत में बेकार लोगों की संख्या बढ़ती गई। खेती के पुराने ढंग थे। इसलिए उसपर अधिक लोगों का जीवन-निर्वाह संभव नहीं था। बेकारी की समस्या से देश की आर्थिक स्थिति जर्जर हो गई थी।

बैंक, बीमा, एक्सचेन्ज, जहाज, रेल, चाय, काफी, रबर, जूट आदि उद्योगों पर अंगरेजों का एकाधिपत्य था और इससे वे सदा देश का आर्थिक शोषण करते रहे। प्रथम महायुद्ध का खर्च भी भारत को देना पड़ा था। करों की संख्या दिन-दिन बढ़ती गई। जो लोग राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग ले रहे थे, उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई। इन सब स्थितियों का समवेत प्रभाव देश की आर्थिक स्थिति पर पड़ा और देश की दशा अधिक दयनीय होती गई।

देश के राष्ट्रीय आन्दोलन का आर्थिक पक्ष सदा से महत्वपूर्ण रहा है। इस काल में भी इस पक्ष पर विशेष जोर रहा। १९२१ से १९३९ के अन्त तक विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का आन्दोलन चलता रहा। विदेशी व्यापार को इससे भी गहरा धक्का लगा और देश में आर्थिक चेतना के विकास के साथ ही औद्योगीकरण की ओर अधिक ध्यान गया। यद्यपि इस काल के प्रारम्भ में ही भारतीय पूंजी को सरकारी सहायताएं और बढ़ावे मिले, लेकिन इसका

परिणाम यह हुआ कि देश में भारतीय पूँजी की जड़े जम गई और उसका उत्तोत्तर विकास अपने सही-स्वभाविक ढंग से होने लगा। राष्ट्रीय आन्दोलन के आर्थिक पहलू से देश के उद्योग-धंधो को काफी बल मिला।

आर्थिक जीवन का एक पहलू और भी था जिसकी ओर इस काल में लोगों का ध्यान गया। वह था पूँजीवाद का विरोध और मजदूर वर्ग के उन्नयन की आकांक्षा तथा उनका शोषण मिटा देने का अभियान। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने तथा जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण आदि जैसे कांग्रेसियों ने इस दिशा में काम किया। ये लोग नवयुवक थे और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के पक्षधर थे।

१९२८ ई० के आसपास मजदूर और किसानों को कम्युनिष्ट पार्टी ने जागरण का संदेश दिया। उनके निर्देशन में ही किसान-मजदूर आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। गुजरात की सरकार के खिलाफ वहाँ के किसानों का आन्दोलन सारे देश को इस दिशा में जगाने में समर्थ हो सका। मजदूरों की दशा चिन्त्य थी। वे अधिक काम करके भी नग्न, बुभुक्षित तथा रोग ग्रस्त थे। उनमे वर्ग चेतना का विकास हुआ। उन्होंने शोषण का विरोध किया, क्योंकि उससे विदेशी पूँजीपति ही ज्यादा लाभान्वित थे। मजदूरों की अशान्ति से आर्थिक व्यवस्था में एक नई चेतना जागी।

वर्ग चेतना के फलस्वरूप बंगाल के जूट मिल में हड़ताल हुई। इसके अतिरिक्त टाटा आयरन वर्क्स तथा बम्बई की कपड़ा मिलों को भी हड़तालों का सामना करना पड़ा। सरकार ने मार्च, १९२९ में मजदूरों की अशान्ति पर कड़ा रुख अख्तियार किया और मजदूरों के कई नेता जेल में डाल दिये गये। इस प्रकार मजदूर चेतना के फलस्वरूप जहां एक ओर अंगरेजों की शोषण नीति का विरोध किया गया, वहाँ दूसरी ओर भारतीय पूँजीपतियों का भी नुकशान हुआ और इस दिशा में उनके कान खड़े हो गये। करबन्दी आन्दोलन शुरू हुआ तथा नमक कानून भंग किया गया।

धार्मिक एवं सांस्कृतिक—आलोच्यकाल में धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन में भी नयी-नयी स्थितियां आई और उनसे राष्ट्रीय चेतना विकसित एवं अवरुद्ध हुई। यह काल साम्प्रदायिक उत्तेजना का काल कहा जा सकता है।

छायावाद—युग में अन्य युगों की तरह आर्य समाज ने हिन्दू धर्म को संगठित करने का प्रयत्न किया और उसे शक्ति दिया। उसने रूढ़ियों की जड़ता हटाकर इस धर्म को नई चेतना दी। हिन्दू धर्म के प्रति की गई आर्य समाज की सेवाओं

का उल्लेख करते हुए पंडित चमूपति ने 'द कलचरल हेरिटेज आॅफ इन्डिया' में ठीक ही लिखा है--

'आर्य समाज के जन्म के समय हिन्दू कोरा फुसफुसिया जीव था। उसके मेरुदन्ड की हड्डी नहीं थी।··· किन्तु, आर्य-समाज के उदय के बाद, अविचल उदासीनता की यह मनोवृत्ति विदा हो गई। हिन्दुओं का धर्म फिर एक बार जगमगा उठा। आज का हिन्दू अपने धर्म की निन्दा सुनकर चुप नहीं रह सकता, जरूरत हुई तो धर्म-रक्षार्थ वह अपने प्राण भी दे सकता है।'

सचमुच ईसाई और इस्लाम धर्म के आक्रमण की कठिनाइयों का सामना आर्य समाज ने किया और हिन्दू धर्म को जगाया, उसे प्रगतिशील बनाया। आर्यसमाज ने शुद्धि और संगठन का जितना महत्वपूर्ण कार्य किया उतना और किसी संस्था ने नहीं किया। हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान का श्रेय आर्य समाज को ही है।

सन् १९२१ ई० में मोपला (मालावार) में मुसलमानों का भयानक विद्रोह हुआ। इस क्रम में उन्होंने आस-पास के हिन्दुओं को बल पूर्वक इस्लाम में दीक्षित कर लिया। आर्य समाज ने ढाई हजार भ्रष्ट हिन्दुओं की शुद्धि कर उन्हें पुनः हिन्दू बनाया। इसके उपरान्त राजस्थान के मलकाना राजपूतों की शुद्धि उसने की। मुसलमान इससे बौखला उठे और राष्ट्रीय एकता को इससे गहरी चोट लगी। जो हो, किन्तु, आर्य समाज हिन्दुत्व की खड्गधर बांह साबित हुआ।

आर्य समाज ने हिन्दू धर्म की रूढ़ियों और जड़ परम्पराओं पर भी कठोर आघात किया। बहुत से लोगों की मूर्ति पूजा, ईश्वर तथा अन्य जड़ मान्यताओं पर से आस्था खत्म हो गई। तर्क एवं बौद्धिकता की इस वेगवती धारा में हिन्दू समाज की कुरीतियाँ मिटने लगी और नये मूल्यों की अवतारणा होने लगी।

महात्मा गांधी ने उपनिषद्, बौद्ध एवं जैन धर्म की अहिंसा को अपनाया और व्यष्टि नहीं, समष्टि के धरातल पर उसका प्रयोग किया। इस तरह उन्होंने भारतीय संस्कृति को एक नयी चेतना प्रदान की। उन्होंने परम्परागत मूल्यों पर भी कुठराघात किया। वे धर्म को कंठी, माला, चंदन, होम, मंदिर तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे, वरन् उन्होंने सम्पूर्ण जीवन को अपनी नई धार्मिक मान्यताओं से जगमगा दिया। उन्होंने धर्म के सम्बन्ध में कहा, 'नैतिकता के मूल सिद्धान्त और सुनियोजित बुद्धि के जो विरुद्ध है, उसे नहीं मानना ही धर्म है, चाहे वह कितना भी प्राचीन क्यों न हो।' सांस्कृतिक नवोत्थान के साथ भारत

में बुद्धिवाद की जो चेतना आयी, उसे गांधी जी ने सर्वतोभावेन ग्रहण किया। उन्होंने कर्म का संदेश दिया और इसके द्वारा अकर्मण्य भारतीय जीवन को एक नयी दिशा प्रदान की।

हिन्दू महासभा ने भी हिन्दू धर्म को अपने ढंग से ले चलने की कोशिश की। यह मुस्लिम लीग की विरोधी संस्था कही जा सकती है। इसने लीग की पाकिस्तान की मांग का जोरदार विरोध किया और भारत की अखण्डता तथा एकता का समर्थन किया और यह व्यक्त किया कि हिन्दू भारत का विभाजन कभी बर्दाश्त नहीं कर सकेंगे। उन्होंने आर्यावर्त आर्यों के लिए बताया। हिन्दू महासभा के नेता वी० डी० सावरकर ने मुसलमानों को अलग राष्ट्र मानते हुए भी उनके अलग राष्ट्र के सिद्धान्त का जोरदार विरोध किया। हिन्दू महासभा हिन्दू राज की स्थापना के पक्ष में थी।

हिन्दू पुनरुत्थान के लिए जो आन्दोलन चला रहे थे उनके साथ ही मुसलमान भी अपने को अधिक संगठित करते गये। प्रथम विश्व युद्ध के बाद तुर्की की स्थिति को लेकर हिन्दुस्तान के मुसलमान सरकार के विरोध में आ खड़े हुए। १९२० ई० में स्वराज्य और खिलाफत को लेकर हिन्दू-मुसलमान का संगठन हुआ और वे कंधे से कंधा मिलाकर राष्ट्रीय आन्दोलन में आगे बढ़े, किन्तु असहयोग और खिलाफत आन्दोलन चौरी-चौरा आदि की हिंसात्मक घटनाओं के कारण आगे नहीं बढ़ सका। इससे नौकरशाही ने प्रचार किया कि हिन्दू मुसलमानों के हित के लिए कभी नहीं लड़ेंगे। इसका असर मुस्लिम कौम पर बहुत अधिक पड़ा, क्योंकि उसके बाद ही साम्प्रदायिक दंगों की बाढ़ देश में आई, जिससे राष्ट्रीयता छिन्नमूल शाखा की तरह बहने लगी।

१९२४ में मोपला-विद्रोह हुआ। हिन्दुओं पर जो अत्याचार वहाँ हुआ, उससे देश भर कांप उठा और हिन्दू-मुस्लिम तनाव बढ़ गया। जो लोग खिलाफत एवं असहयोग के पक्ष में थे, उन्होंने भी अपना दामन झाड़कर कांग्रेस से किनारा कशी कर ली। १९२५ ई० में मुस्लिम लीग के अधिवेशन में खिलाफत के वीर सेनानी मुहम्मद अली ने कहा कि उनका गांधी जी से सम्बन्ध विच्छेद हो गया है। जिन्ना आदि भी कांग्रेस से दूर हो गये। दंगों की होली मे देश जलने लगा और एकता के अभाव में देश की राष्ट्रीयता खटाई में पड़ गई। कांग्रेस ने बहुत प्रयत्न किया कि देश की एकता भंग न हो, लेकिन उसका प्रभाव कुछ नहीं हुआ।

सरकार ने राष्ट्रीय चेतना के ह्रास के लिए धार्मिक विद्वेष की नीति अपनाई और साइमन कमीशन की रिपोर्ट में साम्प्रदायिक आधार पर पृथक

निर्वाचन की प्रणाली अपनाने की सिफारिश की। राष्ट्रीयता के समर्थकों ने एकता के लिये चेष्टा ँ प्रारम्भ की और १९२८ ई० में सर्वदल सम्मेलन लखनऊ में हुआ, लेकिन लीग ने कांग्रेस के सुझावों को स्वीकार नहीं किया।

१९३० ई० के आन्दोलन में साम्प्रदायिकता बहुत कमजोर पड़ गई, लेकिन सरकार उसे मन्द होने देना नहीं चाहती थी और उसने गोलमेज परिषद् का आवाहन किया, जिसमें साम्प्रदायिक आधार पर पृथक् निर्वाचन के सिद्धान्त पर विचार हुआ। इस परिषद् में प्रतिक्रियावादी मुसलमानों को ही सम्मिलित किया गया था। राष्ट्रीय मुसलमान प्रमुख एवं प्रभावशाली होते हुए भी नहीं बुलाये गये। इससे सरकारी नीति स्पष्ट ही प्रकट हो जाती है। दूसरी गोलमेज परिषद् में भी उसे ही दुहराया गया। गांधी जी के अनेक प्रयत्नों के बावजूद साम्प्रदायिक एकता स्थापित नहीं हो सकी। वे निराश होकर ही भारत लौटे थे।

लेकिन खिलाफत आन्दोलन की तरह ही १९३० ई० के सविनय आवज्ञा आन्दोलन में मुसलमानों ने पूरे उत्साह के साथ हिन्दुओं का साथ दिया। साम्प्रदायिक कटुता मिट गई। इस आन्दोलन की एकता से सरकार और उसके राजभक्त मुसलमानों को बड़ी चोट लगी।

इस काल में साम्प्रदायिक कटुता उस समय अधिक बढ़ी, जब आन्दोलनों के समय साम्प्रदायिकता की आग शान्त ही रही, लेकिन जितने दंगे इस काल में हुए, उतने इसके पूर्व नहीं हुए थे। राष्ट्रीय मुसलमान भारत की स्वतन्त्रता के लिए लड़ते रहे, लेकिन प्रतिक्रियावादियों के प्रयत्नों से दोनों जातियों के बीच कटुता का भाव बढ़ता गया।

शिक्षा-विषयक—भारत में शिक्षा में क्रान्ति अंगरेजों के आने के बाद शुरू हुई थी और इसके फलस्वरूप अनेक भारतीय शिक्षित हुये थे। अंगरेज भारत को शिक्षित बनाने के लिए नहीं आये थे, उनका ज्ञान बढ़ाने नहीं आये थे और नहीं उनकी शिक्षा पद्धति का यह उद्देश्य था। 'अंगरेजी की शिक्षा भारत में इस उद्देश्य से चलाई गई थी कि यहाँ के अंगरेजी पढ़े लिखे लोग तन से भारतीय, किन्तु, मन से अंगरेज हो जायँ, जिससे अंगरेजों का विरोध करने की उनकी इच्छा ही न हो।' किन्तु इसका फल उलटा ही हुआ और अंगरेजी पढ़े भारतीय अपने अधिकारों की मांगे करने लगे, राष्ट्रीय आन्दोलन करने लगे। वास्तव में भारत का राष्ट्रीयता आन्दोलन पढ़े-लिखे लोगों से ही शुरू हुआ था।

आलोच्यकाल में अधिकाधिक भारतीय आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने लगे,

किन्तु १६२० के बाद विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में निर्धारित पाठ्य ग्रन्थों में बेन्थम, कारलाइल और मिल जैसे विचारकों के स्वतन्त्रता को उत्तेजित करने वाले लेखों के साथ शैली-सौंदर्य-विषयक लेख भी रखे जाने लगे। अंगरेजी भाषा के अध्ययन से अधिकाधिक लोग इस काल में प्रबुद्ध हुए। नारी जगत में भी शिक्षा का व्यापक प्रचार एवं प्रसार हुआ।

इस काल में शिक्षण संस्थाओं की बहुत अधिक वृद्धि हुई। १६२१-२२ ई० में ऐसी कुल संस्थाओं की संख्या १,८२,४५२ थी। १६३६-३७ ई० में यह संख्या २,७७,६५५ हो गई। १६२१-२२ ई० में पढ़ने वालों की संख्या ७८,१८,७२५ थी, किन्तु यह संख्या १६३६-३७ ई० में १,३३,८६,५७४ हो गई। इस काल में विश्वभारती, कर्वे द्वारा एस० एन० डी० टी० महिला विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ, जामिया मिलिया, गुजरात विद्यापीठ तथा तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ जैसी संस्थाओं की स्थापना हुई। गैर सरकारी संस्थाओं में राष्ट्रीय महाविद्यालयों की स्थापना मुख्य रूप से असहयोग में स्कूल-कालेज का बहिष्कार करने वाले छात्रों के अध्ययन के लिए हुई थी।

इस काल में शिक्षा की दिशा में हुई अभूतपूर्व वृद्धि से राष्ट्रीय आन्दोलन में बहुत जान आ गई थी। बहुत से विद्यार्थियों ने आई० सी० एस० की परीक्षाओं में भाग लिया तथा वे ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित हुए।

बहिष्कार की भावना ने कुछ लोगों का ध्यान अंगरेजी शिक्षा की ओर से से विमुख किया और वे अंगरेजी का विरोध करने लगे। हिन्दी एवं संस्कृत को पूरी महत्ता देने का आन्दोलन भी शुरू हुआ और इस दिशा में कई महत्वपूर्ण कदम उठाये गये। छायावाद के प्रमुख कवि (पंत, प्रसाद, निराला) भी उच्च अंगरेजी शिक्षा नहीं ग्रहण कर सके। संभव है, बहिष्कार के फलस्वरूप ही उन्होंने उच्च शिक्षा न ग्रहण की हो। इन सबके बावजूद अंगरेजी शिक्षा का प्रसार एवं प्रचार बढ़ता ही गया।

अन्यान्य—इनके अतिरिक्त प्रेस की गतिविधि में भी काफी परिवर्तन इस काल में हुआ। अनेक पत्र राष्ट्रीय भावना के प्रचारक बने; किन्तु सरकार की कोप दृष्टि का भाजन भी उन्हें बनना पड़ा। इसके बावजूद इस दिशा में काफी काम हुआ।

(ख) निष्कर्ष : उपर्युक्त परिस्थितियों का राष्ट्रीय चेतना पर समवेत प्रभाव

आलोच्यकाल की राष्ट्रीय चेतना मूलरूप से गांधीवादी विचारधारा से निर्देशित हुई। १६२० ई० में ही देश को सत्य-अहिंसा के द्वारा कर्म की नयी

चेतना जगानेवाले कर्मठ नेता का सहयोग प्राप्त हुआ। इसलिए इस युग की राष्ट्रीय चेतना में कर्म का संयोग है, सक्रियता है।

भारत की राष्ट्रीयता को इस काल में तोप और मशीनगनों का सामना करने के लिए गांधी जी ने अहिंसा का अस्त्र दिया। उन्होंने उसे पशुबल के स्थान पर आत्मबल दिया, जिससे उसकी शक्ति बढ़ती गई। उन्होंने अहिंसा का सहारा इसलिए लिया कि हिंसा के द्वारा देश को स्वतन्त्र करने का अवसर नहीं था। तोपों के अभाव में सत्याग्रह का तप अपनाया गया। इसमें पशुबल नही, आत्मबल था। मगर गांधी जी के लिए अहिंसा असहाय का साधन नही थी। 'अहिंसा को गंवाकर वे भारत को स्वाधीन करने के पक्षपाती नहीं थे।' अपनी अहिंसा के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था, 'मेरी अहिंसा अत्यन्त क्रियाशील शक्ति है। उसमें कायरता तो क्या, दुर्बलता के लिए भी स्थान नहीं है।' इसलिए उनकी अहिंसा अस्त्रहीनों का आत्मबल है, जिसमें पशु-बल से अधिक शक्ति है। उन्होंने अहिंसा एवं सत्य के इसी ओज से राष्ट्रीयता को पवित्रता, त्याग एवं शक्ति दी। वह राष्ट्रीयता द्विवेदी-युग से अधिक सक्रिय अधिक सतेज, अधिक सबल और अधिक मुखर थी। गांधी इस युग की राष्ट्रीय चेतना के सफल सूत्रधार रहे।

छायावाद युग की राष्ट्रीय चेतना सामान्य जनता का विदेशी शासनसत्ता के प्रति विद्रोह था। गांधी जी को देश के प्रत्येक वर्ग से सहयोग मिला। तिलक और गोखले को (द्विवेदी-युग में) ऐसा सामूहिक सहयोग नहीं प्राप्त हो सका था और न उस युग में इतनी अधिक जन-चेतना जागरूक ही हो सकी थी। देश के प्रत्येक वर्ग के उद्धारक के रूप में गांधी जी आये और इसलिए उन्हें सब का समर्थन एवं सहयोग प्राप्त हो सका। पूंजीपति वर्ग, नौकरी करनेवाला मध्यवर्ग, किसान, मजदूर सभी वर्गों को भयमुक्त होकर अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ने का संदेश उन्होंने दिया। पूंजोपति वर्ग भी उनके साथ था। इसलिए राजनीतिक तथा अन्य परिस्थितियों के प्रभाव के कारण देश में व्याप्त राष्ट्रीयता इस युग में बहुमुखी हो उठी। उसे जनबल की शक्ति भी आत्मबल के साथ ही प्राप्त हुई।

भारत की राष्ट्रीयता प्रारम्भ से ही आर्थिक पहलू पर जोर देती रही है। आर्थिक स्थिति की विषमता के कारण ही राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ ही आर्थिक विकास की ओर भी उसका ध्यान था। भारत जैसे अनेक धर्म एवं संस्कृतियों के संगम वाले देश में आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता के उद्देश्य के सिवा और कोई लक्ष्य संभव नहीं था, जहाँ सब एक हों और सम्मिलित रूप से

देश की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील हों। इसलिए प्रारम्भ से ही उसका रूप आर्थिक भी रहा। दूसरी ओर प्रारम्भ से ही भारतीय राष्ट्रीय चेतना का सूत्र-संचालन मध्यवर्ग ने किया। मध्यवर्ग में बनिया और व्यापारी ज्यादा थे। इसलिए उनका ध्यान आर्थिक पहलू की ओर भी गया और अन्त तक उसे निभाया गया। स्वदेशी आन्दोलन राष्ट्रीयता का मात्र आर्थिक पक्ष ही था। इस पहलू के कारण ही गांधी जी को पूँजीपतियों तथा व्यापारियों का सहयोग प्राप्त हो सका था।

पूँजीपति वर्ग सरकार की नीति के कारण असंतुष्ट था। इसलिए राष्ट्रीय आन्दोलनों में उसने देश का साथ दिया। वह अपने विकास के लिए ही कांग्रेस के साथ रहा। यदि पूँजीवाद का भारत में प्रसार हो गया होता तो इस वर्ग का सहयोग हमें नहीं मिल पाता और तब राष्ट्रीयता का इतिहास कुछ दूसरा होता। १९२० से १९२८ ई० तक पूँजीपतियों ने राष्ट्रीय आन्दोलनों का खूब समर्थन किया, किन्तु इसके बाद समाजवादी तत्वों के जन्म एवं विकास के कारण वे संशकित हो उठे और उनका अधिक सहयोग नहीं मिल सका। इसके उपरान्त पूँजीपति वर्ग एक ओर सरकार को प्रसन्न करने के फेर में था तो दूसरी ओर राष्ट्रीय आन्दोलन की सद्भावना खोना नहीं चाहता था। दो नावों पर सवार होकर यह वर्ग इस युग के उत्तरार्ध मे अपने स्वार्थ की मछली का शिकार करने लगा। इस प्रकार अन्य युगों की तरह इस काल में भी राष्ट्रीय चेतना में औद्योगिक चेतना प्रबल रही। स्वदेशी आन्दोलन इस कथन का उदाहरण प्रस्तुत करता है, किन्तु यह कहना उचित नहीं ज्ञात होता कि 'भारत का राष्ट्रीय जागरण भारतीय पूँजीवाद के विकास की राजनीतिक अभिव्यक्ति है।'

इसके लिए हमें राष्ट्रीय जागरण के इतिहास की ओर दृष्टिपात करना होगा। भारतेन्दु तथा द्विवेदी-युग में पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के विकास का कोई अभियान हमारे सामने नहीं आता। भारतेन्दु-युग में सामन्ती अर्थ-व्यवस्था का जर्जर रूप वर्तमान था। १८५७ ई० की स्वतन्त्रता की लड़ाई में सामन्ती व्यवस्था पूँजीवादी व्यवस्था से हार गई और टूक-टूक होकर देश भर में बिखर गई। पूँजीवाद शासक के रूप में वर्तमान था। भारतीय भूमि में उसकी कलम नहीं लगी थी। भारतेन्दु-युग में सामन्ती अर्थ-व्यवस्था का अवशेष था। द्विवेदी युग में पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का जन्म हुआ और अंगरेजों ने भी इसके उत्तरार्ध में उसे प्रश्रय दिया, लेकिन उन्होंने भारतीय पूँजी को कभी बढ़ने नहीं दिया। देश का औद्योगिक विकास उन्हें इष्ट नहीं था। इसलिए भारत के पूँजीपति बढ़ नहीं सके, उनका कोई सम्मिलित प्रयास इस युग में

नहीं हो सका। छायावाद के विकास की प्रक्रिया ऐसी नहीं होती। पूंजीवाद औद्योगीकरण से बढ़ता है। भारत का औद्योगीकरण छायावाद युग तक उस सीमा तक नहीं हो सका था कि हम इसे पूंजीवाद के विकास का राजनीतिक अभियान कह सकें।

पूंजीवाद औद्योगीकरण के बाद की ऐसी अर्थ-व्यवस्था थी जिसका प्रचार एवं प्रसार सर्वत्र हुआ और भारत में भी सामन्तवादी व्यवस्था के बाद यह फैलने लगी। द्विवेदी-युग में ही वह जन्मी तथा छायावाद-युग में विकसित होने लगी। इसलिए राष्ट्रीय जागरण की कथा, जो भारतेन्दु युग से शुरू होती है वह इस युग में नहीं है। भले ही उसके छींटे इसमें आ गये हों।

राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ आर्थिक विकास भी देश के उद्धार एवं बल के लिए जरूरी है। इसलिए औद्योगीकरण की मांग के कारण भारतीय राष्ट्रीयता का पूंजीवाद के साथ गठबन्धन नहीं किया जा सकता।

भारतीय पूंजी को औद्योगिक विकास के लिए अंगरेजी प्रभुत्व से मुक्त करना था। स्वदेशी आन्दोलन के आचार के द्वारा प्रकारान्तर से उसे मुक्त कराने की चेष्टा की गई, लेकिन वह पूंजीवाद के विकास का प्रयत्न नहीं है। इसलिए यह कहा जा सकता कि भारतीय राष्ट्रीय जागरण की कहानी पूंजीवाद के विकास की राजनीतिक कहानी है।

भारत की राष्ट्रीयता संस्कृति से उत्पन्न हुई है। उसका रूप सांस्कृतिक भी रहा है, जिसमें अतीत की ओर मुड़ने की पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति दीख पड़ती है। इस काल की राष्ट्रीयता में पुनरुत्थानवादी स्वर कुछ मन्द पड़ गया और विद्रोह की भावना अधिक तीव्र हो उठी। सुधार से भारतीय राष्ट्रीयता स्वराज्य की ओर अग्रसर हुई, जिसमें क्रान्तिकारी भाव अधिक है, समझौते की, शान्ति की कम। लेकिन अहिंसा के कारण वह उतनी तीव्र नहीं हो पाई। साम्प्रदायिकता के निवारण के लिए भी सांस्कृतिक पक्ष की ओर ध्यान कम गया।

इसके साथ कुछ अवरोधक शक्तियाँ भी आईं। स्वतन्त्रता आन्दोलन की गति को साम्प्रदायिक भावना ने कुछ मन्द किया। अंग्रेजों ने इस आन्दोलन को पचास वर्ष पीछे ला खड़ा किया। देश की अखण्डता पर प्रश्नचिन्ह लगा। अछूतों ने भी हिन्दू समाज को खण्डित करना चाहा, लेकिन गांधीजी के प्रयत्नों से अछूत हिन्दू समाज से अलग नहीं हो सके और भारतीय राष्ट्रीयता की एकता का बल कम नहीं हो सका।

कई कारणों से भारतीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन इस काल में कई बार असफल हुआ। इस असफलता के कारण लोगों में निराशा आई, लेकिन वह निराशा स्थायी नहीं थी। शासकों की ओर से ऐसा काम होता रहा जिससे राष्ट्रीयता के रक्षक एक होकर उत्साहित एवं शक्ति सम्पन्न होते रहे। दमन के चक्र ने इस उत्साह को कम नही होने दिया; बल्कि उससे उसमें और तीव्रता आती गई।

इस काल के उत्तरार्ध में राष्ट्रीय चेतना मे समाजवादी तत्वों का समावेश हुआ। उसने व्यक्ति की राजनीतिक समानता के साथ आर्थिक समानता को भी ग्रहण किया। उस समय तक देश में विदेशी पूँजी ही ज्यादा थी। इसलिए पूँजीवाद का विरोध विदेशी सत्ता का विरोध था। लेकिन इस चेतना ने पूँजीवाद का विरोध किया, चाहे वह देशी हो या विदेशी। इसलिए पूँजीपति वर्ग समाजवाद के जन्म एवं विकास के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन में उतनी अधिक दिलचस्पी नही ले सका।

शिक्षा एवं प्रेस के विकास से राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत बल मिला। देश का कोना-कोना शिक्षा की ज्योति से आलोकित हो उठा। फलस्वरूप राष्ट्रीय भावना बलवती होती गई। प्रेसों ने इस भावना को और भी अधिक प्रचारित तथा प्रसारित किया।

समग्रतः इस युग की राष्ट्रीय चेतना मध्यवर्ग की राष्ट्रीय चेतना थी। आर्थिक एवं सांस्कृतिक पक्ष से समन्वित राजनीतिक राष्ट्रीयता का विशाल रूप इस युग में दिखाई पड़ता है। अहिंसा ने उसे आत्मिक बल दिया। समाजवादी तत्व ने उसे यथार्थ जीवन की स्थूलता दी, किन्तु साम्प्रदायिक भावना ने उसकी शक्ति एवं ज्योति अवरुद्ध की। इस काल की राष्ट्रीय चेतना के विराट् रूप ने नौकरशाही को चिंतित कर दिया। वह समझौते की दिशा में गतिशील होती रही और देश स्वतन्त्रता की मंजिल की ओर गतिशील होता रहा।

(ग) अभिव्यक्ति (अ) काव्य विषय

मध्यम वर्गीय चेतना की आत्माभिव्यंजना छायावाद की प्रबल आकांक्षा रही है। इस आत्माभिव्यंजना के लिए घर की सीमित चहारदीवारी को लांघकर आत्मप्रसार की अपेक्षा की। फलतः मध्यवर्गीय चेतना ने गतानुगतिकता के प्रति विद्रोह किया और वही विद्रोह छायावादी काव्य का उपजीव्य है। पूँजीवाद का विकास, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, महात्मा गांधी के आन्दोलन, सामाजिक स्वतन्त्रता की उत्कट भावना, कवीन्द्र रवीन्द्र के विश्वबन्धुत्व, अंगरेजी रोमांटिक

साहित्य के प्रभाव से छायावदी काव्य में नवीन विषय आये, जो या तो द्विवेदी युग में नहीं थे या उनकी अभिव्यक्ति उस समय अल्प ही हो पाई थी। इसलिए विविध परिस्थितियों की प्रेरणा से आलोच्यकाल की कविता के विषय में अनेकता आई और उससे छायावाद को स्वर-वैविध्य प्राप्त हुआ। काव्य के अनेक क्षेत्रों में नवीन मान्यताएँ स्थापित हुईं और उन्हे नये रूप एवं दृष्टि से ग्रहण किया जाने लगा। वस्तु की यह विविधता राष्ट्रीय कविता में भी प्रकट हुई जिसका सम्यक् विश्लेषण हम यहाँ प्रस्तुत करेंगे।

(१) **राजभक्ति**—भारतेन्दु-युग में राष्ट्रीय चेतना के साथ ही राजभक्ति की चेतना भी वर्तमान थी। इसका कारण यह था कि स्वदेश प्रेम व्यंजित करने वाला वह स्वर अवसाद और खिन्नता का स्वर था, आवेश और उत्साह का नहीं। इसलिए सरकार के प्रति अपने रोष एवं असंतोष का भाव वे नहीं व्यक्त कर सके। वे देश की हीन दशा के लिए देशवासियों की भर्त्सना करते रहे और ईश्वर तथा ईश्वर के लौकिक रूप सम्राट से अपनी दीन-हीन दशा दूर करने की प्रार्थना करते रहे। इस प्रार्थना के क्रम में उन्होंने सम्राट के प्रति अपनी अटल भक्ति एवं कृतज्ञता भी प्रकट की। द्विवेदी युग में शासन के प्रति असंतोष का भाव तो प्रकट हुआ, लेकिन राष्ट्रीय चेतना में क्रियात्मक शक्ति नहीं आ पाई थी। दूसरे जनता को अंगरेजी सरकार से आशाएँ थीं। इसलिए इस काल में भी राजभक्ति का स्वर सुनाई पड़ता है, लेकिन वह स्वर अत्यन्त क्षीण है। कांग्रेस नरमदल के हाथों में होने के कारण भी उस समय देश में विरोध का स्वर तीव्र नहीं हो सका। सुधार एवं समझौता की नीति राजभक्ति में प्रकट होती रही। राजनीतिक घटनाओं की प्रतिक्रिया का भाव न जगने के कारण राजभक्ति के रूप मे प्रकट राष्ट्रीयता में आशावाद स्पष्ट दीख पड़ती है।

छायावाद-युग में राजभक्ति का स्वर समाप्त हो गया और राष्ट्रीय चेतना शुद्ध रूप से विदेशी सत्ता के प्रति विद्रोह का काव्य बनकर फूट पड़ी। अनेक परिस्थितियों के सामंजस्य से ही राजभक्ति का स्वर हिन्दी राष्ट्रीय काव्य से समाप्त हो सका। प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त देश की निराशा, शासन की दिशा में अपर्याप्त सुधार, दमन की लोमहर्षक घटनाएँ आदि में सम्राट् के प्रति भारतीय जीवन में प्रतिष्ठित आस्था को गहरी ठेस लगी। अफ्रीका तथा भारत में गांधी जी के सत्याग्रह आन्दोलनों की सक्रियता तथा विजय ने भारतीय जीवन को निर्भयता तथा उत्साह प्रदान किया, जिससे द्विवेदी युग के अंतिम

वर्षों में ही राजभक्ति की भावना हिन्दी काव्य से समाप्तप्राय हो गई थी। आत्मत्याग के जोश ने राष्ट्रीय चेतना को ओज प्रदान किया, जिसमें राजभक्ति का कहीं संकेत भी नहीं था।

इस प्रकार छायावाद-युग में राजभक्ति की भावना हिन्दी काव्य से पूर्णतः समाप्त हो गई। राष्ट्रीय चेतना की तीव्रता, असंतोष से उत्कट संघर्ष से राजभक्ति समाप्त हो गई और उसके उपरान्त हिन्दी काव्य में उसका कहीं चिन्ह भी शेष न रहा।

(२) **देशभक्ति**—देशभक्ति की भावना राष्ट्रीय कविता का अनिवार्य तत्व है। इसलिए राष्ट्रीयता का पूरा प्रस्फुटन देशभक्ति की कविता में होता आया है। आरंभ काल से ही देश के प्रति प्रेम-भावना की व्यंजना कई रूपों में होती है, जिनका विश्लेषण अन्य अध्यायों में हुआ है। उसी आधार पर हम इस काल की देश-भक्ति का भी मूल्यांकन करेगे।

अतीत-वर्णन—साधारणतः यह समझा जाता है कि अतीत-वर्णन वर्तमान संघर्ष से पलायन है। छायावादी कवियों के अतीत प्रेम का विश्लेषण करते हुए शंभूनाथ सिंह लिखते हैं कि 'वर्तमान जीवन के विकट संघर्षों से ऊब जाने पर इन्होंने अतीत की शीतल छाया में भी विश्राम किया, क्योंकि प्रकृति और अध्यात्म के क्षेत्रों की तरह अतीत का क्षेत्र भी रहस्य-भावना और कल्पना के प्रचार के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता है'। यह मत सर्वथा भ्रामक है। अतीत-दर्शन पुनरुत्थानवाद का अंग है, जिसके माध्यम से विजित जाति में राष्ट्रीय चेतना का उद्‌भव एवं विकास होता है। वर्तमान जीवन से ह्रास और हीन भावना के तिरोभाव के लिए अतीत का ग्रहण होता है। इसके द्वारा देश को नयी चेतना, नया उत्साह प्रदान किया जाता है।

हिन्दी काव्य में अतीत-प्रेम का यही रूप प्रकट हुआ है। इस माध्यम से अतीत की परम्परा एवं ऐतिहासिक अभ्युत्थान के प्रति श्रद्धा-भाव व्यक्त किया गया और 'इस तरह अतीत के पुनरुत्थान ने संपूर्ण देश में एक जातीय अथवा राष्ट्रीय भावना का सूत्र पात किया।' इस तरह हिन्दी काव्य के अतीत वर्णन ने पराजित एवं हीन भावना से ग्रस्त जाति में आत्मगौरव की प्रतिष्ठा की और राष्ट्रीय चेतना का विकास किया। तब इसे वर्तमान से पलायन कहना किसी तरह उचित ज्ञात नहीं होता।

अतीत-वर्णन के द्वारा पुनरुत्थान का दिशा संकेत भारतेन्दु-युग में प्रारंभ हुआ था। इसे पुनरुत्थान का आरंभ काल कहा गया है। द्विवेदी-युग मे अतीत

दर्शन का विकास खूब हुआ। वर्तमान से भी अधिक बल इस युग में अतीत को दिया गया है। इसे पुनरुत्थान का विकास कहा जाता है। छायावाद-युग को उसका उत्कर्ष काल माना गया है।

अतीत-दर्शन को सांस्कृतिक राष्ट्रीय-चेतना का एक रूप कहना अधिक उचित जान पड़ा है। सांस्कृतिक राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति अतीत-वर्णन के माध्यम से छायावाद-युग में भी हुई है। जयशंकर प्रसाद, निराला, रामचरित उपाध्याय, सोहनलाल द्विवेदी, दिनकर, गोपाल शरण सिंह, श्री. सुरेन्द्र, हरिकृष्ण प्रेमी आदि कवियों ने अतीत की सुन्दरता को वर्तमान अधोगति की पृष्ठभूमि पर जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया और राष्ट्रीय भावना को बहुत बल दिया।

प्रसाद जी में पुनरुत्थान परक जातीय भावना सबसे अधिक रही है। उन्होंने इसके लिए ऐतिहासिक नाटकों तथा कामायनी महाकाव्य की रचना की, और जातीय उत्कर्ष की भावना का उद्रेक किया। उन्होंने अंधकार में पड़े हमारे उज्जवल अतीत को प्रकाश दिया, राष्ट्रीय भावना की उद्दाम लहरों से देश को जगाया। उन्होंने 'पेशोला की प्रतिध्वनि', 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण', 'अरी वरुणा की शांत कछार' आदि कविताओं के साथ नाटकों के गीतों के माध्यम से जातीय उत्कर्ष का भव्य रूप हमारे सामने प्रस्तुत किया। स्कन्द गुप्त के एक गीत के द्वारा उन्होंने हिमालय के आंगन में बसे भारत-देश को 'प्रथम किरणों' का गौरव प्रदान किया है। विश्व को भारत ने अनेक उपहार दिया है। भारत को ही सबसे पहले विश्व में जागरण का गौरव मिला और उसे ही संपूर्ण विश्व को जगाने का श्रेय भी है—

जो हम लगे जगाने विश्व, विश्व में फैला फिर आलोक।
व्योम तम पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संस्कृति हो उठी अशोक।

इतना ही नहीं, प्रलय काल को कठिनाइयों को झेलकर सृष्टि के बीज की रक्षा का गौरव भी भारत को ही प्राप्त है। भारत अपनी अरुण पताका लेकर वरुण-पथ में भी निर्भय होकर बढ़ा है। शांति का भी संदेश विश्व को भारत के माध्यम से ही प्राप्त है। उन्होंने आत्मगौरव का उद्बोध करते हुए कहा—

वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है वैसा ज्ञान।
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य संतान।

'पेशोला की प्रतिध्वनि' में कवि ने स्वतन्त्रता के लिए लड़नेवाले महाराणा प्रताप की जीवन-संध्या के ऊर्जस्वित त्याग का प्रतिबिम्ब रूपायित किया है।

इस माध्यम से प्रताप की ही स्मृति नहीं जागती, वरन् सम्पूर्ण अतीत की गरिमा जाग उठती है। पैशाचिक साधना को उस युग में प्रताप ने अपने 'दृप्त फूत्कार' से चूर-चूर कर दिया था। आज भी उस ओर संकेत करते हुए कवि कहता है :—

साधना पिशाचों की बिखर चूर-चूर होके
धूलि सी उड़ेगी किस दृप्त फूत्कार से ?

शेरसिंह ने अंगरेजों की अधीनता स्वीकार न कर अपनी स्वतन्त्रता का झंडा फहराया था, लेकिन अस्तमित भारत सूर्य की यह किरण अंधकार न मिटा सकी और उसे शस्त्र समर्पण करना पड़ा था। भारत में इसके बाद भी विरोध एवं विद्रोह हुआ। विविध माध्यमों से उसे दबा दिया गया, लेकिन शेर सिंह की अथवा बाद के विद्रोहियों की पराजय को कवि पराजय नहीं मानता। शेर-सिंह के माध्यम से अनेक हृदयों की यह भावना कवि व्यक्त करता है:—

विजयी हो तुम
और हैं पराजित हम
तुम तो कहोगे, इतिहास भी कहेगा यही,
किन्तु यह विजय प्रशंसा भरी मन की-
एक छलना है।

'वरुण की शांत कछार' में भी कवि ने भारत गौरव का गीत गाया है और इतिहास के आदर्शों की सजीवता से वर्तमान को अनुप्राणित किया है।

निराला भी भारत के अतीत सौन्दर्य के प्रबल गायक रहे हैं। अपनी भव्य परम्परा के गौरव गान के द्वारा उन्होंने जातीय जीवन का उद्बोधन प्रदान किया है। 'जागो फिर एक बार' शीर्षक कविता (१६२१ ई०) में उन्होंने सिखों की अप्रतिम वीरता को पुनः एक बार जागरण का संदेश दिया। शेरों (भारतीयों) की मांद में स्यारों (विदेशियों) के आने का क्षोभ उनमें जाग पड़ा और अतीत को स्मरण कर उन्होंने वीरता उद्बुद्ध की। स्यारों को मार भगाने की प्रेरणा सिंहों को दी। उन्होंने गीता की वाणी को माध्यम बनाकर आत्मा के समान भारतीयों को महान् तथा मुक्त बताया और देह की तरह दीनभाव को नश्वर कह कर मुक्ति की अमर कामना को बल दिया—

मुक्त हो सदा ही तुम
बाधा-विहीन-बन्ध छन्द ज्यों।

तुम हो महान्,
तुम सदा हो महान्,
है नश्वर यह दीन भाव ।

१६२२ ई० में उन्होंने 'छत्रपति शिवाजी का पत्र' शीर्षक कविता लिखी और शिवाजी में उद्दीप्त जातीय भावना के निष्कर्ष को भारतीय मानस में भी प्रतिष्ठित किया–

व्यक्ति का खिचाव यदि जातिगत हो जाय,
देखो परिणाम फिर,
स्थिर न रहेंगे पैर,
पस्त हौसला होगा,
ध्वस्त होगा साम्राज्य ।

'दिल्ली' में कवि भीमार्जुन आदि की कीर्ति, भीष्म के ब्रह्मचर्य और श्रीकृष्ण के कर्म योग का स्मरण करता है, लेकिन ऐसे देश की अधोगति देखकर वह प्रश्न पूछता है कि क्या यह वही गौरव संयुक्त देश है ? सती संयुक्ता के अन्तिम आह्वान के द्वारा वह अवनत सिर भारत के भाल पर बलिदान की रक्त रोली भी मल देता हैं––

........उस सती संयुक्ता का
अंतिम आह्वान
ध्वस्त भारत के अविश्वस्त अवनत ललाट पर
आत्म बलिदान से
अपने ही रक्त का टीका लगाते हुए–

निराला के तुलसीदास में भी राष्ट्र का सांस्कृतिक गौरव व्यंजित हुआ है । 'तुलसीदास' के रूप में निराला ने आधुनिक कवि के स्वाधीनता सम्बन्धी भावों के उदय और विकास का चित्रण किया है ।

वर्तमान की समस्याओं को सुलझाने के लिए सुभद्रा कुमारी चौहान और दिनकर भी इतिहास की ओर मुड़े और उसके गौरव से वर्तमान को निर्भयता एवं शक्ति प्रदान की । सुभद्रा कुमारी चौहान की 'झांसी की रानी' शीर्षक कविता छायावादी युग में ही नहीं, उसके बाद भी स्वातंत्र्य के बलिदानियों का उद्बोधन गीत रही है । यही स्थिति दिनकर की हिमालय शीर्षक कविता की

भी है। झांसी की रानी लक्ष्मी बाई के शौर्य की आभा से कवयित्री ने नर-नारी दोनों में अप्रतिम तेज एवं उद्बोधन भर दिया--

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी फिर से आई नई जवानी थी,
गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी,

चमक उठी सन् सत्तावन में
वह तलवार पुरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मरदानी वह तो
झांसीवाली रानी थी।

१९३० के स्वतंत्रता संग्राम का यह राष्ट्रीय गीत कण्ठ-कण्ठ से उल्लास बनकर फूटा था। रानी लक्ष्मी बाई की स्वतंत्रता की लड़ाई ने भारतीय जनता को लड़ाई की अपूर्व प्रेरणा से भर दिया था। अंत में कवयित्री कह उठती है--

जाओ रानी, याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतंत्रता अविनासी।

इसी कार्य के लिए राष्ट्रीय कवियों का इतिहास-गौरव काव्य बनकर फूटा था और इस लक्ष्य की सिद्धि सांस्कृतिक पुनरुत्थान ने खूब किया।

रामधारी सिंह 'दिनकर' ने भारत के गौरव 'हिमालय' को याद किया और 'हिमालय के प्रति' कविता लिखकर देश के गौरव को विराटता तथा दिव्यता प्रदान की। हिमालय देश के गौरव का माध्यम है। कवि के शब्दों में विराट् गौरव, पौरुष की ज्वाला तथा जननी के हिमकिरीट कीं महिमा का गान सुनें—

युग-युग अजेय, निर्बन्ध, मुक्त
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान्,
निस्सीम व्योम में तान रहा
युग से किस महिमा का वितान।

यह स्वतंत्रता-गौरव हिमालय के साथ ही भारत देश का भी है, लेकिन आज इस पौरुष की ज्वाल मौन है, समाधि-लीन है। आज न जाने कितने

गौरव खण्ड-खण्ड हो रहे हैं, देश वीरान हो रहा है, किन्तु हिमालय मौन है। वह मौन त्यागे—

तू पूछ अवध से, राम कहाँ
बृन्दा ! बोलो, घनश्याम कहाँ
ओ मगध ! कहां मेरे अशोक
वह चन्द्र गुप्त बलधाम कहाँ।

संभवतः सांस्कृतिक पुनरुत्थान का गान करनेवाले, अतीत के गौरव की महिमा कहनेवाले कवियों में सुभद्रा कुमारी चौहान और दिनकर ही ऐसे हैं, जिन्होंने न केवल हिन्दू संस्कृति के गौरव स्तंभों को ही स्मरण किया है, बल्कि मुस्लिम संस्कृति के प्रकाश-पिण्डों को जगाया है। दिनकर 'हिमालय के प्रति' में ही कहते हैं—

भारत का अंतिम ज्योति-नयन
मेरा प्यारा 'सीराज' कहाँ ?

अपने वर्तमान पराभव को कवि अतीत की मोहकता में भूल जाना चाहता है। इसलिए वह अपनी शक्ति का इतिहास प्रस्तुत करता है और अंत में इस निष्कर्ष पर आता है कि —

जगती पर छाया करती थी
कभी हमारी भुजा विशाल
बार-बार झुकते थे पद पर
ग्रीक-यवन के उन्नत भाल।

किन्तु आज की परिस्थिति भिन्न है। आज चन्द्रगुप्त का गौरवशाली एवं शक्तिशाली मगध धूलि धूसरित है तो दूसरी ओर वीर लिच्छवियों की विधवा वैशाली आंसू बहा रही है—

दायें पार्श्व पड़ा सोता
मिट्टी में मगध शक्ति शाली
वीर लिच्छवी की विधवा
बायें रोती है वैशाली।

इसी प्रकार अनेक कविताओं में दिनकर ने अतीत के वीरों को स्मरण किया है और वर्तमान अधोगति से मुक्ति का संदेश दिया है।

हरिकृष्ण प्रेमी के 'रक्षा बन्धन' नाटक में भी मेवाड़ के गौरव का जीता-जागता इतिहास प्रस्तुत है। उसमें कई गीत ऐसे हैं जो मेवाड़ के पौरुष की महिमा व्यंजित करते और जागृति का संदेश देते हैं।

सोहनलाल द्विवेदी भी वीर शिरोमणि मेवाड़ देश को जगाते है। प्रताप, पद्मिनी, गोरा बादल आदि वीरों को जगाकर कवि वर्तमान स्वतंत्रता के रण मतवालों को भी चेतना देता है—

ऐ रण मतवाले जाग-जाग।
जौहर व्रतवाले जाग-जाग
हे स्वतंत्रता की आग जाग,
हे देश मुकुट मणि जाग-जाग।

गोपाल शरण सिंह 'पूर्व भारत' के स्वरूप का स्मरण कराते हैं और उसकी महिमा गाते हैं—

जिसने जग को था मुक्ति मार्ग दिखलाया,
जिसने उसको था कर्मयोग सिखलाया,
था जिसका दिब्यालोक लोक में छाया,
जिसका गुण सबने मुक्त कंठ से गाया,
था जिसका सारा विश्व पुजारी,
वह भारतभूमि क्या यही हमारी प्यारी।

कवि भारत की अतीत की तुलना में वर्तमान दयनीय दशा को देखकर ही भारत के रूप को पहचान नहीं पाता और पूछ बैठता है, क्या यही हमारी भारत भूमि है ? राम चरित उपाध्याय ने भी 'पूर्व रूप' (सरस्वती, जुलाई, १९२५) और 'दैशिक धर्म' (सरस्वती, नवम्बर, १९२५) शीर्षक कविताओं में भारत के अतीत गौरव को अभिव्यंजित किया है। श्री सुरेन्द्र ने भी 'सारनाथ के खण्डहरों से' (विशाल भारत, जनवरी, १९३४) शीर्षक कविता में देश के सांस्कृतिक नेतृत्व का कीर्ति-स्तवन किया है और वर्तमान अधोगति के प्रति चिन्ता प्रकट की है।

छायावादी कवियों ने पुनरुत्थान मूलक रचनाओं के द्वारा परम्परा के गौरव का मोह व्यक्त किया है, लेकिन यह मोह जड़ परम्परा के प्रति नहीं है। जहाँ परम्परा को यथातथ्य रूप में अपनाने का आग्रह होता है, वहाँ कट्टरता एवं जड़ता होती है। इस युग में ऐसी यथातथ्यता नहीं है और न जड़ एवं मृत परम्पराओं को ही अंधरूप में ग्रहण करने की चेष्टा की गई है। यह सही

है कि कवियों ने कहा कहीं अतीत के लौट आने की चर्चा की है, लेकिन यह उसी रूप में उसके उत्थान की कामना नहीं है। पंत ने अतीत का स्मरण करते हुए कहा कि वह सुवर्ण काल कहां चला गया—

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन वह सुवर्ण का काल
भूतियों का दिगंत छवि जाल।

दिनकर ने भी 'रेणुका' में इतिहास के कंठ से वर्तमान काव्य गाया है। कवि वर्तमान के चित्रपट पर अतीत की संभावना करता है—

प्रिय दर्शन-इतिहास कंठ में
आज ध्वनित हो काव्य बने
वर्तमान की चित्रपटी पर
भूतकाल संभाव्य बने।

स्पष्ट है कि कवि को यह मोह नहीं है कि यथातथ्य रूप में अतीत आज खड़ा हो उठे। वह तो वर्तमान परिस्थितियों की पृष्ठभूमि पर अतीत का अवतरण चाहता है। इसलिये इस पुनरुत्थान भावना को प्रतिगामी नहीं कहा जा सकता। इतिहास के उज्ज्वल आदर्श प्रेरणा बनकर आते हैं, वर्तमान की धूमिलता को उजागर करने के लिए आते हैं, सामयिक परिस्थितियों के समाधान के लिए आते है और आते है हमारी हीनता की भावना को दूर कर हममें गौरव भरने के लिए। किन्तु सबके मूल में है युगीन समस्या के समाधान का प्रश्न, जिसके लिए इतिहास को हमारे सामने कवि ले आता है। वर्तमान समस्या के समाधान के लिए ही दिनकर युधिष्ठिर को स्वर्ग जाने देने तथा अर्जुन तथा भीम को लौटाने की कामना व्यक्त करते हैं--

रे रोक युधिष्ठिर को न यहां
जाने दे उनको स्वर्ग धीर
पर फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।

'मंगल आह्वान' में दिनकर स्पष्ट ही वर्तमान सापेक्ष अतीत की ओर ही संकेत करते हैं--

गत विभूति भावी की आशा
ले युग धर्म पुकार उठे
सिंहों की घन-अंध गुहा में
जागृति की हुँकार उठे।

स्पष्ट है कि इस युग में अतीत का ग्रहण युग-धर्म की पुकार के लिए हुआ है, वह युग सापेक्ष अतीत ग्रहण है, अंध ग्रहण नहीं।

इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती अतीत-दर्शन में भारत की संपूर्ण विभूतियों का ब्योरेवार वर्णन किया गया है। वह वस्तु परिगणन के रूप में प्रस्तुत है। छायावाद का अतीत-गौरव-गान मूलतः शौर्य एवं पुरुषार्थ का उद्‌घोष है। प्राचीन खेवे के मैथिली शरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, गोपाल शरण सिंह आदि ने उस प्राचीन रूप को इस युग में भी रूपायित किया, किन्तु छायावादी कवियों ने वस्तु परिगणन के स्थान पर किसी एक घटना अथवा वीर पुरुष का यश-वर्णन किया। प्रसाद जी ने अलबत अपने नाटकों में उसी परम्परा को अपनाया, लेकिन वह नाटक के प्रसंग की लाचारी है।

छायावाद युग में मात्र हिन्दू गौरव को ही नहीं अपनाया गया, वरन् मुस्लिम गौरव को भी स्वीकार किया गया और इस प्रकार जातीय गौरव की एकांगिता को संपूर्णता प्रदान की गई। दिनकर तथा सुभद्रा कुमारी चौहान ने इस दिशा में सफल प्रयत्न किये है। इस प्रकार उन्होंने सांस्कृतिक अभ्युत्थान की दिशा में एकता स्थापित करने की चेष्टा की, लेकिन इसे हम इस युग की सांस्कृतिक राष्ट्रीय चेतना का मूल स्वर नहीं कह सकते। इस युग में भी साम्राज्यवादी शक्ति की भेद नीति के कारण सांस्कृतिक पुनर्जागरण मे दरार रही और हिन्दी कवि उससे नही बच सके।

इतना तो स्पष्ट ही है कि इस तरह हिन्दू पुनर्जागरण की कविताओं में भी बाह्य रूप से ही बिलगाव अथवा एकांगिता [illegible]गत होती है। मूलरूप में उसका प्रणयन साम्राज्यवाद के विद्रोह के लिए ही हुआ है और जातीय एकता को पुष्ट एवं सशक्त बनाने की प्रेरणा दी गई है। छायावाद युग में अतीत की ओर किये गये संकेत बहुत कम हैं। उसमें वर्तमान स्वतंत्रता संग्राम का ही चित्रण बहुत अधिक है।

छायावादी पुनर्जागरण-परक राष्ट्रीय काव्य में वर्तमान परिस्थितियों के कठोर यथार्थ का ही स्वर प्रमुख है। कर्मयोग की पुकार भी इन रचनाओं में रही है। इसके पुर्व कर्म की ओर उन्मुख करने की भावना स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई पड़ सकी थी।

मातृ-भूमि का देवीकरण—देशभक्ति की एक प्रबल धारा मातृभूमि के प्राकृतिक तथा भौगोलिक स्वरूप के प्रति अनुराग बन कर भी वही है। छायावाद-युग में भी यह अनुराग स्वदेश के दैवीकरण की भावुकता में फूटा और अनेक

कवियों ने भारत के भव्य स्वरूप की कल्पना कर उसके चरणों में अपने हृदय की श्रद्धा निवेदित की है।

द्विवेदी युगीन परम्परा के अनुरूप मातृ-वन्दना आलोच्य काल में भी हुई और भारत के भव्य रूप की, अलौकिक सौन्दर्य की व्यंजना की गई। इसमे भारत की प्राकृतिक शोभा वर्णन की ओर उनका ध्यान विशेष रहा है। 'राष्ट्रीय गान' शीर्षक कविता (१९२०) में गिरिधर शर्मा ने अपने प्रिय देश की रमणीयता का उल्लेख करते हुए कहा है —

जय जय प्यारे देश। रम्य हमारे देश।
दृग के तारे, जग उजियारे, हिम के प्यारे देश।

सरस्वती के जनवरी, १९२१ ई० के अंक में शर्मा जी की 'जन्मभूमि' नामक कविता प्रकाशित हुई। उसमें उन्होंने जन्मभूमि में कर्म का संयोग भी कर दिया है। इसकाल तक गांधी की कर्म-चेतना संपूर्ण देश को अभिभूत कर चुकी थी। उसकी सफल अभिव्यक्ति राष्ट्रीय भावना के कवियों मे हुई—

जन्म भूमि जननी
करम भूमि जननी
श्रम भूमि जननी
जय विश्वतारिणी।

इसके अतिरिक्त सूर्य चन्द्र की छटा से देश के सौन्दर्य का अंकन भी हुआ है।

चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने जन्मभूमि के 'देश-दुख-दंभ-दुरित-दलनी' स्वरूप की व्यंजना की है। फिर उसके भव्यरूप को भी वे उसके प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ प्रस्तुत करते हैं—

तेरे पद-नख-चारु-चन्द्र मणि- मंडित मौलि जलेश्वर का,
तेरे काशमीर-कुंकुम-कण-अंकित अंग महेश्वर का।
धन्य धन-धुरी धर्म-धमनी।

कवि ने इसी क्रम में उसे 'अवतारों की अवनी' तथा 'कमनीय कीर्ति-करनी' भी कहा है और उसकी स्वरूपगत इकाई की शक्ति को काव्य के माध्यम से ध्वनित किया है।

भारतवर्ष के देवी रूप के गायक श्री द्विजेन्द्र ने निर्भयता के साथ शौर्य एवं वीरत्व का संकेत किया है—

पद तल पर विस्तृत है सागर
क्षण-क्षण में भीषण निनाद कर
फैलाता आतंक जगत पर
किसी का सह्य नहीं आमर्ष ।

सागर के भीषण निनाद का आतंक कवि ने जग में व्याप्त कराया, साथ ही हिमालय को निर्भय द्वार रक्षक तथा जयघोषणा करनेवाले के रूप में चित्रित कर जन्मभूमि के प्राकृतिक रूप में विजय एवं गौरव की झाँकी प्रस्तुत की है—

फैलाकर निज बाहु हिमालय
खड़ा अनादि काल से निर्भय
करता है घोषित उसकी जय
द्वार रक्षक है यह दुर्द्धर्ष ।

लोचन प्रसाद पाण्डेय ने तीस कोटि जन-सेवित भारत जननी का जयघोष किया है और उसके वीरत्व की महिमा गाई है। जननी से स्वतंत्रता के लिए हुँकार करने की प्रार्थना भी कवि कंठ से निकली है। वह कहता है कि तुम तो जगत् में मुक्तिदायिनी रूप में ख्यात हो, तो तुम्हें बन्धन में कौन रखेगा ? इसलिए स्वतन्त्रता के लिए हुँकार कर आत्म निर्णय का अधिकार ग्रहण कर लो—

तू ख्यात मुक्तिदायिनी अहो त्रिभुवन में,
रक्खेगा तुझको कौन, अंब बन्धन में ?
तू स्वतंत्रता हुँकार प्रखर हुँकारे,
शुभ, सत्य आत्मनिर्णय का नियम सुधारे ।

१९२७ ई० के पूर्व-पश्चात् देश में द्वेष भाव बढ़ा और उसकी भयंकरता अनेक हिन्दू-मुसलमानों के खून के रूप में प्रकट हुई। ऐसे समय भारत के ऐसे रूप की अपेक्षा थी, जो प्रेम एवं सद्भाव उत्पन्न करे। गिरीश जी ने १९२७ ई० में राष्ट्रीय गीत लिखा और 'प्रेम-मुरलिस्वर उच्चारिणि' रूप को सामने रखा—

नवलरसाल-भुज पंकज-पद
नीरधि वसन-ललामे ।
परमपिता सेवासक्ते
प्रेममुरलि-स्वर उच्चारिणि है ।
जननि ! गिरीन्द्र मुकुटधारिणि है ।

निराला को 'भारति, जय, विजय करे' शीर्षक कविता मे भी मातृभूमि का उदात्त रूप व्यंजित हुआ है। अधिकार रहित मातृभूमि को हिमालय का मुकुट पहनाकर कवि ने उसके अस्त गौरव का पुनः भावरूप प्रदान किया है। प्रणव ओंकार को मातृभूमि के प्राण मानकर उसमें दिशा-दिशा को मुखरित कवि ने किया और भारत भूमि को अपूर्व विराटता प्रदान की--

मुकुट शुभ्र हिम-तुषार,
प्राण प्रणव ओंकार,
ध्वनित दिशाएँ उदार,
शतमुख - शतरव मुखरे

निराला ने भारत भूमि को जड़ता मे मुखरता भर दी और उसके शतरव को शत मुख से दिशा-दिशा में गूंजने का अवसर दिया है। यह स्पष्ट रूप से भारत के विराट् राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जागरण का प्रतीक ही है।

दिनकर ने भी मातृभूमि के किरीट हिमालय का वर्णन बड़े मनोयोग से किया और उसके अतुल बल एवं पौरुष को जगाया। मौन तोड़ने का आग्रह भी कवि ने हिमालय से किया है। इस प्रकार उनके स्वर में भी देश की तत्कालीन राष्ट्रीय भावना का उत्कर्ष ध्वनित हो उठा है।

प्रसाद जी ने परदेशिनी कार्नेलिया के मुख से भारत के गौरव एवं शोभा का बड़ा सजीव वर्णन चन्द्रगुप्त नाटक में प्रस्तुत करवाया है। प्रसाद की राष्ट्रीय भावना युग के प्रभाव से अंतर्राष्ट्रीयता का भी स्पर्श इस नाटक में करती है। कर्नेलिया के मुँह से मातृभूमि के सौष्ठव की व्यंजना राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति के लिए अंतर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है। अपने अरुण मधुमय देश के प्रति अनुराग व्यक्त करते हुए कवि कहता है--

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

कवि के देश की अरुणिमा (अनुराग) अनजान क्षितिज को सहारा देती है। स्पष्ट ही प्रसाद की राष्ट्रीयता अंतर्राष्ट्रीयता को भी एक आश्रय देती है और युगीन राष्ट्रीय भावना को विश्वबन्धुत्व के धरातल पर प्रतिष्ठित करती है। 'लहरें टकरातीं अनन्त की पाकर जहाँ किनारा' में अंतर्राष्ट्रीयता की ध्वनि और भी स्पष्ट हो गई है।

इनके अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पंत, रामचरित उपाध्याय आदि कवियों ने भी भारत जननी के विराट् रूप को चित्रित किया है और उसकी बन्दना की है, महिमा गाई है।

छायावाद में जन्मभूमि के प्रति वर्णित अनुराग द्विवेदी युग से इस माने में भिन्न दृष्टिगत होता है कि उस काल में भारत भूमि की मात्र प्रतिमा कवियों ने गढ़ी, उसमें जड़ता बनी रही। छायावादी कवि ने उस मातृभूमि की प्रतिमा में प्राण-प्रतिष्ठा की, उसे शतकंठ की हुँकार से संपूर्ण किया। इस तरह छायावादी भारत जननी का देबी रूप अपनीं सप्राणता में प्रकट हो उठी है।

द्विवेदी युग में प्राकृतिक चित्रण के माध्यम से व्यक्त भारत के भव्य रूप में इतिवृत्तात्मकता ही ज्यादा है। छायावाद ने इसे समाप्त किया और उस प्रकृति-चित्रण में जीवन्तता एवं भव्यता का आधान किया। इस प्रकार वह वर्णन स्थूल नहीं है, बल्कि भावप्रवण और उत्तेजक हो गया है।

इसके पूर्व जन्मभूमि के देवीकरण की प्रवृत्ति में उतनी उदात्तता नहीं दृष्टिगत होती और न विराटता ही लक्षित होती है। देश में राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ ही इस वर्णन में भी संकीर्णता नहीं रही। वह विशाल हो उठा और उसके अंतर्राष्ट्रीयता को भी अपना स्पर्श प्रदान किया।

छायावाद की जन्मभूमि वन्दना में युग के अनुरूप परिवर्तन दीख पड़ता है। उसमें युग के विभिन्न नवजागरण की हल्की झांकी भी मिलती चलती है जो इसे और भी मनोहर एवं उज्ज्वलता प्रदान करती है।

संपूर्णतः छायावाद के इस उदात्त और भावप्रवण देशप्रेम के संमुख पूर्ववर्ती युग का देश प्रेम बिना रंग भरे चित्र का रेखा-चित्र मात्र है। पूर्ववर्ती युग के चित्रण में सचमुच रंगीनी, वह संपूर्णता, वह सप्राणता और विराटता नहीं है जो छायावाद ने उसे दिया।

वर्तमान की प्रतिध्वनि—१६२० ई० से भारत के राष्ट्रीय जागरण के इतिहास को नयी दिशा मिली। इसके दिशानायक थे गाँधी जी। उन्होंने सत्याग्रह और सहयोग के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना में कर्मयोग की क्रांति का सूत्रपात किया। द्विवेदी युग की राष्ट्रीय भावना मंच की चेतना थी, लेकिन कर्मयोगी गांधी ने उसे लोक चेतना की सक्रियता प्रदान की। मंचीय भावना की राष्ट्रीयता का सम्पर्क जन-जीवन से उतना नहीं था और न उसमें कर्म की प्रेरणा ही अधिक थी। छायावाद युग में राष्ट्रीय भावना को लोक-शक्ति मिली और कर्म की गतिमयता प्राप्त हुई। इसलिए इस युग में राष्ट्रीय काव्य-धारा एक नयी शक्ति लेकर प्रवाहित होती है।

आलोच्य काल के पूर्व राष्ट्रीय-चेतना में ब्रिटिश राज्य के प्रति आस्था बनी हुई थी। औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग स्वयं इस आस्था का द्योतक है। आलोच्य काल के प्रारम्भ में ही वह आस्था खंडित हो गयी, क्योंकि ब्रिटिश राज्य के कारनामो ने उस पर गहरा प्रहार किया। इस आस्था के मिटते ही राष्ट्र में क्रान्ति का आरम्भ हुआ, परिवर्तन की आकांक्षा बलवती हो उठी और दमन तथा अत्याचार का विरोध नये ढंग से करने की प्रक्रिया का जन्म हुआ। यह प्रक्रिया थी—सत्य और अहिंसा की। गांधी जी इस नयी प्रक्रिया के जनक थे। उन्होंने स्वतंत्रता के लिए युद्ध करनेवालों को दो अचूक अस्त्र दिये। इस अस्त्र का प्रयोग भी बहुत कठिन था। यह अस्त्र असत्य का नहीं, सत्य का आग्रही था, हिंसा का हिमायती नहीं, अहिंसा का अभ्यासी था। उन्होंने प्रतिपक्षी के रक्त बहाने की हिंसात्मक नीति का त्याग कर अपना रक्त देने की अहिंसात्मक विधि का आलम्बन किया और इस प्रकार बलिदान की क्रांति से राष्ट्रीय आन्दोलन को नयी दिशा दी।

इस बलिदानी क्रांति-योग के अंतर्गत गांधी जी ने सत्याग्रह और असहयोग का प्रारम्भ किया। १९२० ई० की परिस्थितियां उसके लिए उपयुक्त थी। इसके बाद यह आग दमन, फूट तथा अन्य कारणों से भले ही कभी मन्द पड़ गई हो, लेकिन यह बुझी नही और इससे ब्रिटिश राज्य का सिंहासन हिल गया। जन सहयोग की तुमुल ध्वनि ने इस आग को अनुकूल हवा दी। हिन्दी काव्य की राष्ट्रीय धारा ने क्रांति की विविध ध्वनियों को समेटा और लोक-चेतना में व्यापक स्वराज्य की आकांक्षा को, विदेशी शासन के प्रति विद्रोह को अधिक तेज एवं शक्तिशाली बना दिया।

वर्तमान परिस्थितियों की प्रतिध्वनि की जितनी अभिव्यक्ति छायावाद युग में हुई, उतनी और किसी युग में नहीं हुई थी। इस काल में विद्रोह की व्यंजना हिन्दी राष्ट्रीय कविता में हुई। यह विद्रोह अहिंसक क्रांति के रूप में प्रकट हुआ।

विद्रोह की पहली अभिव्यक्ति हिन्दी काव्य में असहयोग के रूप में प्रकट हुई। यह असहयोग वर्तमान के प्रति क्षोभ ही है। हिन्दी कवि ने इस क्षोभ को अभीत होकर व्यक्त होने दिया। इस अभिव्यक्ति में उसके मन की पीड़ा प्रकट हुई—

वर्तमान की जय अभीत हो खुलकर मेरी पीर बजे,
एक राग मेरा भी रण में, बंदी की जंजीर बजे।

वर्तमान की जय असहयोग का तुमुल निनाद बनकर फूटी। भारत चैतन्य हो उठा। उसकी चेतना माधव शुक्ल के चैतन्य भारत में फूटी। नौकरशाही ने भारत के जीवन को क्षार कर दिया था, लेकिन असहयोग की अमृत धारा से उसका कायाकल्प हो उठा—

नौकरशाही नर्क में पड़कर सारा जीवन छार किया।
असहयोग अमृत धारा ने हमें आज उद्धार किया।

खिलाफत के मातम, पंजाब के गम और नौकरशाही के अत्याचार के अनेक जख्मों का एक मात्र मरहम असहयोग को ही बताया गया—

मनाते हो घर घर खिलाफत का मातम,
अभी दिल में ताजा है पंजाब का गम।
तुम्हें देखता है खुदा और आलम,
यही ऐसे जख्मों का है एक मरहम।
असहयोग कर दो, असहयोग कर दो।

यह असहयोग परवशता नहीं, बल्कि शक्ति की दृढ़ता रूप में व्यक्त हुआ। उसमें निष्क्रियता नही थी, बल्कि विद्रोह तथा क्रांति की कर्म-प्रेरणा भरी हुई थी। यह असहयोग विद्रोह ही था, क्रांति हो थी, लेकिन गौतम बुद्ध एवं गांधी की भूमि ने उसे अहिंसात्मक रूप दे दिया था। यह दमन नीति का विरोधी बनकर फूटा, लेकिन सहिष्णुता एवं त्याग की तपोभूमि पर। अत्याचार का विरोध पाप-पुण्य का अनोखा युद्ध बन गया। जिसमे मर मिटने, लेकिन पाप का साथ न देने, का संकल्प किया गया। इस टेक पर चलनेवाली पन्द्रह करोड़ असहयोगिनियों के लंका कान्ड रचने की उद्दाम लालसा देखें—

पंद्रह कोटि असहयोगिनियां,
दहला दें ब्रह्मान्ड सखी।
भारत लक्ष्मी लौटाने को
रच दें लंकाकान्ड सखी।

असहयोग में ब्रह्मान्ड को दहला देनेवाली तथा भारत-लक्ष्मी लौटाने के लिए लंका कान्ड रचने की तत्परता स्पष्ट ही लक्षित होती है।

असहयोग का ही मूलांस है सत्याग्रह। सत्याग्रह किसी से डरनेवाला नहीं है। वह अजर-अमर, है। सत्याग्रह वह तलवार है जिसमें चारों ओर तीव्र धार है—

सत्याग्रह प्रेमास्त्र मनों को हरनेवाला,
जिनसे परम विरोध उन्हें वश करनेवाला,
क्या मनुष्य, वह नहीं काल से डरनेवाला,
अजर-अमर वह, नहीं किसी से मरने वाला।
कहते थे श्री गोखले 'सत्याग्रह' तलवार है।
जिसमें चारों ही तरफ, धरी तीव्रतर धार है।

सत्याग्रह का अर्थ है सत्य पर दृढ़ रहनेवाला। सत्याग्रह ने हिन्दी काव्य को दृढ़ता दी। सत्याग्रही वीर की इसी अटल देश भक्ति का वर्णन करते हुए त्रिशूल कहते हैं—

सत्याग्रह का व्रती कष्ट कितने ही झेले,
मारे उसके मन्द मूढ ढेले पर ढेले।
समझे उसको दया-पात्र, चोटें सिर ले ले
मोह प्राण का छोड़ जान पर अपनी खेले।
अपने पशु बल से कभी सत्यग्रही न काम ले।
आत्म बल की ढाल ही, निज रक्षा हित थाम ले।

सत्याग्रह व्रती राष्ट्रप्रेमियों का अस्त्र तोप-तलवार नहीं है; प्रेम का वर्म, कर्म की तलवार और अहिंसा की ढाल लेकर उसने दमन के हर वार का स्वागत किया। उसके हाथ रुके रहे, पर चरण अपनी मंजलि की ओर हमेशा बढते रहे। उसके सामने विमुख होने का प्रश्न नहीं है, प्रश्न विजय का, अथवा यमपुर की सैर करने का। ऐसी अहिंसात्मक लड़ाई ग्राम-ग्राम मे छिड़ी थी। रूप नारायण पांडेय के शब्दों में इसका अंकन देखें—

प्रेम का वर्म, धर्म का जाल, कर्म तलवार वार-पर वार,
अहिंसा की हो ऊंची ढाल, दमन का स्वागत हो हर बार।
रुके हों हाथ, बढ़ें बस पैर, न पीछे हटने का लें नाम।
विजय है, या यमपुर की सैर, विमुख होना कायर का काम।
छिड़ा है ग्राम-ग्राम संग्राम, भिड़ा है शहर-शहर हर मर्द,
हमारी बहनें भी आराम छोड़कर मिलीं, हुई हम दर्द।

महेश प्रसाद ने 'स्वदेश सतसई' में अहिंसा को पौराणिक पृष्ठभूमि पर श्रेयस्कर बताया है। विष्णु ने भृगु की लात सही, उन्हें क्षमा दी, इससे उनकी

महत्ता अनेक गुणी हुई। सत्यव्रती को शक्ति भर इन्द्रिय दमन कर अत्याचार सहने की प्रेरणा देते हुए वे कहते हैं—

बूता भरि जूता सहि छमहु सुमील।
कृष्णहिं भृगु-लातहु लहि, का भा ढील।

सत्याग्रह कीं सक्रियता, उसके बलिदान ने देश को नयी शक्ति तो दी ही, इससे अधिकारी भी चिंतित हो उठे। नौकरशाही के दृढ़ हठ का हिमालय इसकी आग में गल गया—

हुआ सशंकित राष्ट्र, भये चिंतित अधिकारी।
उठा तुमुल तूफान सिन्धु बिच स्वेच्छाचारी।
खन्ड-खन्ड हो गिरी प्रबल पालिसी सुरक्षित।
दृढ़ हिमाद्रि गल गया पिघल कर चिर व्यवस्थित।

सत्याग्रहियों ने दमन का स्वागत किया। राष्ट्र ने दमन के विरोध मे सिर न उठाने की शपथ ली। उनका आग्रह था देश को स्वाधीन बनाने का अथवा मर मिटने का। तब दमन के दानव तैंतीस कोटि लाशों पर ही शासन करेंगे। इस आशय की कविता 'दमन स्वागत' के द्वारा माधव शुक्ल ने भारतीय जनता की सन्नद्धता का, त्याग एवं बलिदान का, स्वतंत्रता की अदम्य लालसा का बड़ा हृदयगाही वर्णन प्रस्तुत किया है—

दमन करो जितना जी चहिं हम नहिं शीश उठायेंगे।
अब तो अड़कर बैठ गये भारत स्वाधीन बनायेंगे।
या स्वतंत्रता लहरायेगी, या तो होगा हिन्द मसान।
तैंतिस कोटि लाश पर शासन तब करना सुख से मतिमान।

सत्याग्रही वीरों के हृदय की प्रत्येक धड़कन हिन्दी कविता में ध्वनित है। अन्याय के प्रतिरोध का संकल्प किया, चाहे उनका शीश ही क्यों न कट जाय। असहयोग से वे लंदन के द्वार भी हिला देने की क्षमता रखते हैं—

नहीं अब सहेंगे हम अन्याय,
शीश यह रहै चहै कटि जाय।
करेंगे असहयोग सरकार,
हिला देंगे लन्दन का द्वार।

सत्याग्रह आन्दोलन की सहयोगिनी सुभद्रा कुमारी चौहान ने भी दमन की निरंकुशता निर्भयता प्रकट की और हिंसावृत्ति त्याग कर वीर एवं विजयी अशोक बन जाने का संकल्प व्यक्त किया—

ढीठ सिपाही की हथकड़ियाँ
दमन नीति के वे कानून।
डरा नहीं सकते हैं हमको
जदपि बहावें प्रतिदिन खून।

हम हिंसा का भाव त्याग कर विजयी, वीर अशोक बने।
काम करेंगे वही कि जिससे लोक और परलोक बने।

रामचरित उपाध्याय की वाणी ने राष्ट्रीय चेतना का निर्भयता से आख्यान किया। हथकड़ियां सत्याग्रही के भावों को और तीव्रतर करती हैं। जेल-यातना को वह सुखकर मान कर अपने देश-प्रेम की दृढ़ता का अद्‌भुत परिचय देता है--

जेल केलि वन, काल-कोठरी क्रीड़ा-गृह के सम होवें,
पुष्प शयन से भूमि शयन भी भगवन ! हमें न कम होवे।
कनक-कंकणों से भी बढ़कर हथकड़ियाँ नित सुखद रहें,
देश-वेश को तजें नहीं हम कैसे ही भी क्लेश सहें।

'बन्दी से' शीर्षक कविता में सियाराम शरण हथकड़ियों को 'विजय-वलय', कहकर पुकारते हैं और बन्दी के लिए उसके मंगलमय होने की कामना व्यक्त करते है—

जाओ प्यारे बन्दी ! आई—
सुखद मिलन की घड़ियां।
मंगलमय हों सदा तुम्हें ये—
विजय-वलय हथकड़ियाँ।

माखनलाल चतुर्वेदी ने हथकड़ियों को ब्रिटिश राज का गहना माना और कारावास में कोल्हू की चरमर में भी जीवन की तान सुनी है। मोट खींचते हुए वे इस प्रकार ब्रिटिश राज्य को अकड़ का कुंआं खाली करते हैं—

हथकड़ियाँ क्यों ? यह ब्रिटिश राज का गहना
मिट्टी पर अंगुलियों ने लिखे गाने।
कोल्हू का चरमर चूं ? जीवन की तानें।

हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूआं,
खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूआं।

इस प्रकार आलोच्य काल में असहयोग और सत्याग्रह की धूम रही। जन-जन ने इस आन्दोलन में भाग लिया और देश की स्वाधीनता के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित की। दमन-चक्र की कटुता, विभीषिका ने वीरों के जोश को और तीव्र ही बनाया। उनमें इससे अधिक दृढ़ता एवं क्रांति-चेतना का ही विकास हुआ।

छायावाद युग में स्वतन्त्रता की जो बलवती आकांक्षा व्यक्त हुई उसे हिन्दी राष्ट्रीय काव्य में पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। दमन एवं अत्याचार सहने की दृढ़ता, जो लोक जीवन मे आई उसके मूल में राष्ट्र को स्वतन्त्र करने की भावना ही है। स्वतन्त्रता का अर्थ है सब कुछ अपना होना। आकाश, धरती सब पर देश की संपूर्ण जनता का अधिकार हो। रामनरेश त्रिपाठी इसी आत्म अधिकार के स्वराज्य की कामना करते हैं 'निशीथ चिन्ता' में—

अपना ही नभ होगा अपने विमान होंगे,
अपने ही यान जब सिन्धु पार जायेंगे।
जन्मभूमि अपनी को अपनी कहेंगे हम,
अपनी ही सीमा हम अपने रखायेंगे।

विक्रम ने भी स्वराज्य अथवा स्वाधीनता का विश्लेषण किया और कहा कि तब स्वराज्य होगा, जब धरती अपनी हो, आकाश अपना हो, पराई आशा न हो। ऐसी स्थिति को ही स्वाधीनता के नाम से पुकारा जा सकता है—

धरा अपनी, अपना आकाश,
न होगी शेष पराई आश।
सुखद होगा सब अपना राज,
मिलेगा जब स्वाधीन स्वराज।

निराला ने अपनी पराधीन जाति को पददलित होते देख अत्यन्त क्षोभ व्यक्त किया और इससे मुक्त होने के लिए निर्भय होने की प्रेरणा दी। निर्भय को ही उन्होंने स्वाधीन का पर्यायवाची माना और इससे संपूर्ण देश को उद्‌बुद्ध किया—

समझा मैं
भय ही व्यवस्था का जनक है।

निर्भय अपने को
और दुर्बल समाज को
करके दिखाना है—
स्वाधीन का ही
एक और अर्थ निर्भय है।

यह निर्भयता स्वाधीनता के लिए विदेशी सत्ता के प्रति विद्रोह कर उठती है। उसकी विद्रोह भावना क्रांति की चिनगारी बनकर फूटती है। स्वतन्त्रता का मूल्य है सिर का दान। इसलिए स्वतन्त्रता का भी छायावादी राष्ट्रीय कविता का द्रोही स्वर बलिदान का गीत बनकर फूटता है।

आलोच्य काल की राष्ट्रीय कविता का मूल स्वर त्याग एवं बलिदान है। इसके पूर्व बलिदान एवं त्याग का भाव उतने तीव्र रूप में व्यक्त नहीं हो सका था। राष्ट्रीय आन्दोलन की अहिंसक क्रांति बलिदान के स्वर में इस युग में फूटी और देश के कण-कण में जागरण भर दिया तथा उत्सर्ग का अदम्य साहस जगाया। अहिंसक क्रांति खून लेना नहीं जानती, वह खून देना जानती है। भारत के बलि पंथियों ने भी स्वतन्त्रता के लिए अपने खून की बाजी लगा दी। बलिदान की भावना से ओतप्रोत कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान केवल अपने को ही नहीं, सम्पूर्ण भूमण्डल को मातृभूमि की बलिवेदी पर उत्सर्ग कर देना चाहती है—

जय स्वतन्त्रिणी भारत माँ,
यों कह कर मुकुट लगाने दो।
हमें नहीं, इस भूमण्डल को,
माँ पर बलि-बलि जाने दो।

स्वतन्त्रता का भी हृदय के बलिदान होने की अदम्य कामना भी सुभद्रा कुमारी ने व्यक्त की है। वह अत्याचार के नाश के लिए उत्सर्ग होने को व्याकुल हैं। मातृभूमि की पुकार पर वह अपने को बलि देने की उत्सुकता से भर कर कह उठती हैं—

न होने दूँगी अत्याचार,
चलो, मैं हो जाऊँ बलिदान।
मातृ मन्दिर में हुई पुकार,
चढ़ा दो मुझको हे भगवान।

स्वतन्त्रता के ऐसे सूरमां रण-क्षेत्र में अपने शीश सहर्ष बो देते हैं जिसकी रक्षा जागृत जाति करती है। वे अपने स्नेह से स्वतन्त्रता का दीपक जलाकर विश्व को ज्योतिर्मय बना देते हैं—

बोते रण-खेत में हैं शीश वे सहर्ष, जिसे
जाति है रखाती जागती, वे पड़े सोते हैं।
जग में उजाला करने को निज शोणित से
दीपक स्वतन्त्रता का सूरमा संजोते हैं।

स्वराज्य की कीमत है सिर का उत्सर्ग। प्राणों के मूल्य पर उसे अर्जित किया जा सकता है। बलिदानी का विजय मुकुट ही स्वराज्य है। 'स्वराज्य' शीर्षक कविता में विक्रम ने बलिदानियों को प्रेरणा देते हुए कहा—

समर विजयी के सिर का ताज,
बिका प्राणों के मोल स्वराज।

'उद्बोधन' शीर्षक कविता में गुलाब शंकर जी पंड्या ने इस कीमत को पहचाना है और स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए मूल्य चुकाने को तत्पर होने तथा जन्म सफल करने के अवसर के सदुपयोग की प्रेरणा दी है—

तन-मन धन सब अर्पण कर दे,
देश-कार्य-हित आज सभी।
जन्म सफल करने का ऐसा,
अवसर होगा कभी नहीं।

हरिकृष्ण प्रेमी बलिदान के ऐसे अवसर को हाथ से जाने देने के पक्ष मे नहीं है। अपने देश पर होने वाला अत्याचार उनके हृदय को वेदना-विह्वल कर देता है और वे उसके प्रतिकार के लिए, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए, माता की परवशता के बन्धन को टूक-टूक करने के लिए अग्रसर होते हैं। शरीर का मोह उन्हें नहीं, क्योंकि वह माँ के हृदय की ही धूल है। उसका स्नेह कभी भूल नहीं सकता। इसलिए करोड़ों शरीरों को उत्सर्ग करने के लिए आगे बढ़ता है—

देह जिसके उर की है धूल,
भूल क्या सकते उसका स्नेह।
वार दे माँ पर लाखों बार,
करोड़ों ऐसे-ऐसे देह।

मुग्धा नायिका का नायक रण-भेरी की पुकार सुनता है और वह शृंगार-सजती प्रियतमा से विदा मांग कर बलिवेदी की ओर प्रस्थान करने को उद्यत हो उठता है। वह अपने यौवन में युद्ध की सज्जा कर आहुति से मातृभूमि की बलिवेदी को भर देने की कामना व्यक्त करता है—

यौवन के विकसित प्रभात में
करने दे शुभ संगर-साज
रुण्ड-मुण्ड की आहुतियों से
भर दूँ बलि बेदी को आज।

चण्डी प्रसाद हृदयेश भी भय त्याग कर देश की बलिबेदी पर बलिदान होने की प्रेरणा अपने बन्धुओं को देते हैं—

भीति तजि मीच की सनेह कुरु-खेत बीच,
देश हित कीजै बन्धु प्रान बलिदान आज।

स्वतन्त्रता की कामना केवल नागरिकों की ही विरासत इस युग मे नही रही। संपूर्ण देश इस बलिदान भावना से अभिभूत हो उठा और ग्रामीण देश-सेविकाओं ने भी अपने पतियों को उत्सर्ग के लिए उद्बुद्ध किया। देश-प्रेम से उद्भूत विद्रोह की ऐसी कामना और स्वतन्त्रता के लिए बलिदान की आकुलता का जैसा भाव छायावाद में दीख पड़ता है, वह राष्ट्रीयता के इतिहास में अपूर्व स्थान रखता है। भारतीय ग्रामीण देश सेविका की चेतना भी बलिदान के लिए आकुल है। वह अपने पति को प्रेरित करते हुए कहती है कि हे वीर, तुम अपने शरीर की गागर के जीवन-जल से स्वराज्य के बिरवा को सींच कर विकसित करो। प्रियतम, तुम तलवार हो और मैं उसकी धार बनूंगी। इस तरह बिना हथियार के ही हम भारत की परतन्त्रता की बेड़ी को काट दें—

निज तन केरि गगरिया जोवन-नीर,
सींचि स्वराज क बिरवा बढ़बहु बीर।
प्रीतम तुम तरुअरिया, हम बनिधार,
काटहि भारत-बेड़ियाँ बिनु हथियार।

ग्रामीणाओं की उक्तियाँ देश की शक्ति को स्पष्ट रूप से प्रकट कर देती हैं। जागरण की ऐसी भावना आदर्श है, अद्वितीय है।

बलिदान के लिए आत्मिक शक्ति, दृढ़ता, धैर्य, त्याग आदि की जरूरत होती है और जरूरत होती है मातृभूमि के प्रति शाश्वत प्रेम की। मातृभूमि की मर्यादा अपनी कुर्बानी से भी नष्ट न होने देने की अपेक्षा है। भारत की

स्वतन्त्रता के लिए बलिदान होने वालों के इन गुणों का वर्णन करते हुए कवि बलिदान की महानता के गीत गाता है—

स्वयं मिट जाते हैं वह बीर,
न देते मातृभूमि का मान।
दिव्य शुभ मातृ यज्ञ में वही,
धन्य बलिदान ! धन्य बलिदान !

माखन लाल चतुर्वेदी मुख्यतः बलिदान की महत्ता के गायक हैं। उनकी कविता ने देश में उत्सर्ग-पर्व ही अयोजित किया और स्वतन्त्रता पर मर मिटने वालों की एक सेना तैयार कर दी, जिसकी विशाल शक्ति के सामने साम्राज्यवाद की नींव हिलने लगी। उन्होंने अपनी अदम्य राष्ट्रीय भावना से देश के कण-कण को उत्सर्ग के लिए प्रेरित किया। उनके पुष्प की अभिलाषा प्रत्येक भारतीय के हृदय की अभिलाषा बन गई थी, जिसमें धन एवं सुख के प्रलोभन से मुक्त होकर देश भक्तों के मार्ग में बिछ जाने की आकांक्षा फूट पड़ी थी—

मुझे तोड़ लेना वनमाली,
उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक।

कवि उत्सर्ग के सिद्धान्त के विश्लेषण-क्रम में बताता है कि जो मिटते हैं, वे ही फिर हरे-भरे होकर निकलते हैं। मिट्टी में मिल जाना ही बलि-पंथियों के जीवन का आदर्श है—

मैंने मिट जाने में सीखा,
है जग में हरियाना।
मेरी हरियाली दुनिया है,
मिट्टी में मिल जाना।

वह माँ की बलि बेदी पर हंस-हंस कर बलिदान होने में अपने जीवन की लकीर की हरीतिमा देखता है—

माँ पर हंस-हंस बलि होने में,
खिच, हरी रहे मेरी लकीर।

वह बलिदान की भावना से इतना अधिक उद्बुद्ध है कि टुकड़ों पर जीने

के बदले मर जाना श्रेयस्कर समझता है और इसके लिए वह उन्मत होकर बधिक का घर खोजता है—

टुकड़ों पर जीवन की श्वासें ? कितनी सुन्दर दर है।
हूँ उन्मत, तलास रहा हूँ, कहाँ बधिक का घर है ?

सचमुच, टुकड़ों पर जीवन का सौदा न कर बलिदान के लिए बधिक के घर की खोज करने वाले इस कवि ने कभी साम्राज्यवाद से समझौता नहीं किया। उसके हृदय में क्रांति की पुकार भी उठती है, पौरुष की हुँकार भी जगती है, लेकिन अहिंसा का अस्त्र उसके जोश को संतुलित कर देता है। वह हाथ न उठाने तथा सिर कटा देने की प्रेरणा देता है। कवि के हृदय की उत्सर्ग-भावना सचमुच आदर्श है, अदम्य है और नृशंस सत्ता के हृदय को दहला देनेवाली।

स्वतंत्रता की ज्वाला के सुलगने भर की देर है। कवि राष्ट्रीय युद्ध-क्षेत्र का सिपाही है। इसलिए उसके सामने दूसरा कोई रास्ता नहीं बलिदान के अतिरिक्त। 'मैं हूँ एक सिपाही' में उसने तत्कालीन स्वातंत्र्य आन्दोलन की बड़ी सजीव व्यंजना की है और अपने लक्ष्य का गौरवपूर्ण आख्यान प्रस्तुत किया है—

श्रम सीकर प्रहार पर जीकर बना लक्ष्य आराध्य,
मैं हूँ एक सिपाही, बलि है मेरा अतिम साध्य।

प्रहारों पर जीना ही सिपाही का जीवन है और स्वराज्य के योगियों ने भीं ब्रिटिश राज्य के अनेक प्रहार सहकर अपनी कुर्बानी मूक होकर अर्पित की। स्वतंत्रता का यह सिपाही उत्सर्ग-यज्ञ में अपनी प्रथम आहुति देने के संकल्प को स्पष्ट घोषित करता है—

ज्वाला जगी कि अपनी बलि
हम पहले देंगे प्यारे,
हम से ही बनते देखे
हैं दुनियां ने अंगारे।

आहुति-कामी कवि माखन लाल का काव्य उत्सर्ग के प्रेरणा गीतों से भरा पड़ा है। उन्होंने स्वयं भी देश की इस लड़ाई में भाग लिया था। उनके हृदय की उत्सर्ग की आग ने राष्ट्रीयता की उदात्त भावना का प्रकटीकरण का हिन्दी

काव्य को नया जीवन दिया। ओज की आग से चेतनाहीन हृदयों में भी बलिबेदी की प्रीति जगाई और कायरों को भी स्वतंत्रता आन्दोलन के युद्ध क्षेत्र मे लाकर खड़ा कर दिया।

माखनलाल चतुर्वेदी की तरह ही बलिदान की कामना एवं क्रांति के चरण लेकर हिन्दी काव्य में दिनकर का आविर्भाव हुआ। उनके काव्य-तेज से शासन की भीति दूर हो गई और मृत्यु-पर्व की नयी ज्योति सर्वत्र फूट पड़ी।

दिनकर ने आजादी के जीवन-दानियों के आँसू पोंछ कर मृत्यु से निर्भीक होने की प्रेरणा दी है—

जो अशेष जीवन देता है, उसे मरण-संताप नहीं,
जलकर ज्वाला हुआ, उसे लगता ज्वाला का ताप नहीं।

उस समय भारतीय जनता विद्रोह की ज्वाला में जलकर स्वयं ज्वाला बन गई थी। ऐसे ज्वलित मानव-पिण्डों को आत्मबोध कवि ने दिया।

दिनकर ने बलि पंथियो को सिपाही माना और ऐसे वीरों की कीर्ति-गाथा उन्होंने गाई। उन्हें इतिहास भूल जाता है, लेकिन कवि की वाणी ने अमरता दी। वह सेवानिष्ठ होता है, उसे यश-लोभ नहीं ग्रसता। जिस माता ने उसे जन्म दिया, उसकी मिट्टी में ही अपने आपको मिटा देना उसका एकमात्र कर्तव्य है—

जग भूले, पर मुझे एक बस सेवा-धर्म निभाना है
जिसकी है यह देह, उसी में इसे मिला मिट जाना है।

कवि ने ऐसे नव-युवकों को अपनी प्रणति अर्पित की है जो कुर्बानी का मौका ढूंढ़ते हैं, जिनकी एक मात्र अभिलाषा जलन की है और जो मरण का त्योहार मनाते हैं। ऐसे वीरों को उन्होंने अपने हृदय की श्रद्धा समर्पित की है—

जिनकी चढ़ती हुई जवानी
खोज रही अपनी कुरबानी
जलन एक जिनकी अभिलाषा, मरण एक जिनका त्योहार।
नमन उन्हें मेरा शतबार।

कवि अख्यात एवं अज्ञात उन लघु जीवन-दीपों का जयगान करता है जो पुण्यमय स्वतंत्रता वेदी पर चिनगारी छिटकाते हैं, पर अपने उत्सर्ग का मूल्य लिये बिना ही मिट जाते हैं—

जला अस्थियाँ बारी-बारी
छिटकायी जिनने चिनगारी
जो चढ़ गये पुण्य बेदी पर लिये बिना गरदन का मोल।
कलम आज उनकी जय बोल।

इस प्रकार अनेक कवियों ने बलिदान के गीत गाये और अहिंसक क्रांति की चिनगारी जलाई। देश का कोना-कोना इन कवियों के आह्वान, उद्‌बोधन एवं प्रेरणा से मुखरित हो उठा और मौन-मूक बलिदान की शक्ति से देश की राष्ट्रीय चेतना अपनी मंजिल की ओर बढ़ती रही।

छायावाद-युग की बलिदान भावना उग्र होकर क्रांति की रण-भेरी बन बज उठी। वर्तमान के प्रति क्षोभ एवं असंतोष क्रांति की कोपल बनकर फूटा। इन कवियों ने वर्तमान जीवन मे परिवर्तन की कामना की। परिवर्तन ही क्रांति है। वर्तमान शासन की क्रूरता से ऊबकर ही उनके भावों ने उग्र होकर करवट ली। मूक बलिदान के लिए धैर्य की अपेक्षा है। दीर्घ काल मूक बनकर खून देते रहने की भावना का प्रतिकार नवयुवकों ने किया और उन्होंने क्रांति का आह्वान किया। मूक प्राणों को हुँकार कर जाग उठने की प्रेरणा दी। दिनकर युग के मूक शैल का आह्वान करते हैं—

नये प्रात के अरुण ! तिमिर-उर में मरीचि संधान करो,
युग के मूक शैल ! उठ जागो, हुँकारों कुछ गान करो।

दिनकर की कविता का प्रधान स्वर क्रांति है। वे मूलतः क्रांति के गायक हैं। वे वर्तमान दलितों के मर्दन से रोमांचित हो उठते हैं और तब दलितों के हृदय में सोई चिनगारी को, युग-मर्दित यौवन की ज्वाला को क्रांति कुमारी के रूप में अवतरित होने की पुकार करते हैं—

उठ वीरों की भाव तरंगिणि
दलितों के दिल की चिनगारी
युग-मर्दित यौवन की ज्वाला
जाग जाग री क्रांति कुमारी !

प्रलय-वेला उपस्थित जानकर कवि नये युग की भवानी के हुँकार के लिए आकुल हो उठता है। उसके हृदय की वेदना लोचनों में लहू बनकर बोलती है और उसका प्यार मृत्यु का घूंघट उठाने के लिए उद्यत हो उठता है—

हृदय की वेदना बोली लहू बन लोचनों में,
उठाने मृत्यु का घूंघट हमारा प्यार बोला,
नये युग की भवानी आ गई बेला प्रलय की।
दिगम्बिरि ! बोल, अम्बर में किरण का तार बोला।

कवि का आह्वान खाली नहीं जाता। उसकी विपथगा फूट पड़ती है। हुकूमत की क्रूरता के कारण उत्पन्न आहों में वह जागती है, वह कराहों में पलती है। दमन की दाहकता उसे निखार देती है, हथेली पर जान लेकर मर मिटने के आकांक्षी उसकी जन्मभूमि हैं। भारत में इन सब स्थितियों का संयोग हो उठा था और तभी कवि की पुकार पर विपथगा आ पहुंची—

जब हुई हुकूमत आँखों पर, जनमी चुपके मैं आहों मे,
कोड़ों की खाकर मार पली पीड़ित की दबी कराहों मे,
सोने-सी निखर जवान हुई तप कड़े दमन की दाहों मे,
ले जान हथेली पर निकली मैं मर मिटने की चाहों मे,
मेरे चरणों में खोज रहे भय-कंपित तीनों लोक शरण।

कवि की विपथगा पापी शासन को, जुल्मी की तलवार को, दुनिया के पापी जार को तथा विसूवियस के ज्वाला-मुख पर बैठे अबोध संसार को सजग करती है कि न जाने दलितों के काल-सर्प कब फुंकार उठे--

अब की अगस्त की बारी है, पापों के पारावार ! सजग,
बैठे-विसूवियस 'के मुख पर भोले' अबोध संसार ! सजग।
रेशों का रक्त कृशान हुआ, औ जुल्मी का तलवार ! सजग।
दुनिया के वीरों सावधान, दुनिया के पापी जार ! सजग।
जाने, किस दिन फुंकार उठें पद-दलित काल-सर्पों के फन।

दिनकर ने ताण्डव, भैरव, आलोक धन्वा, स्वर्ग-दहन आदि अनेक कविताओं में दलितों की आह के ताप को अनुकूल पावन देकर आकाश-व्यापी बना दिया है।

माखनलाल चतुर्वेदी भी विद्रोह के कवि हैं। वे परिवर्तन के पुजारी हैं और इसलिए रूढ़ि के भार वाहक वे नहीं हैं। नित नवीनता के वे आग्रही हैं—

हम हैं नहीं रूढ़ि की
पुस्तक के पथरी ले भार,
नित नवीनता के हम हैं
जग के मौलिक उपहार।

विद्रोही कवि अपना सर्वस्व भू पर अर्पित कर देने का आकांक्षी है, पर अपना मस्तक वह सदा ऊपर रखना चाहता है, क्योंकि उसका गौरव मातृभूमि का गौरव है—

फल फेंकेंगे कभी, फूल भी
फेंकेंगे हम भू पर,
विद्रोही-पर अपना मस्तक
किये रहेंगे ऊपर ।

उसकी विद्रोहिणी सिपाहिनी चूड़ियों को त्याग कर क्रांति के कुरुक्षेत्र में कूद पड़ने को आकुल है। वह तीर कमान तथा जिरह-बख्तर से अपने शृंगार की लालसा प्रकट करती हुई कहती है--

चूड़ियाँ बहुत हुई क्लाइयां पर,
प्यारे, भुज दण्ड सजा दो।
तीर कमानों से सिंगार दो,
जरा जिरह बख्तर पहना दो।

बालकृष्ण शर्मा नवीन भी क्रांति की तान छेड़ देते हैं और परिवर्तन की आग में वर्तमान क्षोभ को नष्ट-भ्रष्ट कर देना चाहते हैं—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये।
एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये।
प्राणों के लाले पड़ जायें त्राहि-त्राहि रव नभ में छाये।
नाश और सत्यानाशों का धुवाँधार जग में छा जाये।

नरेन्द्र शर्मा ने भी शिव से निर्दय जग पर ताण्डव नृत्य करने की प्रार्थना की है। कवि चाहता है कि रुद्र चिता की चंचल लपटें धारण कर ज्वाला के पर्वत बन जाँय और अन्याय का आडम्बर मिटा दें। धरती उनके रुद्र नृत्य से मरघट बन जाय—

नाचो, शिव, इस निर्दय जग पर,
अन्यायी के आडम्बर पर,
ज्वाला के भूधर से नाचो,
पहन चिता के चपल लपट-पट,
निखिल विश्व हो अवघट मरघट,
नाचो, रुद्र, नृत्य प्रलयंकर।
नाचो, ताण्डव नृत्य भयंकर।

उन्होंने भारत के रुद्र रूप की भी कल्पना की और भारत की भावी क्रांति की ओर संकेत किया—

एक साथ हिल उठे निमिष मे
दिग् दिगन्त, भू सातों सागर,
एक साथ फिर करवट बदले,
सुधि लें वे त्रिशूल धारी हर।

हरिकृष्ण प्रेमी भी 'अग्निगान' गाते है और आकाश मे आग लगा कर आकाश के तारे नोच कर, सागर को उदरस्थ कर, पर्वतों को उखाड़कर संसार में प्रलय मचा देना चाहते है—

मैं लगा दूँ आग नभ मे, मैं नोचूं नभ के तारे,
मैं सागर को पी जाऊँ मैं शैल उखाड़ूँ सारे।
पृथ्वी पर प्रलय मचाने बढ़ जाऊँ बिना विचारे।

एक आलोचक ने छायावाद युगीन इस क्रांति भावना को 'अराजकतावादी प्रलय आह्वान' कहकर उसे लक्ष्यहीन घोषित किया है। इन क्रांतिकारी कवियों का प्रलय आह्वान वर्तमान की प्रतिक्रिया है। तत्कालीन अत्याचार से विद्रोह इस काल में दीख पड़ता है। इसलिए इस क्रांति का कोई उद्देश्य नहीं था, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह क्रूर शासन-व्यवस्था के उन्मूलन की ही भावना है जो सक्रिय संघर्ष की चेतना बनकर प्रकट हुई। यों इस क्रांति पर तत्कालीन आंतकवाद और अराजकतावाद का प्रभाव प्रकट रूप से है, पर यह क्रांति अराजकतावादी नहीं है। स्वराज्य स्थापित करना उसका लक्ष्य है, जिसकी अभिव्यक्ति भी कई कवियों ने की है। 'विप्लव गायन' मे प्रदीप कहते हैं—

गा, वह विप्लव गायन पुनीत,
उस महाप्रलय का विजय गीत,
छटपटा रही नव सृष्टि
बनी बन्दिनी ....
शीघ्र कर मुक्तद्वार।

इसलिए मुक्ति-कामना प्रलय का आह्वान करने वाली कविताओं का मूल उद्देश्य है। हाँ, यह सही है कि इन कवियों ने भविष्य का चित्र, प्रलयोत्तर जीवन का विधि विधान नहीं व्यक्त किया है। यह आवश्यक नहीं भी था वे मुक्तिकामी थे, इसलिए उन्होंने मात्र मुक्ति की आकांक्षा की और भविष्य

का रूप सामने नहीं रखा । अतः उन्हे अराजकतावादी विद्रोही नही कहा जा सकता ।

इस काल में आह्वान गीत तथा प्रयाण गीत भी खूब लिखे गये । ये गीत स्वतंत्रता के लिए लड़ने वालों को प्रेरणा प्रदान करने के लिए लिखे गये। प्रसाद का प्रयाण गीत 'हिमाद्रि तुंग शृंग से' ऐसे गीतों का आदर्श रूप प्रस्तुत करता है ।

छायावाद की विद्रोहिणी कविता ने भूमि के साथ जन की एकता की महिमा का गान भी किया और प्रत्येक भिन्न जाति को एकता का राग उठाया। एक बात यह भी दीख पड़ती है कि भूमि की महत्ता का गान करने वाले कवियों ने एकता के लिए भी आवाज उठाई। गिरिधर शर्मा ने 'जन्मभूमि' की वन्दना में एकता का सूत्र भी प्रचारित किया--

आर्य जाति सब महान,
हिन्दू जैन औ मुसलमान
तव ध्वज को नमें देवमान
जग उद्धारिणी ।

इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष की रुक्षता को मिटाने की चेष्टा की और जन-एकता की भावना प्रसारित की। राष्ट्रीय जीवन मे विद्वेष के कारण जो पृथकता आ गई थी, उसे मिटाने की यह चेष्टा श्लाघ्य एवं श्रेयस्कर है ।

काले-गोरे के विभेद को मिटाने के लिए भी इस काल में स्वर उठाया गया। गोरे द्वारा अपने को श्रेष्ठ समझने की भावना का प्रतिकार हुआ और इससे अधिक रोष प्रकट किया गया ।

इस काल में ईश्वर से भी प्रार्थनायें भारत को स्वतंत्र करने, अधोगति मिटाने के लिए की गई, लेकिन संघर्ष एवं विद्रोह के इस काल में यह स्वर अत्यन्त विरल एवं क्षीण है । इस युग में अपनी शक्ति पर अधिक विश्वास किया गया । इसलिए अन्य देवी शक्ति के आश्रय की ओर कवियों का ध्यान बहुत कम गया । दूसरे, विज्ञान की प्रगति ने भी इस भावना को मिटाया और जनता अपनी शक्ति एवं संघर्ष के प्रति अधिक निष्ठावान दीख पड़ने लगी ।

जैसा कहा गया है कि १९१८ ई० के बाद देश में समाजवादी तत्वों का जागरण हुआ । इसने भी साम्य का उद्घोष किया और राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रीय चेतना को बल दिया । साम्राज्यवाद के प्रतिरोध की शक्ति जनवादी

तत्वों से भी देश को मिली। इसके मूल में आर्थिक शोषण का विरोध तथा आर्थिक साम्य का समर्थन ही विशेष दृष्टिगत होता है। इसलिए इसका विस्तार से विश्लेषण आर्थिक राष्ट्रीन चेतना के अंतर्गत किया जायगा। हां, संघर्ष एवं विद्रोह की भावना से दीप्त जनवादी चेतना ने भी प्रलय का आह्वान किया और एक नये जीवन के स्वप्न को हमारे सामने प्रस्तुत किया, जो रूस में साकार हो चुका था। इस भावना के फलस्वरूप स्वराज्य चेतना को बल मिला।

(३) आर्थिक शोषण

हिन्दी राष्ट्रीय कविता प्रारम्भ से ही आर्थिक शोषण का विरोध और देश की आर्थिक दशा को उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करने की मांग करती आ रही है। इस काल में राष्ट्रीय काव्य-चेतना के आर्थिक पक्ष को अधिक विस्तार मिला, क्योंकि इस युग मे आर्थिक स्वतंत्रता के लिए अर्थ-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन को आवश्यकता महसूस की गई। विदेशी अर्थ-परतंत्रता से मुक्ति के साथ पूंजीवाद के शोषण के विरोध में भी स्वर उठाया गया। इस काल के उत्तरार्ध की कविता में साम्य का सपना और शोषण के प्रति विरोध भाव व्यक्त होता है। इसका परिणाम यह हुआ कि वर्ग-संघर्ष का चित्रण इस युग के काव्य में विशेष रूप से हुआ।

आलोच्य काल की राष्ट्रीय काव्य-चेतना के दो रूप दीख पड़ते हैं, प्रथम विदेशी आर्थिक दासता से मुक्ति के लिए स्वदेशी आन्दोलन और दूसरा, पूंजीवाद से मुक्ति की कामना के साथ आर्थिक क्षेत्र में समानता स्थापित करने का संघर्ष। यह संघर्ष ही वर्ग-संघर्ष के रूप में प्रकट हुआ।

स्वदेशी आन्दोलन भारतेन्दु-युग की देन है। उस काल से ही अपने उद्योग-धंधों को विकसित करने की मांग तथा प्रार्थना की जाती रही है। द्विवेदी-युग में वह मांग विशेष मुखर दीख पड़ी और उसका व्यावहारिक रूप भी सामने आया। छायावाद युग में भी स्वदेशी अन्दोलन विदेशो सत्ता के विरोध का एक अंग रहा।

स्वदेशी आन्दोलन मुख्य रूप से आर्थिक दासता से मुक्ति का आन्दोलन है। इस आन्दोलन के फलस्वरूप देश के उद्योग-धंधों का विकास हुआ और पूंजीपति वर्ग की स्थापना होने लगी। पूंजीपति वर्ग का स्वार्थ राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ रहने के कारण उसका भी सहयोग राष्ट्रीयता के विकास की दिशा में प्राप्त हुआ। कभी-कभी तो ऐसा भासित होता था कि पूंजी ने राष्ट्रीय आन्दोलन को पूर्णतः जकड़ लिया है।

इतना सही है कि राष्ट्रीय कविता में स्वदेशी का स्वर अधिक तीव्र रूप से इस काल में गूंज उठा। स्वदेशी का रूप इस काल में चर्खा और खद्दर के प्रचार ने ले लिया। इसलिए चर्खा और खादी के गीत अधिक सुनाई पड़े।

स्वदेशी का पर्याय इस काल में खादी मानी जाने लगी। इसी दृष्टि से लोचनप्रसाद पाण्डेय ने प्रत्येक घर में 'खादी' की पावनता प्रसारित करने की आकांक्षा व्यक्त की है—

कृषक रहें ऋण मुक्त सब, हो शिक्षित सच्चरित्र,
पति गृह को पावन करे, 'खादी' वस्तु पवित्र।

रामचरित उपाध्याय उसे ही 'हितैषी' मानने को तैयार हैं जो प्रण करके स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करे—

जो भारत में बसे वस्तु भारत की बर्ते प्रण करके।

'बेड़ा पार' शीर्षक कविता में वे भारतेन्दु के स्वर में स्वर मिलाकर स्वदेशी को ग्रहण करने का आग्रह करते हैं, लेकिन व्यंग्य के माध्यम से। विदेशी वस्त्रों का उपयोग करने से देश की सम्पत्ति विदेश चली जायगी और तभी भारत का क्लेश दूर होगा। यह है उनका विदेशी वस्त्र के आग्रहियों पर व्यंग्य—

वस्तु विदेशी का व्यवहार,
करते रहिये बारम्बार।
कभी स्वदेशी वस्तु न छूना,
हा, बढ़ जायेगा दुख दूना।
सम्पति जावे चली विदेश
तब भारत को मिले न क्लेश।

स्वदेशी के गायकों ने अपने देश की वस्तुओं का उपयोग कर संपत्ति देश से बाहर न जाने देने का आग्रह ही व्यक्त किया है। इस युग में जैसा कहा गया है, स्वदेशी-प्रचार खादी की ओर प्रवृत्त हुआ। स्वदेशी का रूप खादी के महिमा गान के रूप में व्यक्त होता है। पवित्रता की निशानी, विवशता को दूर करनेवाली, हीनता एवं दुख को मिटानेवाली, समानता की प्रतिष्ठा करनेवाली, सर्वगुण-सम्पन्न खादी पट रूपी पाट की पटरानी है—

कोमल अमल अति मंजुल मनोहर है,
शुद्ध साधुता की सुचिता की या निसानी है।

दौलत प्रदानी देखि दारिद बिलानी जाहि
बसता विवसता को दूर बिलगानी है।
हीनता हैरानी दुख दीनता दुरानी सबै,
समता-स्वतंत्रता की तान मृदुतानी है।
सर्वगुन खानी कवि कैरव बखानी पट
पाट पटरानी यह खादी महरानी है।

खादी के महात्म्य का वर्णन बड़े विस्तार के साथ कैरव जो ने किया है। उसे उन्होंने पूर्ण स्वतंत्रता की दूतिका, स्वराज्य की सूतिका, 'दरिद्रता विनासिनी दवा,' भारत की बर्बादी मिटानेवाली, परतंत्रता को मारने वाली, भारत आजादी की परिचारिका कहा है। ऐसी खादी ने विदेशों में धूम मचा दी और उसकी विभीषिका सर्वत्र छा गई है-

पूरन स्वतंत्रता की दूतिका बनी है कैधों
सूतिका स्वराज्य कैधों सोभा राष्ट्रवादी की।
कैधों दरिद्रता विनासिनी दवा है कैधों
वासिनी है भारत की नेकी बरबादी की।
पाप परतंत्रता की मारिका अचूक कैधौं,
प्यारी परिचारिका है भारत आजादी की।
खादी जान देस में विदेस में मचा दी धूम
विषम विभीषिका है छाई आज खादी की।

खादी के उत्पादन का आधार—अस्त्र है चर्खा। इसलिए खादी के साथ चर्खा को भी भारत की स्वतंत्रता का मूल मंत्र माना और आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्ति का रास्ता बताया गया। लेकिन चर्खा के द्वारा स्वराज्य लेने की बात पर लोग हंसते रहे। कवि दीनदत्त ने आर्थिक स्वतंत्रता के लिए इसे अनिवार्य बताया—

यदि चाहते सुख आप हैं तो शीघ्र चर्खा लीजिये।
स्वाधीनता आर्थिक मिलेगी, दुख चर्खा कीजिये।

चर्खा न चलने से देश की सम्पत्ति प्रतिवर्ष विदेशी वस्त्रों की खरीद के कारण विदेश चली जाती है। इसलिए चर्खा के द्वारा स्वदेशी उद्योग को प्रारंभ कर दरिद्रता मिटाने की चर्चा भी कवि ने की है—

चली जात परदेस अमित सम्पत्ति प्रति वर्ष।
दीन दीनता दूर करै चलि घर घर चर्खा।

रूपनारायण पांडेय ने चर्खा को चक्र-सुदर्शन बताकर अत्याचार निवारण करनेवाले कृष्ण के साथ संयुक्त किया और जनता के सुख-स्वराज्य का साधन बताया—

यह चर्खा चक्र-सुदर्शन है,
मनोहर जिसका दर्श है।
किया विश्वकर्मा गांधी ने इसका पुनः प्रचार,
दिया जनार्दन जनता के वर करने को उद्धार।
यहो सुख स्वराज्य साधन है,
यह चर्खा चक्र-सुदर्शन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वदेशी प्रचार का माध्यम खादी को बनाया गया और उसका अस्त्र बना चर्खा। चर्खा स्वदेशी ग्रामोद्योग का पर्याय हुआ। इसके माध्यम से आर्थिक स्वतंत्रता को प्राप्त करने का महामंत्र युग पुरुष गांधी ने हमें दिया। इस तरह विदेशी अर्थ-तंत्र की मुक्ति की कामना इस युग में खादी और चर्खा के प्रचार के द्वारा व्यक्त की गई और आर्थिक परतंत्रता दूर करने का यह अस्त्र चल पड़ा।

आर्थिक परतंत्रता के अन्तर्गत विविध रूपों में भारत की जनता का शोषण हुआ। इससे जनता भूखी और नंगी होकर तड़प उठी और उसकी आह कवियों की रचनाओं में वर्ग-चेतना बन फूट पड़ी। ऐसे भूखे-नंगों की पुकार पर स्वतंत्रता के जन्म का रहस्योद्‌घाटन विदग्ध ने किया है—

भूखे भिखमंगों- नंगों के तड़प रहे इजहारों पर
स्वतंत्रता का जन्म हुआ डंके की चोट नगारो पर।

त्रिशूल जी वर्ग-चेतना से पूर्ण अवगत हो चुके हैं। वे समाज मे दो वर्गों को देखते हैं। समाज की आर्थिक विषमता के अंतर्गत वे देखते हैं कि कुछ नंगे-भूखे रहकर मात्र हड्डी बच रहे हैं, कुछ लोग इतना खा जाते हैं कि उन्हें अजीर्ण हो जाता है। इस स्थिति का करुणामय वर्णन वे प्रस्तुत करते हैं—

कुछ भूखों मर रहे महातनु शीर्ण हुआ है।
कुछ इतना खा गये कि घोर अजीर्ण हुआ है।

दौलत प्रदानी देखि दारिद बिलानी जाहि
बसता विवसता को दूर बिलगानी है।
हीनता हैरानी दुख दीनता दुरानी सबै,
समता-स्वतंत्रता की तान मृदुतानी है।
सर्वगुन खानी कवि कैरव बखानी पट
पाट पटरानी यह खादी महरानी है।

खादी के महात्म्य का वर्णन बड़े विस्तार के साथ कैरव जो ने किया है। उसे उन्होंने पूर्ण स्वतंत्रता की दूतिका, स्वराज्य की सूतिका, 'दरिद्रता विनासिनी दवा,' भारत की बर्बादी मिटानेवाली, परतंत्रता को मारने वाली, भारत आजादी की परिचारिका कहा है। ऐसी खादी ने विदेशों में धूम मचा दी और उसकी विभीषिका सर्वत्र छा गई है—

पूरन स्वतंत्रता की दूतिका बनी है कैधों
सूतिका स्वराज्य कैधों सोभा राष्ट्रवादी की।
कैधों दरिद्रता विनासिनी दवा है कैधों
वासिनी है भारत की नेकी बरबादी की।
पाप परतंत्रता की मारिका अचूक कैधौ,
प्यारी परिचारिका है भारत आजादी की।
खादी जान देस में विदेस में मचा दी धूम
विषम विभीषिका है छाई आज खादी की।

खादी के उत्पादन का आधार—अस्त्र है चर्खा। इसलिए खादी के साथ चर्खा को भी भारत की स्वतंत्रता का मूल मंत्र माना और आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्ति का रास्ता बताया गया। लेकिन चर्खा के द्वारा स्वराज्य लेने की बात पर लोग हँसते रहे। कवि दीनदत्त ने आर्थिक स्वतंत्रता के लिए इसे अनिवार्य बताया—

यदि चाहते सुख आप हैं तो शीघ्र चर्खा लीजिये।
स्वाधीनता आर्थिक मिलेगी, दुख चर्खा कीजिये।

चर्खा न चलने से देश की सम्पत्ति प्रतिवर्ष विदेशी वस्त्रों की खरीद के कारण विदेश चली जाती है। इसलिए चर्खा के द्वारा स्वदेशी उद्योग को प्रारंभ कर दरिद्रता मिटाने की चर्चा भी कवि ने की है—

चली जात परदेस अमित सम्पत्ति प्रति वर्ष।
दीन दीनता दूर करै चलि घर घर चर्खा।

रूपनारायण पांडेय ने चर्खा को चक्र-सुदर्शन बताकर अत्याचार निवारण करनेवाले कृष्ण के साथ संयुक्त किया और जनता के सुख-स्वराज्य का साधन बताया—

यह चर्खा चक्र-सुदर्शन है,
मनोहर जिसका दर्श है।
किया विश्वकर्मा गांधी ने इसका पुनः प्रचार,
दिया जनार्दन जनता के वर करने को उद्धार।
यही सुख स्वराज्य साधन है,
यह चर्खा चक्र-सुदर्शन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वदेशी प्रचार का माध्यम खादी को बनाया गया और उसका अस्त्र बना चर्खा। चर्खा स्वदेशी ग्रामोद्योग का पर्याय हुआ। इसके माध्यम से आर्थिक स्वतंत्रता को प्राप्त करने का महामंत्र युग पुरुष गांधी ने हमें दिया। इस तरह विदेशी अर्थ-तंत्र की मुक्ति की कामना इस युग में खादी और चर्खा के प्रचार के द्वारा व्यक्त की गई और आर्थिक परतंत्रता दूर करने का यह अस्त्र चल पड़ा।

आर्थिक परतंत्रता के अन्तर्गत विविध रूपों में भारत की जनता का शोषण हुआ। इससे जनता भूखी और नंगी होकर तड़प उठी और उसकी आह कवियों की रचनाओं में वर्ग-चेतना बन फूट पड़ी। ऐसे भूखे-नंगों की पुकार पर स्वतंत्रता के जन्म का रहस्योद्घाटन विदग्ध ने किया है—

भूखे भिखमंगों- नंगों के तड़प रहे इजहारों पर
स्वतंत्रता का जन्म हुआ डंके की चोट नगारे पर।

त्रिशूल जी वर्ग-चेतना से पूर्ण अवगत हो चुके हैं। वे समाज में दो वर्गों को देखते हैं। समाज की आर्थिक विषमता के अंतर्गत वे देखते हैं कि कुछ नंगे-भूखे रहकर मात्र हड्डी बच रहे हैं, कुछ लोग इतना खा जाते हैं कि उन्हें अजीर्ण हो जाता है। इस स्थिति का करुणामय वर्णन वे प्रस्तुत करते हैं—

कुछ भूखों मर रहे महातनु शीर्ण हुआ है।
कुछ इतना खा गये कि घोर अजीर्ण हुआ है।

ऐसा यह वैषम्य भाव अवतीर्ण हुआ है।
जीर्ण हुआ मस्तिष्क, हृदय संकीर्ण हुआ है।
कुछ मधु पीकर मत्त हो, आंसू पीकर कुछ रहें।
कुछ लूट संसार-सुख, मरते जीकर कुछ रहें।

इसलिए वे समानता चाहते है। इस समानता के द्वारा वे ऊँच-नीच की भावना को मिटा देने के आग्रही है। समतल जल की तरह वे सबको एक रूप देखना चाहते हैं—

समता सरि की बाढ में, ऊँच नीच बह जायगा।
समतल जल ही की तरह एक रूप रह जायगा।

शोषक पूंजीवाद के भयानक रूप की चर्चा नाथूराम शंकर शर्मा ने की है। वे पूंजीपतियों पर व्यंग्य करते है और उनके शोषण का पर्दाफाश करते हैं—

न कंकाल का पिन्ड छोड़ा करो
लहू लीचड़ों का निचोड़ा करो।
कहो दाल यो छातियो पर दली
न विज्ञान फूला न विद्या फली।

शोषित-पीड़ित मानव का नग्न चित्र प्रस्तुत करते हुए नरेन्द्र शर्मा ने उस शोषण-दग्ध अस्थि-पंजर-शेष दिखलाया है। ऐसे दीन कंकाल दर-दर घूमते हैं—

कृश कंकाल
नसों के नीले जाल,
अस्थि-पंजर निष्प्राण,
शून्य श्वासों के भार,
यही हैं वे नादान
भटकते भूले बाल,
दीन कंगाल,
नग्न कंकाल॥

भगवती चरण वर्मा ने 'भैंसागाड़ी' शीर्षक कविता में शोषण की मार्मिक कहानी प्रस्तुत की है। गांव के मिट्टी के घरों को कवि धरती की छाती पर उठे हुए फोड़े कहता है और गांव को खण्डहर। इस चित्र में शोषण कितना मुखर

हो उठा है। ऐसे ग्राम में मानव पशु बनकर पिस रहे हैं और नारियाँ गुलाम पैदा करती हैं। पैदा होकर मरजाना ही उनका एक मात्र काम है। इस करुणा उत्पन्न करने वाली व्यवस्था का मार्मिक चित्र देखें--

पशु बनकर नर पिस रहे जहां
नारियाँ जन रही हैं गुलाम,
पैदा होना, फिर मर जाना,
बस यह लोगों का एक काम।

कवि नगर के साहूकारों को गिरहकट और चोर कहता है। वहीं भैंसागाड़ी पर लदा मानव बढ़ता जाता है।

दिनकर ने विषमता का और तीव्र एवं करुण चित्र प्रस्तुत किया है। वह देखता है कि कुत्तों को दूध-वस्त्र मिलते है, लेकिन मानव-पुत्र भूख से व्याकुल होते हैं। वे वस्त्रहीन माँ की हड्डी में चिपक कर, ठिठुर कर जाड़े की रात बिता देते है। ब्याज चुकाने के लिए युवतियों की लज्जा बेच दी जाती है, लेकिन पूंजी-पति तेल और फुलेल पर धनपानी की तरह बहाता है। तब कवि का रक्त खौल उठता है और पापी का दर्प उसे क्रांति का आमंत्रण देता है,

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते है।
मा की हड्डी मे चिपक,ठिठुर जाड़े की रात बिताते है,
युवती के लज्जा-वसन बच जब ब्याज चुकाये जाते है,
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते है,
पापी महलो को अहंकार देता तब मुझको आमंत्रण।

'हुँकार' की 'हाहाकार' शीर्षक कविता मे दैन्य एवं शोषण जनित विरूपता का और भी करुण चित्रण कवि द्वारा प्रस्तुत किया गया है। ये स्थितियाँ उसे लाचार करती है कि वह वैषम्य के अंत के लिए संघर्ष करे और उस संघर्ष की हुंकार फूट पड़ती है--

हटो व्योम के मेघ, पंथ से,
स्वर्ग लूटने हम आते हैं
दूध, दूध..." ओ वत्स। तुम्हारा
दूध खोजने हम जाते है।

संघर्ष का यह स्वर क्रांति का स्वर है, जो अनीति के संकेतों पर चलती है, फूटती है। कवि मात्र दीनता का गायक ही नहीं है, दीनता-नाशक संघर्ष के

लिए भी हुँकार कर उठता है। दिनकर में लोक मंगल से अनुप्राणित होकर मानव के दैन्य मिटाने का आग्रह विशेष दीख पड़ता है

निराला में मानवीय चेतना रही है और प्रारम्भ से ही उन्होंने उसकी दीनता से उत्पन्न करुणा का अंकन किया है। भिखारी शीर्षक कविता में दैन्य का जीता जागता रूप देखिये--

पेट पीठ दोनों मिलकर है एक
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को,
भूख मिटाने को
मुँह फटी-पुरानी झोली का फैलाता

इसी प्रकार 'अनामिका' में भी कई कविताएँ दीनता की कहानी प्रस्तुत करती हैं। 'दान' शीर्षक कविता में पूंजीपति द्वारा गरीबों को दुतकार कर बन्दर को पुए खिलाने का चित्र प्रस्तुत है। इस तरह पूंजीवाद की दान-भावना पर करारा व्यंग्य कवि करता है--

झोली से पुए निकाल लिए
बढ़ते कपियों के हाथ दिए,
देखा भी नहीं उधर फिर कर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर

पंत ने भी मानव की महत्ता को स्वीकार किया और वर्ग-विद्वेष को वाणी देकर मानव-मंगल की दिशा में अपना स्वर-योग दिया है।

इस प्रकार आलोच्यकाल की राष्ट्रीय कविता ने एक ओर स्वदेशी को प्रचारित किया तो दूसरी ओर वर्ग-वैषम्य को तीव्रतर किया। वर्ग संघर्ष को तीव्रतर करने वाली भावना भी मूलतः राष्ट्रीयता का ही रूप है, क्योंकि इसमें भी मानव मंगल की कामना है। वैसे राष्ट्रीय चेतना की प्रकट रूपरेखा इसके माध्यम से प्रकट नहीं है, लेकिन वह संघर्ष भी राष्ट्र के आर्थिक उन्नयन के लिए ही उद्भूत है, इसलिए यह भी राष्ट्रीय काव्यधारा की एक शाखा के रूप में यहाँ ग्राह्य हुआ है।

राष्ट्रीय काव्य के अन्तर्गत आर्थिक उन्नयन की माँग भारतेन्दु युग से ही होती आई है। उसमें विदेशी शोषण का विरोध हुआ है। छायावाद का आर्थिक पक्ष अंगरेजी शोषण की प्रतिक्रिया तो है ही, पूंजीवादी शोषण का भी विरोध उसमें

राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रीय काव्य समझौता एवम् सुधार की द्विवेदी युगीन प्रवृत्ति का त्याग कर गांधी के पूर्ण स्वराज्य की ओर गतिशील हुआ। उनमें पूर्ण स्वराज्य लेने का अदम्य उत्साह जागा; अत्याचार के विरोध की भावना उदित हुई, लेकिन गांधी जी के सत्य ओर अहिंसा के सिद्धान्त ने उसे संयम दिया। इसलिए विद्रोह के संयमित रूप में प्रकट हुआ। इस काल की कविता का मुख्य स्वर त्याग एवं बलिदान है।

शासन की अनीति के विरोध कीं तीव्र भावना क्रांति की ओर भी गतिशील हुई और छायाबाद के उत्तरार्ध में हिन्दी कविता बलिदान के क्षेत्र में आगे बढी और क्रांति का आह्वान करने लगी। इस क्रांति का उद्देश्य परिवतन था, बर्तमान का नाश था, अधोगति से मुक्ति था। यह उद्देश्य हीन क्रांति नही थी, हाँ भविष्य का स्वरूप इसमें अवश्य था।

वर्ग-संघर्ष की भावना आर्थिक वैषम्य के फलस्वरूप उत्पन्न हुई। इस भावना ने पूंजी का विरोध किया, उसके शोषण के प्रति क्षोभ प्रकट किया और साम्यवाद की स्थापना का संकेत किया। इस काव्य-धारा ने क्रान्ति की ओर भी कदम बढ़ाये, क्योंकि वर्तमान आर्थिक व्यवस्था को मिटाने का आग्रह उसमें दीख पड़ता है।

गांधी जी द्वारा संचालित-परिचालित आन्दोलनो की निराशा ने राष्ट्रीयता का स्वर कभी मंद नहीं होने दिया, बल्कि निराशा के कारण क्रांति की तीव्रता हिन्दी कविता में आई। इससे राष्ट्रीय काव्य-धारा मे अधिक तेज और अधिक शक्ति का समावेश हुआ।

आर्थिक शोषण ने खादी का रूप लिया, चर्खा को अस्त्र रूप में अपनाया और विदेशी आर्थिक दासता के विरुद्ध लड़ाई की ध्वनि हिन्दी कविता मे गूंज उठी।

पूंजीवाद का विरोध हुआ और मजदूरों के उन्नत जीवन की कल्पना की जाने लगी।

सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों ने राष्ट्र की जड़ता को मिटाकर नई चेतना का संचार किया और देश का कोना कोना राष्ट्रीयता के स्वर से ध्वनित हो उठा। नई शिक्षा तथा राष्ट्रीयता के लिए होने वाले आन्दोलनों ने जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया तथा इसे सामूहिक बनाया।

दंगे एवं साम्प्रदायिकता का दौर इस काल में विशेष रहा, लेकिन इसके बावजूद राष्ट्रीयता गतिशील एवं तीव्र होती रही।

———

सप्तम अध्याय

प्रगतिवाद-युग (१९३७ से १९४७ के मध्य तक)

काल-सीमा का निर्धारण-युक्तियाँ-नामकरण

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रगतिवादयुग की काल-सीमा १९३६ ई० से १९५२ ई० तक मानते हैं। डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा ने प्रगतिवाद-युग का प्रारम्भ प्रगतिशील लेखक संघ के लखनऊ अधिवेशन के उपरान्त से माना है। इस संघ की स्थापना १९३६ ई० में हुई थी। राष्ट्रीय चेतना के विकासक्रम की दृष्टि से प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रगतिवाद का प्रारम्भ काल १९३७ ई० को स्वीकार किया है। १९४७ ई० के १५ अगस्त को भारत ने चिरकांक्षित स्वतन्त्रता प्राप्त की। उस दिन भारतीय जनता को भारत का शासन-सूत्र हस्तान्तरित किया गया। इस तरह इस काल-बिन्दु पर हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता का नया रूप उद्‌भूत हुआ। इसलिए प्रगतिवाद का विस्तार राष्ट्रीय काव्य के परिवर्तन की दृष्टि से १९४७ ई० के १५ अगस्त तक मान लिया गया है।

हिन्दी काव्य मे प्रगतिशील तत्वो का समावेश १९३० ई० के आस-पास हुआ। १९२७ ई० में भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई थी। इस काल के उपरान्त भारतीय जीवन में समाजवादी दृष्टिकोण एक निश्चित अर्थवत्ता लेकर प्रकट हुआ। फलस्वरूप औद्योगिक हलचलें प्रारम्भ हुईं।

कांग्रेस में भी समाजवादी दृष्टिकोण के समावेश से १९३४ ई० में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुई और राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन की विषमता को नयी पृष्ठभूमि पर देखा जाने लगा।

भारत के राष्ट्रीय जीवन मे यथार्थवाद और समाजवाद का प्रादुर्भाव होने से राष्ट्रीयता मे उग्र क्रांतिवादिता आयी। इस काल मे 'राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए भारतीय जनता का संघर्ष अधिक सैनिकवादी हुआ, नयी ऊँचाइयों की ओर उठा और नये रूप में सामने आया।' वह सरकार से सहयोग न कर सकी। इसी कारण गोलमेज परिषद् की बैठकों में कांग्रेस का सहयोग सरकार को

नहीं प्राप्त हो सका। इस तरह १६३६ तक कांग्रेस की नीति असहयोग की रही।

१६३५ ई० में नये संविधान के लागू किये जाने की घोषणा हुई। इस संविधान में भारतीय जनता को बहुत अधिक अधिकार तो नहीं दिये गये थे, लेकिन प्रान्तों को अपने शासन की स्वतन्त्रता मिली। यह राष्ट्रीय संघर्ष की एक महत्वपूर्ण घटना है।

१६३६ ई० में कांग्रेस ने नये संविधान के अनुसार चुनावों में भाग लिया और कई प्रान्तों में उसका बहुमत रहा। इस प्रकार निर्वाचित कांग्रेस के सदस्यों ने १६३७ ई० में मन्त्रिपद ग्रहण किया और सरकार से सहयोग के लिए कदम बढ़ाया। इसलिए १६.७ ई० राष्ट्रीयता के इतिहास में नये मोड़ का सूचक है। इस काल से सरकार के साथ सहयोग का अध्याय भारतीय राष्ट्रीयता ने प्रारम्भ किया। यही कारण है कि राष्ट्रीय विकास क्रम की दृष्टि से १६३७ ई० से प्रगतिवाद का प्रारम्भ माना गया है, यद्यपि प्रगतिशील लेखक संघ की पहली बैठक १६३६ ई० में हुई थी और उस काल से ही उसका प्रारम्भ बहुधा स्वीकार किया जाता है।

१६४७ ई० को १५ अगस्त को सत्ता हस्तान्तरण हुआ। इसलिए इस काल के बाद राष्ट्रीय चेतना नयी प्रवृत्तियों से संयुक्त हुई। अब राष्ट्रीयता विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष करने से अलग होकर राष्ट्रीय उत्थान की दिशा में गतिशील हुई। इसके पूर्व वह विदेशी दासता से संघर्ष करती रही थी। इस कारण १६४७ ई० के मध्य तक प्रगतिवाद का विस्तार स्वीकार किया गया है।

प्रगतिवाद का भारतीय भूमि पर अवतारण ढाका की 'प्रगति' नामक पत्रिका के १६९७ ई० में प्रकाशन से हुआ। लेकिन हिन्दी में प्रगतिवाद की खुले आम चर्चा १६३६ ई० के सम्मेलन में हुई जिसके सभापति प्रेमचन्द जी थे। हिन्दी काव्य ने पंत की 'युगान्त' की घोषणा से प्रगतिवाद के प्रतिफलन को व्यक्त किया। इस तरह राष्ट्रीय काव्य ने प्रगतिवाद की उग्र क्रान्ति भावना को अनेक रूपों में ग्रहण किया।

इस काल में राष्ट्रीयता ने बहुमुखी उन्नति की। इसके मार्ग में अवरोध भी हुआ, लेकिन जन-सहयोग से वह नित्य विकसित तथा उग्र होती गई। इसलिए इस काल का नामकरण प्रगतिवाद राष्ट्रीय भावना के विकास की दृष्टि से सार्थक है। हिन्दी काव्य में इस काल का स्वीकृत नाम भी यही है।

(क) परिस्थिति

राजनीतिक—आलोच्यकाल की राजनीतिक परिस्थितयों का प्रारम्भ कांग्रेस के सरकारी सहयोग से होता है। १९३५ ई० के भारतीय विधान के अनुसार सभी प्रान्तों में निर्वाचन हुआ। कांग्रेस को मद्रास, यू० पी०, सी० पी०, बिहार और उड़ीसा में प्रबल बहुमत प्राप्त हुआ। बम्बई, बंगाल, आसाम और उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त में वह बहुमत प्राप्त दल के रूप में थी। पंजाब तथा सिन्ध में वह कुछ ही स्थानों के कारण बहुमत न पा सकी और इस प्रकार अनुल्लेख्य अल्पमत में थी। इस चुनाव के सिलसिले में जनता के प्रिय नेताओं ने तीव्र राष्ट्रीय भावना से भरे ओजस्वी भाषण देशभर में दिये। कांग्रेस तथा राष्ट्रीय चेतना पुनः तीव्र एवं सक्रिय हो उठी। उसमें विश्वास एवं आशा प्रकट हुई। लेकिन इस विश्वास में बलिदान एवं उत्सर्ग के स्थान पर विधान का आग्रह था। प्रतिक्रियावादी तत्वों को इस राष्ट्रीय चेतना की प्राणवत्ता से बड़ा आघात पहुँचा। उनकी गति अवरुद्ध हो गई। जो लोग भारत की राष्ट्रीय चेतना को समाप्त-प्राय चेतना मानने लगे थे, उनकी स्थापनाएं व्यर्थ सिद्ध हुईं। इस राष्ट्रीय चेतना की उग्रता एवं जागरूकता के वातावरण में कांग्रेस ने मन्त्रिमण्डल में प्रवेश किया।

तत्कालीन वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने जून, १९३७ ई० में एक वक्तव्य प्रकाशित कर कांग्रेस को सरकार का पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन दिया। उनका रुख समझौतावादी था। जुलाई, १९३७ ई० में कांग्रेस ने ६ प्रान्तों में अपनी स्वतन्त्र सरकार बनाई और दो प्रान्तों में संयुक्त सरकार की स्थापना की। इस प्रकार जो लोग पहले सरकार के घोर विरोधी थे, १९३७ ई० में 'हिज मजेस्टी' के शासन के सूत्रधार बने, किन्तु आगे हम देखेंगे कि द्वैध शासन के फलस्वरूप कांग्रेस के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ आयीं जिनके कारण वह कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकी।

१९३८ ई० में कांग्रेस में विभेद का जन्म हुआ। इस विरोध का कारण था कांग्रेस का सुधारवादी और समझौतावादी दृष्टिकोण तथा कार्य। बहुतेरे ऐसे कांग्रेसी थे जो मन्त्रिमण्डल बनाने के पक्ष में नहीं थे। इस विरोध के बावजूद सुधारवादियों ने सरकार को सहयोग दिया। इससे क्षोभ की आग और तीव्र हो उठी और उसका प्रकटीकरण १९३८ ई० में हुआ।

सुधारवादी नेता गांधी-सम्प्रदाय पर विश्वास करते थे, पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद को मिटाने की दिशा में राष्ट्रीय जीवन शक्ति का उपयोग नहीं

करना चाहते थे। इस विचारधारा के प्रबल समर्थक राजा जी तथा सरदार पटेल थे। वे सहिष्णुता एवं धैर्य के सिद्धान्त को मानने वाले थे और सरकार की हर तरह से सहायता करने को प्रस्तुत थे। वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध से नाजीवाद के कदमों को मजबूत करना नहीं चाहते थे, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वे ब्रिटिश सरकार को जनतंत्र का पक्षधर तथा समर्थक मानते थे। इसलिए उसकी सहायता के लिए वे उसके साथ आदरपूर्ण ढंग से समझौता करने को तैयार थे।

बामपंथी दल के प्रबल पक्षधर सुभाषचन्द्र बोस थे। वे उदारवादियों की, सुधार एवं समझौता नीति के कारण, भर्त्सना करते थे। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के विश्लेषण से उन्होंने यह जान लिया कि महायुद्ध अनिवार्य था। उसमे इंगलैण्ड पर बहुत बड़ी-बड़ी विपत्तियां आने की संभावना थी। नाजीवाद की बढ़ती हुई ताकत जब साम्राज्यवादी ब्रिटेन पर आक्रमण करे उसी समय उसे एक धक्का देकर वे समाप्त कर देना चाहते थे। वादों की चिन्ता उन्हें नहीं थी। वे विदेशी शासन भारत से दूर करना चाहते थे और इसके लिए हिंसात्मक कार्यों को भी अपनाने को तैयार थे। शोषण की विभीषिका उभाड़ कर मजदूर-किसान का असंतोष देश भर में फैले, यह उनका उद्देश्य था। साम्यवादियों और समाजवादियों ने भी गांधीवाद के विरोध में उनका साथ दिया। प्रमुख साम्यवादी कार्यकर्त्ता जी० अधिकारी ने लिखा कि कांग्रेस का रास्ता भीरूतापूर्ण तथा समझौतावादी पूंजीपतियों का था।

उदारवादी कांग्रेसी ब्रिटेन के विनाश से स्वतन्त्रता पाना नहीं चाहते थे और न स्वराज्य के लिए वे सरकार की अंतिमेत्थम् देने के पक्ष में थे। इस विरोधी परिस्थिति ने १९३९ ई० में त्रिपुरी अधिवेशन के सभापति के चुनाव को बहुत उलझनपूर्ण और सनसनी खेज बना दिया। श्री बोस ने कांग्रेस अध्यक्ष पक्ष के लिए पुनः खड़ा होने की इच्छा प्रकट की। बामपंथियों ने उनसे इसके लिए आग्रह किया। उदारवादी यह नहीं चाहते थे। वे कांग्रेस की समझौता-वादी नीति में किसी बामपंथी अध्येक्ष को रखकर अडंगा आने देना नहीं चाहते थे, लेकिन प्रगतिशील बामपंथी इस नीति के अन्त के लिए सुभाष बाबू को ही अध्यक्ष बनाने के पक्ष में थे। उदारवादियों ने डा० पट्टाभि सीतारमैया को उनके विरोध मे खड़ा किया और खुलकर उनके पक्ष में प्रचार किया।

विरोध की विषम परिस्थितियों के बीच अध्यक्ष का निर्वाचन हुआ। सुभाष-चन्द्र बोस २०३ के बहुमत से अध्यक्ष चुन लिए गए। गांधी जी ने श्री बोस के चुने जाने से प्रसन्नता प्रकट की, पर पट्टाभि को हार को अपनी हार कहा।

गांधीवादी उदार पंथियों का त्रिपुरी अधिवेशन में बोलबाला रहा और उन्होंने वामपंथियों के मनोनुकूल नहीं होने दिया। सुभाष बाबू अपनी बीमारी के कारण कुछ कर न पाये। गांधीवादियों को जनता तथा धनी वर्ग का समर्थन प्राप्त था। इसलिए त्रिपुरी कांग्रेस में उनका प्रभुत्व और बढ़ गया और १९०७ ई० से चलने वाला वामंपथी तथा उदारवादी विचारों का संघर्ष समाप्त-प्राय हो गया। सुभाष बाबू इससे बहुत असंतुष्ट हुए और उन्होंने कांग्रेस से अलग फारवार्ड ब्लाक की स्थापना की।

सितम्बर, १९३९ ई० में द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ। भारत के गवर्नर जनरल ने केन्द्रीय धारा सभा की सम्मति लिये बिना ही भारत को इस युद्ध में घसीट लिया। इस अनुत्तरदायी कार्य का गाँधी जी ने विरोध नहीं किया। काँग्रेस कार्यसमिति ने सरकार से युद्ध नीति की घोषणा की माँग की। उसने युद्ध में भारत का सम्मिलित होना इस शर्त पर स्वीकार किया, यदि उसके बाद उसे स्वतंत्र जनतांत्रिक राज्य घोषित किया जाय। सरकार की ओर से इस तरह का कोई आश्वासन नहीं मिला। कांग्रेस कार्यसमिति के आदेश पर कांग्रेस मंत्रि-मण्डल ने नवम्बर, १९३९ ई० में इस्तीफा दे दिया और सभी प्रान्तों में गवर्नरों का शासन प्रारम्भ हो गया।

१९३५ ई० में कांग्रेस ने साम्राज्यवाद से समझौता कर मंत्रिमण्डल में जाना निश्चित किया था, लेकिन यह कदम बहुत स्वस्थ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसने साम्प्रदायिक धरातल पर शासन हस्तगत करने की होड़ को जन्म दिया। इससे मुस्लिम सम्प्रदायवादियों को यह कहने का सुनहला मौका मिला कि कांग्रेस हिन्दू राज्य स्थापित करना चाहती है और उन्होंने इसका खूब प्रचार भी किया। इस तरह हिन्दू-मुसलिम विरोध बढ़ता गया और एकता के क्षेत्र में अनेक विषमताएँ उत्पन्न हुईं। कांग्रेस राज्य समाप्त होने पर मुस्लिम लीग ने २२ दिसम्बर, १९३९ को मुक्ति दिवस मनाया।

हिन्दू-मुसलमान के बिगड़ते हुए सम्बन्ध को साम्राज्यवाद ने भारत की स्वतन्त्रता अस्वीकार करने का आधार बनाया। लार्ड लिनलिथगो ने कहा कि अल्पमतवालों, देशी राजाओं और पूँजीपतियों की सुरक्षा के प्रश्न से सरकार एक निश्चित नीति की घोषणा नहीं कर पा रही है। जनवरी, १९४० में उन्होंने गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति का विस्तार कर कुछ राजनीतिक नेताओं को लेने की घोषणा की। कांग्रेस के सुझाव एवं मांग को इस दिशा में वे नहीं स्वीकार कर सके। सदैव की तरह इस बार भी कांग्रेस के लिए असहयोग के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं रह गया।

अप्रैल, १९४० में रामगढ़ में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ, जिसमें पूर्ण स्वराज्य के बदले और कोई वस्तु न लेने की घोषणा की गई। इसमें भ रत के लिए विधान निर्मात्री सभा की माँग हुई, जो भारत का विधान स्वतन्त्रता, जनतन्त्र और राष्ट्रीय एकता के आधार पर बनाये। सम्पूर्ण राष्ट्र को स्वतन्त्रता के लिए सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग लेने का अनुरोध भी जनता से किया गया। नवम्बर, १९४० ई० में युद्ध-विरोध के लिए आन्दोलन शुरू हुआ। अनेक सत्याग्रही जेल भेजे गये, यह एक निष्क्रिय संघर्ष था। इसलिए यह अंगरेजी सरकार को सज्जनता को हिला न सका और १९४१ ई० तक समाप्त हो गया।

राष्ट्रवादी नेताओं के अतिरिक्त कम्युनिस्ट पार्टी ने भी युद्ध के प्रारम्भिक दौर में साम्राज्यवाद विरोधी जन-संघर्ष प्रारम्भ किया था। इस काल तक युद्ध में जनतांत्रिक और तानाशाही साम्राज्यवादी शक्तियाँ ही लड़ रही थीं। तब तक रूस युद्धग्रस्त नहीं हुआ था। किन्तु जब नाजी जर्मनी ने रूस पर चढ़ाई की, ब्रिटेन आदि जनतांत्रिक साम्राज्यवादियों ने रूस के साथ युद्ध-समझौता कर लिया। इसके बाद भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का रूख बदल गया। उसने रूस के सम्मिलित होते ही युद्ध को जन-युद्ध की संज्ञा प्रदान की और ब्रिटिश शासन के विरुद्ध स्वतन्त्रता के लिए किये संघर्ष का विरोध करना शुरू किया। 'राष्ट्रीय जन-संघर्ष से दूर रहकर तथा उसका विरोध कर कम्युनिस्ट पार्टी ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संघर्ष को धोखा दिया।'

कम्युनिस्ट पार्टी ने राष्ट्रीयता को वर्ग-चेतना के माध्यम रूप में स्वीकार किया। उसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मजदूर राज्य स्थापित करना था। इसलि उसका दृष्टिकोण राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय था। उसका प्रकाश-स्तम्भ मास्को में था। इसलिए मास्को की ओर उसकी दृष्टि सदा रहीं। उसके निर्देश पर उसने अपनी नीतियों का निर्धारण किया। रूस उसका सहायक तथा आदर्श था। इसीलि रूस के युद्ध में सम्मिलित होते ही विश्वयुद्ध जनता का युद्ध हो गया। 'जन-युद्ध की ज्वरोन्मत्तता में उसने सुभाष बोस को 'भारतीय स्वतंत्रता का गद्दार', 'जापानी साम्राज्यवादी का पिट्ठू' और 'जापानी तानाशाही के पीछे दौड़ने वाला कुत्ता' कहकर संबोधित किया था; जबकि भारत का हर स्वतंत्रता कामी उन्हें श्रद्धा एवं प्रेम देता है, राष्ट्र की स्वतंत्रता का आधार मानकर उनकी पूजा करता है। १९४२ ई० की अगस्त क्रान्ति का विरोध भी कम्युनिस्ट पार्टी ने इसी आधार पर किया।

इस तरह कम्युनिस्ट पार्टी मे भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष को इस काल में

गतिशील नहीं होने दिया। वह उसमें बाधा ही डालती रही। इस दृष्टि से कम्युनिस्ट पार्टी अराष्ट्रीय कही जा सकती है।

इसी बीच जर्मनी ने सोवियत रूस के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की। धुरी राष्ट्रों के आक्रमण के शिकार रूस और चीन के प्रति भारत की जनता के हृदय में सद्भावनाएं जाग्रत हुई और सहानुभूति सम्बन्धी अनेक प्रदर्शन १९४१ ई० में हुए। जापान भी इसी समय युद्ध में कूद पड़ा। जापान की प्रारंभिक विजयों से साम्राज्यवादी बौखला उठे। भारतीय जनता भी भयाक्रान्त हो गयी, क्योंकि अब खतरा भारत के द्वार पर ही आ गया था।

भारत के राष्ट्रवादी नेताओं की विचारधारा पर इस घटना का प्रभाव पड़ा और उनकी नीति में परिवर्तन हुआ। जवाहरलाल नेहरू और राजा जी देश में उत्तरदायी राष्ट्रीय सरकार बनने की शर्त पर अब सरकार से सहयोग करने के पक्ष में थे। कांग्रेस कार्यसमिति भी इसी पक्ष में थी।

१९४२ ई० के प्रारम्भ में श्री और श्रीमती मार्शल च्यांगकाई शेक भारत में पधारे और एक साथ ही ब्रिटेन तथा भारत से शत्रुओं का विरोध करने की दर्दभरी अपील की। जापान की भयानक विजय से साम्राज्यवादी शक्ति भयभीत हो उठी। मित्र राष्ट्रों की स्थिति खतरे से पूर्ण थी। इस दशा में सबसे बड़ा सवाल था एक होकर लड़ने का, शत्रु का मुकाबला करने का और इसलिए सहयोग की दिशा में चर्चिल की सरकार के कदम बढ़े।

११ मार्च, १९४२ को स्टेफर्ड क्रिप्स के राजनीतिक मिशन पर भारत जाने की घोषणा हुई। हाउस आफ कामन्स में दिये वक्तव्य में चर्चिल ने युद्ध के बाद भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने का वचन दिया। इस समय तक जापान ने सिंगापुर, जावा और बर्मा पर कब्जा कर लिया था।

क्रिप्स भारत के लिए अपरिचित नहीं थे। वे अनेक बार भारत में आ चुके थे। मिशन का भारत मे स्वागत ही हुआ। २३ मार्च को वे भारत में आये और कहा कि यह समय नष्ट करने तथा लम्बे वार्तालापों का नहीं है। वे भारत के साथ इस समय अन्तिम राजनीतिक समझौता करना चाहते थे। २५ मार्च को उन्होंने सभी दलों के सदस्यों से बातचीत की और २९ मार्च को घोषणा की कि वे भारत में संघीय शासन चाहते हैं जो गृह तथा परराष्ट्र के क्षेत्र में स्वतंत्र रहकर सम्राट् के प्रति भक्ति प्रकट करते हुए अन्य उपनिवेशों की तरह रहे। इसके लिए सारा वैर-विरोध खत्म कर एक निर्वाचित संस्था द्वारा भारत के लिए नया विधान बनाने की योजना थी। देशी रियासतों को भी

विधान-निर्माण में सम्मिलित करने की बात थी। कामनवेल्थ के साथ अपने सम्बन्ध का निश्चय करने का अधिकार भी भारतीय संघ को दिया गया था। युद्धकाल में सुरक्षा का अधिकार सम्राट् को ही दिया गया था। सुरक्षा का पद क्रिप्स सभी दलों के बहुमत के बावजूद भारतीय हाथों में सौंपना नहीं चाहते थे। इस संघ में सम्मिलित होने या न होने का अधिकार प्राँन्तों को दिया गया था।

डा० पट्टाभि के अनुसार क्रिप्स का प्रस्ताव अनेक रुचियों के तोष के लिए अनेक प्रस्ताओं से संयुक्त था। इसमें मुसलमानों और देशी रियासतों को तुष्ट करने की चेष्टा थी। कांग्रेस ने कहा कि वह स्वतन्त्रता तथा विधान निर्मात्री परिषद् की घोषणा चाहती है। क्रिप्स इस तरह का कोई आश्वासन नहीं दे सके। इसीलिए क्रिप्स मिशन असफल हो गया। वे सत्ता हस्तान्तरण की कोई निश्चित तिथि नहीं बता सकते थे। कांग्रेस शीघ्र ही सत्ता का हस्तान्तरण चाहती थी। लीग भी प्रसन्न नहीं थी, क्योंकि पाकिस्तान जैसी कोई चीज उसे नहीं दी गई थी। ११ अप्रैल को क्रिप्स प्रस्ताव के वापस ले लिये जाने की सरकारी घोषणा हुई।

२७ जुलाई, १९४२ ई० को क्रिप्स ने एक ब्राडकास्ट में बताया कि कांग्रेस की माँग को मानना मुसलमानों और दलित वर्ग पर हिन्दू राज्य कायम करना है। उन्होंने रहस्योद्घाटन किया कि गांधी जी ने अंगरेजों से भारत को अशान्त स्थिति में ही छोड़कर चले जाने की माँग की है। स्वतन्त्रता के लिए उन्होंने अधिकाधिक दबाव देने की भी धमकी दी है। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ८ अगस्त को कांग्रेस का 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव आया। कांग्रेस ने अंगरेजों से साम्राज्य छोड़ने और युद्ध जीतने को कहा। टोरी सरकार ने इस प्रस्ताव का समर्थन नहीं किया। फलस्वरूप कांग्रेस को इस राष्ट्रीय माँग के लिए सम्पूर्ण अहिंसात्मक कार्यों के द्वारा अपनी शक्ति का परिचय देने को सरकार ने बाध्य किया। अंगरेजी सरकार गांधीवाद के इस रुख को पूर्णतः नहीं समझ सकी। उसने भारत को स्वतन्त्र करमा स्वीकार नहीं किया। कांग्रेस भी 'करो या मरो' का सिद्धान्त अपनाये हुए थी। उसे विश्वास नहीं था कि युद्ध साम्राज्यवादी शोषण को समाप्त करने के लिए लड़ा जा रहा था। इसलिए वह हर स्थिति में प्रतिरोध के लिए तैयार थी।

सरकार चुप नहीं रही। उसने ९ अगस्त को प्रातः बम्बई में सभी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। अचानक गिरफ्तारी ने लोगों को पागल और क्रुद्ध बना दिया। आन्दोलन हिंसात्मक हो उठा। कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों के

अतिरिक्त सभी कांग्रेस कर्मियों ने इस आन्दोलन में भाग लिया। अगस्त आन्दोलन में सरकारी घोषणा के अनुसार २५० स्टेशन, ५०० डाकघर, और १५० थाने नष्ट किये गये। बिहार और पूर्वी यू० पी० में रेलवे आवागमन कई सप्ताह तक बन्द हो गया था। टाटा आयरन ऐण्ड स्टील कम्पनी के बीस हजार मजदूर हड़ताल से तभी काम पर लौटे जब व्यवस्था ने राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए प्रयत्न करने का वचन दिया। और स्थानों में भी व्यापक रूप से मजदूरों की हड़तालें हुईं।

मिदनापुर तथा सतारा जिलों में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हुई। जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में समाजवादी दल ने गुप्त रूप से विद्रोहात्मक कार्यवाही शुरू की।

व्यापारियों के सहयोग से नौकरशाही ने वस्तुओं का कृत्रिम अभाव उत्पन्न किया। व्यापारियों के लोभ के सुनहले अवसर से उसने लाभ उठाया। ११४३-४४ ई० में बंगाल में भयंकर अकाल पड़ा, जिसमें १५ से २० लाख व्यक्ति मौत के शिकार हुए। व्यापारियों ने मनुष्यों के जीवन के मूल्य पर बे-हिसाब लाभ किया।

ब्रिटिश सरकार धुरी राष्ट्रों से हार खाकर तिलमिला उठी और कहा कि कांग्रेस से नाजियों का गठबन्धन है। यह गलत प्रचार भारतीय राष्ट्रीयता को अंगरेजों तथा अमरिकियों की दृष्टि में हेय एवं निकृष्ट सिद्ध करने के लिए उसने किया। महात्मा गांधी का झुकाव कभी नाजियों की ओर नहीं रहा। उन्होंने युद्ध शुरू होने के पहले हिटलर के नाम एक पत्र में कहा कि 'यदि युद्ध हुआ तो हिटलर की 'सबसे बड़ी भूल होगी'। जापान के युद्ध में आने को भी उन्होंने अक्षम्य गलती माना। वे यह नहीं चाहते थे कि जापानी सेना से सामना करने के लिए अमेरिका तथा इंगलैण्ड से फौजें भारत में भेजी जायं, लेकिन वे अंगरेजों का भारत में रहना भी नहीं चाहते थे, क्योंकि उनकी उपस्थिति जापान को भारत पर आक्रमण करने का उत्साह प्रदान कर रही थी।

भारत के राष्ट्रवादी नेता धुरी राष्ट्रों की सहायता नहीं चाहते थे, क्योंकि उसका अर्थ नये साम्राज्यवाद के चंगुल में फंसना था। इसलिए धुरी राष्ट्रों की ओर कांग्रेस अथवा महात्मा गांधी का झुकाव नहीं था।

जिस समय १९४१ के दिसम्बर में जापान विश्वयुद्ध में सम्मिलित हुआ, मलाया में साठ हजार भारतीय सेना अमरीकी, आस्ट्रेलियन और अंग्रेजी टुकड़ियों के अन्तर्गत थी। वेतन और सुविधाओं में विभेद होने के कारण भारतीय

सेना असन्तुष्ट थी और जापानियों का आधे दिल से विरोध कर रही थी, इसीलिए सुदूर पूर्व में जापान की इतनी तीव्र प्रगति हुई।

उस समय रासबिहारी बोस नाम के प्रसिद्ध और पुराने क्रांतिकारी जापान में देश निकाले की सजा-सी भोग रहे थे। उन्होंने जापानी अधिकारियों के सामने भारतीय युद्ध कैदियों की एक देशभक्त सेना बनाने का प्रस्ताव रखा। उनके प्रस्ताव को जापानियों ने मान लिया और भारतीय राष्ट्रीय सेना का गठन १९४२ ई० के सितम्बर महीने में हुआ। जावा, मलाया, बर्मा आदि में रहने वाले अनेक नागरिक भी इस सेना में भर्ती हो गये।

सुभाषचन्द्र बोस जनवरी, १९४१ ई० में जेल से भाग निकले और अफगानिस्तान होते हुए जर्मनी पहुँचे। बाद में वे जापान गये और जुलाई, १९४३ ई० में भारतीय राष्ट्रीय सेना में शामिल हुए। उनके निर्देशन में यह सेना एक उच्चकोटि की लड़ाकू सेना बन सकी। उन्होंने कहा कि किसी भी देश का इतिहास यह नहीं बताता कि वहाँ की जनता ने विदेशियों की सहायता के बिना स्वराज्य पाया है। इसलिए हमें भी ब्रिटिश साम्राज्य के शत्रुओं की सहायता लेने में नहीं झिझकना चाहिये।

उन्होने बताया कि वे आराम कुर्सी वाले राजनीतिज्ञ नहीं है जो संघर्ष से भागकर समझौता करते हैं। वे आत्म सम्मान, प्रतिष्ठा अथवा देश का स्वार्थ चाहते थे। इसलिए उन्होंने जान पर खेल कर राष्ट्र के लिए यह कार्य किया। वे ब्रिटिश शासन से समझौता करना नहीं चाहते थे। भारतीय राष्ट्रीय सेना उनके निर्देशन में १९४३ से ४५ तक लड़ती रही।

१९४४ ई० के मध्य में महात्मा जी जेल से रिहा कर दिये गये, लेकिन भारत में व्याप्त राजनीतिक गतिरोध इस रिहाई से खत्म नहीं हो सका। जून, १९४५ ई० में अन्य कांग्रेसी नेता जेल से मुक्त हुए। श्री नेहरू ने मुक्त होते ही देश की जनता की प्रशंसा उसके अदम्य उत्साह और सक्रियता के लिए की। सरदार पटेल 'भारत छोड़ो' के नारे से बढ़कर 'एशिया छोड़ो' तक पहुँचे। साम्यवादियों की आन्दोलन विरोधी एवं अराष्ट्रीय कार्यों के लिए भर्त्सना की गई।

१९४५ ई० के जून में युद्ध समाप्त हो गया और भारतीय राष्ट्रीय सेना के कैदी भारत लाये गये। कांग्रेस ने उनकी मुक्ति के लिये प्रयत्न तथा आन्दोलन शुरू किया। जवाहरलाल नेहरू भी इन बन्दियों की सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील हुए। दिल्ली का लाल किला, जहाँ इन कैदियों का मुकदमा देखा जा रहा था,

राष्ट्रीय जागरूकता का प्रतीक बन गया। देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ने वाले इन सैनिकों के प्रति असीम उत्साह एवं श्रद्धा देश में जागी, जिसने भारतीय राष्ट्रीयता की शक्ति को बल दिया। सुभाष बोस की मृत्यु विमान-दुर्घटना में हो जाने की खबर ने १६४५ ई० में देश को शोक से अभिभूत कर दिया। सुभाष का विद्रोह असफल हुआ, किन्तु इसने युद्धोत्तर काल में राष्ट्रीय चेतना में अपूर्व शक्ति का संचार किया जिससे भारतीय स्वतन्त्रता का सपना सत्य के बहुत निकट आ गया।

युद्ध समाप्त होते ही टोरी दल का प्रभाव इंगलैण्ड में कम होने लगा और समाजवादी प्रभाव बढ़ने लगा। इसलिए मजदूर दल जनप्रियता प्राप्त करने लगा, क्योंकि उसने स्वतन्त्रता और बन्धुत्व के आधार पर साम्राज्य के गठन की योजना प्रस्तुत की। टोरी दल उसकी बढ़ती हुई ताकत से घबरा गया था। चर्चिल की सरकार भारत के मामले में अपने कार्यों को सही सिद्ध कर ब्रिटिश मतदाताओं की नजरों में भारत के नेताओं को गिराना चाहती थी। इसलिए वह भारत की परिस्थितियों के समाधान के लिए नये प्रयास की ओर बढ़ी। लार्ड वावेल ने १४ जून, १६४५ ई० को एक नये प्रस्ताव की घोषणा की और २५ जून को एक कान्फरेन्स शिमला में बुलाई, जिसमें कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के भूतपूर्व प्रधान मन्त्रियों तथा नेताओं, मुस्लिम लीग, दलित जाति तथा सिखों के नेताओं को बुलाया गया।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि मुस्लिम लीग सदा से ब्रिटिश सरकार की दुलारी रही है और उसके निर्देशन में ही उसने भारतीय राष्ट्रीय चेतना के विकास के रास्ते में रोड़े अटकाये। उसने दो राज्यों के सिद्धान्त का प्रचार भी उसी के संकेत के अनुसार शुरू किया।

कहा जाता है कि इस्लाम राज्य की कल्पना सबसे पहले महाकवि अकबर के उपजाऊ दिमाग में पैदा हुई। १६३० में लीग के इलाहाबाद अधिवेशन में उन्होंने मुसलमानों की अलग मातृभूमि की चर्चा की। १६३३ ई० में कैम्ब्रिज में कुछ मुसलमान विद्यार्थियों ने पाकिस्तान की माँग करते हुए कुछ पर्चे बाँटे। पहली बार पाकिस्तान का शाब्दिक अस्तित्व उस समय स्थापित हुआ। पाकिस्तान में उन लोगों ने पंजाब, उत्तर-पश्चिम या अफगान का सूबा, कश्मीर, सिन्ध और बलूचिस्तान को सम्मिलित करने की माँग प्रकट की। उन लोगों ने बंगाल और आसाम के सूबे मिलाकर बंगे इस्लाम और हैदराबाद की मुस्लिम रियासत से उस्मानिस्तान नामक दो अन्य मुस्लिम राष्ट्र बनाने का प्रस्ताव किया।

१९३५ ई० के बाद ही मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की मांग शुरू की। १९३७ के चुनाव में मुस्लिम लीग बेतरह हार गई। लीग अपने ४०२ स्थानों में से ११० पर ही सफल हो सकी। इससे उनके उत्साह पर थोड़ा ठंढा पानी पड़ गया। लेकिन इकबाल ने उन्हें एक पत्र लिखकर पाकिस्तान माँगने का सुझाव दिया और अक्तूबर, १९३८ में सिन्ध प्रान्तीय मुस्लिम लीग अधिवेशन में जिन्ना ने भारत के विभाजन की माँग की और १९४० ई० में लाहौर अधिवेशन में उन्होंने इस सिद्धान्त को और विस्तार एवं विकास प्रदान किया।

मुस्लिम लीग भारत को हिन्दू क्षेत्र और मुस्लिम क्षेत्र में बाँट देना चाहती थी। उसके १९४१ ई० के मद्रास अधिवेशन में पाकिस्तान की माँग की गयी, लेकिन तब भी माँग बहुत स्पष्ट नहीं थी। लेकिन हिन्दू-मुस्लिम समस्या के अन्त के लिए कुछ राष्ट्रवादी नेता विभाजन के लिए तैयार हो गये। राजा जी ने इसे स्वीकार कर लिया।

अब मुस्लिम लीग ने एक ओर कांग्रेस और दूसरी ओर सरकार से मोल-तौल करना शुरू किया। शिमाला कान्फरेन्स में कोई महत्वपूर्ण बात नहीं हो सकी, क्योंकि जिन्ना अंतरिम सरकार तभी बनाने के पक्ष में थे जब मुस्लिम जनता को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जाय। वाइसराय ने उन्हें बताया कि अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने में पाकिस्तान की माँग पर कोई आँच नहीं आती। तब उन्होंने कहा कि मुसलमान सदस्य भी एक तिहाई के बदले हिन्दुओं के बराबर रहेंगे। इसका समाधान होने पर उन्होंने कौंसिल में सभी सदस्यों को मनोनीत करने का प्रस्ताव रखा। कांग्रेस और खिज्रहयात खाँ के विरोध के कारण वाइसराय इसे स्वीकार न कर सके और ब्रिटिश प्रतिक्रियावादियों द्वारा आयोजित धोखाधड़ी समाप्त हो गई। शिमला कान्फरेन्स असफल हुई।

१९४५ ई० के मध्य में मजदूर दल की सरकार इंगलैंड में बनी और इससे भारत-ब्रिटेन सम्बन्ध में अधिक स्नेह एवं सद्भाव आया। एटली ने बावेल को बुलाकर वार्तालाप किया और वहाँ से लौटने पर उन्होंने १९४५-४६ में केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान सभाओं के चुनाव की घोषणा की। उन्होंने यह भी कहा कि सम्राट् भारत के लिए एक विधान निर्मात्री संस्था चुनाव के बाद बनाना चाहते हैं।

इस प्रस्ताव का सब जगह स्वागत हुआ और भारतीय जनता को मजदूर दलीय सरकार की सदीच्छा पर विश्वास होने लगा। पैथिक लारेन्स ने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार भारत को स्वतंत्रता देना तय कर चुकी है और चुनाव के बाद वाइसराय संयुक्त सरकार बनायेंगे। सिंध, बंगाल और पंजाब के

अतिरिक्त इस चुनाव में कांग्रेस का सर्वत्र बहुमत रहा और उसकी सरकारें बनीं।

१९४६ ई० राजनीतिक घटनाओं से परिपूर्ण वर्ष रहा। २३ मार्च, १९४६ ई० को कैबिनेट डेलीगेशन भारत में आया। उसका काम था, विधान निर्माण के आधार के लिए प्रबन्ध करना ओर अंतरिम सरकार बनाना। मिशन का काम बहुत कठिन हो गया, क्योंकि लीग ने पाकिस्तान की मांग को और उसे प्राप्त करने के लिए प्रत्यक्ष कार्रवाई का निश्चय किया। उसने मुसलमानों के लिए पृथक् प्रभुसत्ता राज्य और विधान निर्मात्रि परिषद् की माँग की। इस दशा मे ही वह अंतरिम सरकार में शामिल होने को तैयार थो।

कैबिनेट मिशन ने १ अप्रैल से १७ अप्रैल तक विभिन्न दल के नेताओं से बातचीत कर ईमानदारी से दोनों सम्प्रदायों में समझौता कराने की कोशिश की। लीग विभाजन पर अड़ी रही। मिशन इस प्रस्ताव से प्रभावित नहीं था। उसके मत से यह अल्पसंख्यकों की समस्या का समाधान नहीं था। इससे देश में अशांति ही बढ़ेगी।

अन्त में मिशन ने संयुक्त संघ सरकार के अन्तर्गत हिन्दू इकाई और मुस्लिम इकाई राज्यों का प्रस्ताव किया। साम्प्रदायिक समस्याओं के समाधान के लिए भी उसमें व्यवस्था थी। उसने दोनों जातियों में एकता स्थापित करने की कोशिश की।

२९ जुलाई, १९४६ को लीग ने पाकिस्तान लेने के वैधानिक ढंग को छोड़कर प्रत्यक्ष कार्रवाई शुरू की। प्रत्यक्ष कार्रवाई कलकत्ते में शुरू हुई और नौआखली में फैल गई। अनेक हिन्दू-मुसलमान इसमें मारे गये।

कांग्रेस ने मंत्रिमण्डल बनाना स्वीकार किया और ४ अगस्त को लार्ड वावेल ने मंत्रियों के नामों की घोषणा की। २ सितम्बर, १९४६ को कांग्रेस के सदस्य अंतरिम सरकार में शामिल हुए। अक्तूबर के अंतिम सप्ताह में लीग भी इसमें शामिल हुई। लार्ड वावेल का रवैया ठीक नहीं था। अतः अंतरिम सरकार निष्क्रिय होती गई।

दिसम्बर १९४६ में एटली ने मुस्लिम लीग और कांग्रेस दोनों को लन्दन में आमंत्रित किया। तीन दिनों के वार्तालाप के बावजूद किसी निष्कर्ष पर वे नही पहुँच सके। 'लन्दन कान्फरेन्स में भारतीय राष्ट्रीयता ने भारतीय एकता की अन्तिम लड़ाई लड़ी, पर हार गई।'

६ दिसम्बर, १९४६ को ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि वह देश के

अल्पसंख्यकों पर कोई विधान लादना नहीं चाहती। इससे विधान निर्मात्रि सभा की कार्यवाही में गतिरोध उत्पन्न हो गया।

कलकत्ते में दंगा प्रारम्भ हुआ। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप देश के दूसरे भागों में भी साम्प्रदायिक दंगे फूट पड़े। लीग की कार्रवाई ने पंजाब में सरकारी मशीन मार्च-अप्रैल, १९४७ में ठप कर दी। साम्प्रदायिक दंगे से पूरा प्रान्त टूट गया।

२० फरवरी, १९४७ ई० को ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि वह जून, १९४८ के पहले ही भारत को सत्ता हस्तान्तरित कर देना चाहती है। गाधी जी ने सरकार के इस निर्णय की प्रशंसा की।

२३ मार्च, १९४७ को लार्ड माउन्टबेटेन भारत में आये। कांग्रेस ने पाकिस्तान की मांग स्वीकार कर ली। माउन्टबेटेन ने घोषणा की कि १५ अगस्त, १९४७ के पूर्व ही सरकार भारतीयों को सत्ता सौंपना चाहती है और भारत हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में विभाजित कर दिया जायगा। बंगाल और पंजाब के मुस्लिम बहुल क्षेत्र पाकिस्तान को देने के लिए सीमा-कमीशन की नियुक्ति हुई।

महात्मा गांधी विभाजन नही चाहते थे, लेकिन नेहरू और पटेल माउन्ट-बेटेन के प्रस्ताव को मान चुके थे। भारत का विभाजन १४ अगस्त को हुआ और १५ अगस्त, १९४७ से भारत दो हिस्सों में बंट गया।

सामाजिक—आलोच्यकाल की सामाजिक परिस्थितियां अनेक कारणो से मुख्यतः वे ही रहीं जो इसके पूर्व थीं, लेकिन उनमें प्रगतिशील तात्वों के संयोग से तीव्रता आती गई। वैज्ञानिक प्ररिप्रेक्ष्य मे सारी सामाजिक मर्यादाओं का पुनर्मूल्यांकन होने के कारण अंध-विश्वासों से जनता की सामाजिक चेतना दूर हटती गई और बौद्धिकता के प्रकाश में सभी सामाजिक सम्बन्धों में उपयोगिता ढूँढ़ी जाने लगी।

आर्य समाज आदि संस्थाओ ने जाति-भेद, छुआछूत, बहुविवाह, दंभ, लोभ, क्रोध आदि के प्रति अनास्था भाव पहले ही उत्पन्न कर दिया था, लेकिन उसके मूल मे धार्मिकता का आग्रह विशेष था, बौद्धिकता का आधार कम।

राष्ट्रीय आन्दोलन की बढ़ती हुई शक्ति ने सामाजिक रूढ़ियों पर भी कठोर आघात किया, लेकिन इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य समाजवाद ने किया। उसने नयी सामाजिक व्यवस्था की कल्पना की और पुरानी व्यवस्था की निष्क्रियता पर करारी चोट की। परिणाम यह हुआ कि जाति-पांत, छुआछूत आदि के बाह्या-

डम्बर समाप्त होने लगे और समानता सामाजिक क्षेत्र में बढ़ने लगी। सम्पूर्ण मानव को समान मानकर उन्हे सामाजिक दिशा में समान अधिकार दिया जाने लगा ।

हिन्दू समाज का एक वर्ग ऐसा था जो बहुत अधिक पिछड़ा हुआ था। इस वर्ग पर उच्चवर्ग का ही प्रभुत्व प्रारम्भ काल से रहा है। वर्ग-चेतना ने इस दिशा में पिछड़ी जातियों को एक होने की प्रेरणा दी और उच्च वर्ग के प्रभुत्व एवं शोषण बृत्ति के बिरुद्ध बोलने का मौका दिया। इस प्रकार समाज के एक वर्ग ने दूसरे के विरुद्ध विद्रोह किया। लेकिन इससे एक हानि यह हुई कि हिन्दू जनता में बैर एव द्वेष की धारा बह चली और आर्थिक विषमता के आधार पर उगने वाली वर्ग-चेतना सामाजिक विषमता के आधार को लेकर फूटी, जिससे प्रगति-वादी तत्त्वों की क्षति हुई ।

तिलक-प्रथा का ज़ोर विशेष बढ़ा और उसके विरोध में आवाज उठाई गई। बहुविवाह, बाल-विवाह आदि के बिरोध में भी स्वर उठाये गये और विधवा-विवाह को सामाजिक मान्यता प्रदान की गई। नारी-जीवन में भी समानता का आलम्बन किया गया और नारी-जागरण इस दिशा में जोर पकड़ने लगा ।

रूढ़ियों को, परम्पराओं को वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों में उखाड़ फेकने की कोशिश को गई । जन-चेतना का विकास इस काल में बहुत अधिक हुआ।

इस काल में किसानों में भी जागरण और १९३९ ई० में अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना की गयी। किसानो की अपनी समस्याएं और मुसीबतें थी और उनके समाधान के लिए उन लोगों ने संगठन किया। किसानों ने न केवल अपनी समस्याओं के समाधान की दिशा में कदम उठाया, बल्कि राष्ट्रीय अन्दोलन को प्रगति में भी योगदान किया।

मजदूर आन्दोलन इसकाल में भयानक हो उठा और पूंजीवाद से उसका अनेक बार संघर्ष हुआ। मजदूर अपने हित के लिए एकत्र एवं संगठित हुए तथा अपने वर्ग की समस्याओं के निराकरण के लिए आगे बढ़ते रहे ।

आर्थिक—आलोच्यकाल में भारत की आर्थिक स्थिति में अनेक उतार-चढ़ाव आये और उनके कारण देश की आर्थिक दशा हीन होती गई। महायुद्ध के आर्थिक बोझ ने तो देश की कमर ही तोड़ दी थी।

अंगरेजों ने भारत के शोषण का जो क्रम शुरू किया था, उसमें दिन-दिन वृद्धि ही होती गयी। आलोच्यकाल में भी भारत से इंगलैण्ड जाने वाला खिराज

अधिकाधिक बढ़ता गया। १९४५ ई० में प्रस्तुत आंकड़े के अनुसार इंग्लैण्ड भारत से हर साल १३५० लाख पौण्ड खिराज वसूल करता था। इसके साथ ही बैंक पूँजी से हुये मुनाफे द्वारा शोषण का आधार भी बढ़ रहा था।

यों धीरे-धीरे भारत का औद्योगिक विकास हो रहा था, लेकिन वह विकास कपड़ा-उद्योग की दिशा में ही विशेष रहा। औद्योगीकरण में महत्व होता है भारी उद्योगों का जैसे, लोहा, इस्पात, मशीन आदि के उत्पादन का। इस दिशा में विशेष प्रगति भारत में नहीं हो सकी। विवेच्यकाल में उद्योग-धन्धों का अधिक विकास न हो सका, क्योंकि साम्राज्यवादी शक्तियों ने उसका विकास अवरुद्ध कर दिया। भारतीय उद्योगों पर ब्रिटिश पूँजी का आधिपत्य बना रहा। कारण यह था कि बैंक-व्यवस्था पर अंगरेजों का नियंत्रण था और भारत के औद्योगिक तथा स्वतंत्र आर्थिक विकास में सदा बाधा डालते रहे।

युद्धकाल में भारत का औद्योगिक विकास तनिक भी नहीं हो सका। इस काल में इसका अनेक प्रकार से शोषण किया गया। भारत की राष्ट्रीय आय का एक तिहाई तक सैनिक रक्षा में खर्च किया गया। युद्ध का विशाल खर्च मुद्रा-प्रसार के द्वारा पूरा किया गया। १९३९ ई० से १९४५ ई० के बीच भारत में ६ गुने ज्यादा नोट जारी हुए। इससे फौजी ठेकेदारों और मिल मालिकों को बेहिसाब लाभ हुआ। युद्ध का अपार खर्च भारत की निरीह जनता पर पड़ा और भूखों मरती जनता इस भार से कराह उठी। खाने-पहनने की चीजों का अभाव, अकाल, तबाही और बरबादी की स्थिति से जनता को गुजरना पड़ा, लेकिन मंहगी से जनता की आमदनी में कोई बढ़ोतरी नहीं हुई। मुद्रा-प्रसार से उत्पन्न मंहगी का सामना करती हुई जनता को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

महायुद्ध की आर्थिक विश्रृंखलताओं ने इंगलैण्ड की भी हालत नाजुक बना दिया। राजनीतिक क्षेत्र में अंगरेजों की हालत खराब थी ही, आर्थिक क्षेत्र में भी उसकी दशा बिगड़ती गई। ब्रिटिश पूंजीवाद बहुत कमजोर हो उठा। इस-लिए इस दिशा में अंगरेजी पूंजी ने भारतीय एकाधिकारी पूंजीपतियों से समझौता शुरू किया। इस प्रकार के समझौते १९४५ के बाद विशेष रूप से हुए। बिड़ला-नफील्ड, टाटा-इम्पीरियल केमिकल, बिड़ला-स्टुडीबेकर, बालचन्द-क्राइसलर आदि समझौते विशेष महत्वपूर्ण हैं।

भारत में पूंजीवाद की बढ़ती हुई शक्ति एवं शोषण-वृत्ति का विरोध समाज-वादी संस्थाओं द्वारा छायावाद-युग में ही प्रारम्भ हो गया था। पूंजी और श्रम का विरोध बढ़ने लगा था और वर्ग-चेतना तीव्र हो उठी थी। प्रगतिवाद-युगमें

वर्ग-चेतना तीव्रतर हुई। इसका कारण यह था कि महायुद्ध के कारण मंहगी बढ़ी और मजदूरों तथा किसानों की दशा दिन-ब-दिन बदतर होती गई। पूंजीपतियों और व्यापारी-वर्ग के शोषण से वे कांप उठे और तब विरोध का स्वर तेज होने लगा।

किसानों पर होने वाले चौतरफा शोषण से उनकी दशा खराब होती गई। उन्हें अपनी कुल आमदनी का एक तिहाई भाग लगान के रूप में दे देना पड़ता था। किसानों पर कर्ज भी बढ़ता जा रहा था। १६२१ ई० में किसानों पर कुल कर्ज ४० करोड़ पौण्ड था। १६३७ ई० में वह १३५ करोड़ पौण्ड हो गया।

महायुद्ध काल में बर्मा से चावल आना बन्द हो जाने के कारण देश अकाल ग्रस्त हो गया। बंगाल में भीषण अकाल पड़ा, जिसमें, प्रो० के० पी० चट्टोपाध्याय के अनुसार ३५ लाख आदमी मौत के शिकार हुए। १२ लाख आदमी विभिन्न बीमारियों से काल कवलित हुए। इस प्रकार किसानों का आर्थिक जीवन छिन्न-भिन्न हो उठा था। महंगी का अंदाज इससे लगाया जा सकता है कि १६४२ ई० में जो चावल ६ रु० मन था, वह १६५३ में ४० रु० मन हो गया। देहातों में तो उसकी कीमत १०० रु० मन तक थी। अकाल की मार से खेती और ग्रामोद्योग को भी बड़ा कठोर आघात लगा।

आलोच्यकाल में मजदूरों की संख्या में आशातीत वृद्धि दृष्टिगत होती है। १६३८ में अनुमानतः मजदूरी करके जीने वालों की संख्या ६ करोड़ थी। भारत में मजदूरों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। वे वर्ग-चेतना से अभिभूत हो उठे थे। इस दिशा में ट्रेड युनियनों का काम बहुत बड़े पैमाने पर होता रहा। कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों की स्थापना के साथ ही ट्रेड युनियनों के कार्यों में एक नया जोश दीख पड़ा। १६३७–३८ में हड़तालों की एक बड़ी लहर देश में आई। १६३७ ई० में हड़तालों की संख्या ३७६ थी।

१६३६ ई० का द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने पर मजदूर वर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्वपूर्ण कदम उठाये। जबकि राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता-गण अभी टालमटोल करने में ही लगे हुए थे, सबसे पहले मजदूर वर्ग ने साम्राज्यवादी युद्ध के खिलाफ लड़ायी का बिगुल बजाया। २ अक्तूबर १६३६ को साम्राज्यवादी युद्ध के विरोध में बम्बई के नब्बे हजार मजदूरों ने हड़ताल की।' इस प्रकार मजदूर वर्ग ने साम्राज्यवाद-विरोधी एक महान् शक्ति के रूप में आगे बढ़कर राष्ट्रीय आन्दोलन को नयी शक्ति दी।

लड़ाई के दिनों में मजदूरों की दशा और भी चिन्त्य हो उठी। रहन-सहन का खर्च तो बहुत बढ़ गया, लेकिन उस अनुपात में मजदूरी न बढ़ने के कारण अनेक मजदूर भीषण स्थितियों का मुकाबला कर रहे थे। युद्धजनित भयंकर अर्थ-भार के खिलाफ मजदूरों ने आवाज उठाई और मँहगाई आदि के लिए देश भर मे हड़तालें शुरू हुई। ज्ञातव्य है कि उस समय तक वस्तुओं की कीमत मे ३७ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी।

इस प्रकार एक ओर जहाँ साम्राज्यवादी शोषण के कारण देश की दशा दिन-दिन बदतर होती गई, वहीं दूसरी ओर युद्धजनित मँहगी और अकाल ने देश की हालत जर्जर कर दी। आर्थिक दृष्टि से देश एकदम टूट गया।

वर्ग-चेतना का विकास इस काल में अधिक हुआ। देश और विदेश के पूंजीपतियों के विरोध मे मजदूर वर्ग ने संगठित होकर संघर्ष किया और शोषण समाप्त कर अपनी आर्थिक दशा सुधारने की चेष्टा की।

धार्मिक तथा सांस्कृतिक—प्रगतिवाद युग में धार्मिक क्षेत्र में विशेष परिवर्तन नहीं दीख पड़ा, किन्तु मुस्लिम लीग की पाकिस्तान अथवा पृथक् इस्लाम राज्य की मांग से हिन्दू जनता में साम्प्रदायिक द्वेष-भाव बढ़ने लगा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, साम्प्रदायिक विरोध को अंगरेज इसलिए प्रश्रय देते रहे कि वे शोषण तथा साम्राज्यवादी व्यवस्था की रक्षा कर सकें। जो हो, मुस्लिम लीग के कारनामों से हिन्दू जनता में भी जाति एवं सम्प्रदायगत भावनाएँ तीव्र हुईं और दोनों जातियों के बीच की खाई बढ़ती गई।

१९४६ ई० में मुस्लिम लीग की प्रत्यक्ष कार्रवाई ने देश में दंगों का सूत्रपात किया और प्रतिक्रियास्वरूप पंजाब, बिहार और बंगाल में जबर्दस्त दंगे हुए। निरीह जनता के खून से धरती रंग उठी। दोनों सम्प्रदायों के पागलपन से धन-जन की अपूर्व क्षति तो हुई ही, अनेक व्यक्ति बेघर-बार हो गये, अनेक स्त्रियों का सतीत्व खंडित हुआ और राष्ट्रीय एकता भी कई दशक पीछे चली गई। इस प्रकार इस काल में धार्मिक पागलपन का प्रदर्शन विशेष रूप से हुआ, जिसके परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता की मंजिल कोसों दूर ही गई।

सांस्कृतिक दिशा में इस काल मे अनेक निर्णायक परिवर्तन हुए। इस परिवर्तन का कारण था हमारी संस्कृति में जटिलता एवं विविधता का समावेश। जटिलता के निराकरण की दिशा में दो विदेशी मनीषियों की विचारधाराओं का प्रभाव भारतीय जीवन पर विशेष पड़ा। प्रथम, मार्क्स और दूसरे फ्रायड।

मार्क्स ने सामाजिक समस्याओं की भौतिकवादी, व्याख्या की और सम्पूर्ण जनता को शोषक और शोषित, दो वर्गों में विभाजित कर दिया। उसका उद्देश्य शोषित वर्ग का संगठन कर शोषक वर्ग को समाप्त कर राजनोतिक शक्ति हस्तगत कर लेने का था। साथ ही समानता के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति को सुख-सुविधाएं पहुँचाना भी उसका लक्ष्य रहा है।

यों तो १९२७ ई० के बाद से देश में प्रगतिशील शक्तियों का स्वरूप सामने आने लगा था, लेकिन १९३७ के बाद इस दिशा में विशेष प्रगति दीख पड़ी। समानता के सिद्धान्त से जन-समाज अभिभूत हो उठा और जनवादी मूल्यों के आधार पर सारी समस्या का समाधान ढूढ़ा जाने लगा।

मार्क्सवाद रूढ़ियों एवं परम्परा का कट्टर शत्रु था। उसने ईश्वर के अस्तित्व को आस्वीकार किया और बताया कि वह शोषक वर्ग द्वारा निर्मित एक अस्त्र है जो शोषितों को दासता की शृंखला में जकड़ने के लिए काम में लाया जाता रहा है। इसलिये शोषितों के लिए वह ईश्वर नहीं है। इस अनीश्वरवादी विचार-धारा का व्यपक प्रभाव देश की जनता पर पड़ा। इसके अतिरिक्त अन्य रूढ़ियों और परम्पराओं पर भी मार्क्सवाद ने करारी चोट की। इस प्रकार जीवन में जनवादी मूल्यों की स्थापना हुई।

मार्क्स के बाद फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद ने हमारी विचारधारा को नयी दिशा दी। फ्रायड के अनुसार जिन इच्छाओं की पूर्ति सामाजिक वर्जनाओं के कारण चेतन जीवन में नही हो पाती, वे दमित होकर कुंठित हो जाती हैं। ये कुण्ठाएं अधिकतर यौन-सम्बन्धी हैं। ये इच्छाएँ अवसर पाकर नग्न अथवा अर्ध नग्न रूप में हमारे सामने आती हैं। इस विचारधारा ने कामसम्बन्धी हमारी पुरानी मान्यताओं को झकझोर कर जगा दिया और इन समस्याओं के नये मूल्यों के आधार पर देखा जाने लगा।

इन यूरोपीय विचारधाराओं के बावजूद भारत जैसा परम्परावादी देश अपने पुराने मूल्यों को पूर्णतः छोड़ न सका और परम्परा पर से एकाएक विश्वास उठ नहीं गया। एक धारा सांस्कृतिक क्षेत्र में पुरानी मान्यताओं की रही है, जो छुआछूत तथा पुराणपंथीपन को कायम रखने की कोशिश करती रही।

इन सब परिस्थितियों का सामूहिक प्रभाव यह हुआ कि भौतिकवादी दृष्टिकोण की प्रधानता जनजीवन में बढ़ने लगी। बुद्धिवाद का स्पष्ट एवं व्यापक प्रभाव मुखर हो उठा और तर्क के आधार पर सारे मूल्यों का परीक्षण प्रारम्भ हुआ। जिन मूल्यों की उपयोगिता नहीं सिद्ध हो सकी वे टूटने लगे और

नयी जनवादी स्थापनाएं एवं मान्यताएँ प्रसार पाने लगीं। इस प्रकार भारतीय संस्कृतिक जीवन को एक नया धरातल इस युग में मिला और उसके आधार पर नयी चेतनता का क्रमशः विकास होता गया।

शिक्षा-विषयक—आलोच्यकाल में शिक्षा का व्यापक रूप से प्रचार एवं प्रसार हुआ। अनेक लोग विदेश में भी शिक्षा प्राप्त करने गये। ऊँचे पदों पर भी अनेक व्यक्ति नियुक्त किये गये। नारी-जगत् में भी शिक्षा का विकास हुआ। पाश्चात्य विचारों से भारतीय जीवन का सम्पर्क शिक्षा के माध्यम से ही हुआ। इस प्रकार इस काल में शिक्षा की व्यापक उन्नति हुई। इससे राष्ट्रीय भावना के विकास को बहुत बल मिला।

अन्यान्य—प्रगतिवाद-युग में प्रेस की बहुत उन्नति हुई। हिन्दी भाषा में अनेक मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक एवं दैनिक पत्र प्रकाशित हुए, जिनके माध्यम से राष्ट्रीय चेतना विकसित होकर तीव्रतर होती गयी। रेडियो आदि ने भी भारतीय विचार-धारा को प्रभावित किया। इसी प्रकार डी० एच० लारेन्स, टी० एस० इलियट आदि के विचारों ने भी हमें सोचने-समझने की नयी दिशा दी। अतियथार्थवादी सिद्धान्त की प्रतिक्रिया भी भारतीय जन-मानस में हुई।

(ख) उपर्युक्त परिस्थितियों का राष्ट्रीय चेतना पर समवेत प्रभाव

आलोच्य की परिस्थितियों का भारतीय राष्ट्रीय चेतना के विकास में निर्णायक स्थान था। उक्त काल की घटनाएँ स्वतंत्रता का आन्दोलन के अन्तिम दौर में आती हैं और उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को एक जोरदार धक्का देकर देश के बाहर निकाल दिया और अनन्तकाल से अभिलषित स्वतंत्रता प्राप्त की।

इस काल की परिस्थितियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन को शक्ति और विकास प्रदान किया। छायावाद युग में राष्ट्रीय चेतना का जो विद्रोह उभरा था, वह इस युग में परिपक्व हुआ और क्रान्ति-विन्दु तक पहुँचा।

प्रगतिवाद-युग में राष्ट्रीय चेतना का विकास जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हुआ। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक दिशा में उसकी गति अबाध रूप से बढ़ी। इस तरह पूर्ववर्ती राष्ट्रीय भावना इस युग में आकर अनेकमुखी हो उठी और उन सबके सम्मिलित संघर्ष को साम्राज्यवादी शक्ति संभाल न सकी।

इस काल में ब्रिटिश साम्राज्यवाद भयानक युद्ध में फंस गया था। इसलिए उसकी सारी शक्ति तानाशाही शक्तियों से लड़ने में लगी हुई थी। इसलिए भारत

के विविध आन्दोलनों के कारण उसने सुधार का रास्ता अपनाया। उसने भारतीय जनता को सुविधाएँ प्रदान कर अपने साम्राज्य को बचाना चाहा।

किन्तु भारतीय राष्ट्रीय नेता ब्रिटिश साम्राज्यवाद की विषय परिस्थितियों से अवगत थे। वे ब्रिटेन की इस विषय स्थिति के अवसर पर ही अधिकाधिक लाभ प्राप्त करना चाहते थे। वे इस अवसर पर साम्राज्यवाद विरोधी संपूर्ण असन्तोष जन-संघर्ष में परिवर्तित कर देना चाहते थे जिससे वह क्रांतिकारी न हो।

कांग्रेसी नेता देश में मजदूर आन्दोलन बढ़ने देना नही चाहते थे। उन्हें डर था कि मजदूर वर्ग की क्रान्ति मात्र ब्रिटिश साम्राज्यवाद का खात्मा करके ही समाप्त नहीं होगी, वरन् भारतीय पूंजीपतिवर्ग को भी समाप्त कर देगी। पूंजीपतिवर्ग के सहयोग से कृतज्ञ कांग्रेस उनका विनाश नहीं चाहती थी। इसलिए उसने क्रान्ति या मजदूर आन्दोलन को कभी प्रश्रय नहीं दिया।

किन्तु कांग्रेस के विरोध के बावजूद युद्धकाल में तथा उसके उपरान्त मजदूरों का वर्गसंघर्ष तीव्रतर होता गया, क्योंकि युद्धजनित परिस्थितियों के कारण उन्हें अनेक कष्ट सहने पड़े। मजदूरवर्ग का असंतोष समय-समय पर प्रकट होता है। पुलिस, सेना आदि भी असंतुष्ट हो उठी। इस प्रकार साम्राज्य विरोधी तथा पूंजीवाद विरोधी आन्दोलन होते रहे।

अगस्त-क्रान्ति, नाविकों का विद्रोह तथा सुभाषचन्द्र बोस की भारतीय राष्ट्रीय सेना ने गांधी के अहिंसावाद को चुनौती दी। इन घटनाओं ने राष्ट्रीयता का नया रूप साम्राज्यवादी ब्रिटेन के सामने प्रस्तुत किया। संवैधानिक सुधार से ही अब काम चलने वाला नहीं था। भारतीय राष्ट्रीयता के इस उग्र रूप ने भारत की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में ब्रिटेन को सोचने को लाचार किया।

कांग्रेसी नेता समझौता के द्वारा स्वतंत्रता चाहते थे। इसलिए उन्होंने इन क्रान्तिकारी घटनाओं के विकट रूप को कभी स्वीकार नही किया। कुछ उग्र विचार के कांग्रेसी भी थे, जो इस प्रयत्न की सराहना कर रहे थे। जवाहरलाल नेहरू का नाम ऐसे लोगों में विशेष उल्लेख्य है।

इसके पूर्व वामपंथी विचारों में सक्रियता एवं विद्रोहात्मकता नहीं आई थी। इस युग में कांग्रेस के भीतर तथा बाहर के वामपंथियों ने प्रकट विद्रोह का नारा लगाया और साम्राज्यवाद की जड़ें हिला दीं। सुभाषचन्द्र बोस द्वारा भारतीय राष्ट्रीय सेना का संगठन तथा भारत पर चढ़ाई आदि वामपंथी कार्यों ने राष्ट्रीयता की भावना से देश को इतना अधिक प्रभावित किया कि क्रान्ति

के लिए मचलने लगा। साम्राज्यवादी ब्रिटेन ने इस स्पष्ट खतरे को देखा और अपने हित के लिए उचित समझा सत्ता हस्तान्तरण।

इस काल में साम्राज्यवाद को खुलकर चुनौती दी गई और उसके विरोध में मजदूर और किसान आन्दोलन ने संघर्ष भी किया। मजदूर आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य पूंजीवाद का विरोध था, लेकिन भारत में साम्राज्यवाद का मुख्य रूप पूंजीवादी ही था। इसलिए साम्राज्यवाद ने वर्ग-चेतना की व्यापकता के स्पष्ट खतरे का अनुभव किया।

वर्ग-चेतना की आँच में भारतीय राष्ट्रीय चेतना में राजनीतिक तथा आर्थिक क्रान्ति की आग भड़की और उसने साम्राज्यवाद के विरोध में संघर्ष किया।

समझौतावादी दृष्टि भी राष्ट्रीय आन्दोलन में कुछ लोगों की थी और वे वैधानिक सुधारों का स्वागत या विरोध समय-समय पर करते रहे।

आलोच्यकाल की राष्ट्रीयता प्रारम्भ से ही मानवतावादी रही है; किन्तु मार्क्सवाद तथा समाजवाद के प्रचार-प्रसार के कारण इस काल में उसमें जनवादी विचारधारा विशेष रूप से आयी। फलस्वरूप राष्ट्रीयता के पथ में नये मोड़ आये, उसमें संघर्ष की तपन आई। उसने शोषण का विरोध किया और समता का नारा लगाया। इस तरह वह मानवतावाद के सुदृढ़ आधार पर खड़ी हुई और क्रान्ति की ओर गतिमान हुई।

राष्ट्रीय आन्दोलन का अवरोध भी इस युग मे हुआ। हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध में तनाव आ जाने के कारण दोनों जातियां बहुत अधिक दूर होती गईं और एक समय ऐसा भी आया जब साम्राज्यवाद के सहयोग से उसने देश में रोमांचकारी दृश्य दंगे के द्वारा उपस्थित कर दिये। दोनों जातियों का द्वेष इस सीमा तक बढ़ा कि राष्ट्रवादी हिन्दुओं ने पाकिस्तान की मांग स्वीकार कर ली और पाकिस्तान के बंटवारे के साथ ही हमारी राष्ट्रीयता के भी दो खण्ड हो गये। यह स्पष्ट है कि 'साम्प्रदायिकता ने भारतीय राष्ट्रीयता को जर्जर कर दिया था', और इसके फलस्वरूप ही देश की राष्ट्रीयता खंडित होकर दो राष्ट्रों में विभक्त हो गई।

(ग) अभिव्यक्ति

(अ) काव्य-विषय--प्रगतिवाद का मूल आधार यथार्थवाद है। उसने ही सर्वप्रथम साहित्य में यथार्थवादी चेतना का समावेश किया। समाज की विभिन्न विकृतियों का विनाश कर नये मानव की स्थापना उसके यथार्थ का केन्द्र विन्दु है। वर्ग-संघर्ष की पृष्ठभूमि पर नयी मानवता का विकास प्रगति-

बाद का लक्ष्य रहा है। इसकी प्रेरणा उसे मार्क्सवाद से प्राप्त हुई है। इसलिए जनवादी तत्वों को संघटित कर मार्क्सवाद से तथा भौतिक यथार्थवाद के आधार पर नये मूल्यों की स्थापना की ओर वह बढ़ा। प्रगतिवाद प्रोलितारियत सत्ताशाही से अनुप्राणित रहा। इसलिए पुरातन परिस्थितियों को मिटाकर नयी राजनीतिक चेतना के सघ न से प्रोलितारियत सत्ताशाही को विकसित करने के अवसर की खोज उसे रही है।

प्रगतिवाद साम्यवादी विचारधारा को स्थापित करने का सशक्त माध्यम था। 'बल्कि यो कहिये कि प्रगतिवाद समाजवाद की ही साहित्यिक अभिव्यक्ति है। 'किन्तु इन सबके मूल में नये मानव के विकास की भावना है। प्रारम्भ मे प्रगतिवाद ने मानव-मुक्ति और मानवता का नारा लगाया। किसान, मजदूर, समाज का उपेक्षित वर्ग प्रगतिवाद के विषय था। इस यथार्थवादी चेतना की ओर काव्य की दृष्टि विशेष रूप से थीं। प्रगतिवाद वास्तव में काव्य की मानवतावादी धारा थी। प्रगतिशील साहित्य हिन्दी साहित्य की मानवतावादी धारा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नयी परिस्थितियों में विकास है।

प्रगतिवाद शब्द हिन्दी काव्य मे दो अर्थोमें प्रयुक्त होता रहा है। एक तो सामान्य राष्ट्रीय और सामाजिक रचनाओं के लिए और दूसरे मार्क्सवाद से अनुशासित रचनाओं के लिए। साम्यवादी दूसरे प्रकार की रचनाओं को ही प्रारम्भ में प्रगतियादी साहित्य मानते थे, किन्तु बाद में उनकी दृष्टि में उदारता आई और मानवतावाद से सम्बन्धित सभी रचनाएं इसकी परिधि मे आ गई। इस क्रम में प्रगतिवाद ने देश की वर्तमान राजनीतिक और सामाजिक अवनति से सम्बद्ध रचनाओं को भी प्रगतिवादी स्वीकार किया। यथार्थ की ओर उन्मुख होने के कारण प्रगतिवाद में सामयिक समस्याओं की प्रतिक्रिया भी प्रकट होने लगी। इसलिए 'सामयिक समस्याओं के प्रति जागरूक रहना प्रगतिवाद की सबसे बड़ी विशेषता प्रतीत होती है।

यों प्रगतिवाद की मार्क्सवाद अनुशासित दृष्टि राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय है, किन्तु सामयिकता की अभिव्यक्ति के क्रम में उसने मानव की विविध समस्याओं का चित्रण किया। इसीलिए डा० रांगेय राघव कहते है कि प्रगतिशील साहित्य की परम्परा ने राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ विकास किया है। उसने सोते हुए मानव समाज को विद्रोह का स्पष्ट स्वर दिया है। उसने साम्राज्यवाद से संघर्ष किया है। देशी-विदेशी शोषण के रूपों को उभार कर पर्दा फास किया है। प्रगतिवाद में मानव जीवन के समावेश के प्रति संदेह प्रकट करते हुए

शिवचन्द्र कहते है, प्रगतिवाद में औद्धत्य है, अति उत्तेजना है, अतः वह विप्लवकारी है और विप्लव में मानव जीवन शायद संनिविष्ट नहीं है। श्री शिवचन्द्रजी का सन्देह व्यर्थ है। प्रगतिवाद में मानव जीवन का समावेश निस्सन्देह रूप से है। प्रगतिवाद की दृष्टि नये मानव की खोज पर ही है।

इसलिए प्रगतिवाद का यथार्थ मानव का यथार्थ है। नये मूल्यों की स्थापना उसका मूल मंत्र है समस्त मानवता के कल्याण के लिए वर्गहीन समाज की स्थापना इनका लक्ष्य है। इसलिए ये एक देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ने वाले नहीं हैं।

(१) **राजभक्ति**—सम्राट् से किसी प्रकार की सुविधा की आशा न रहने के कारण छायावाद-युग में ही राजभक्ति हिन्दी राष्ट्रीय कविता से समाप्त हो गयी थी। प्रगतिवादयुग में साम्राज्यवाद के विरोध का स्वर छायावाद से भी अधिक तीव्र था। अतः यह संभव न था कि राष्ट्रीय कवि सम्राट् के गुण गाते। अलबत उन्होंने भक्ति के बदले घृणा अथवा विद्रोह अवश्य व्यक्त किया। इस युग में साम्राज्यवाद का शोषण एवं उत्पीड़न जन-जीवन को विकरालता से अवगत करा चुका था। इसलिए इस काल में राजभक्ति की कविताओं के लिए गुंजाइश नहीं रह गयी थी।

(२) **देशभक्ति**—छायावाद के मूल में स्वतंत्रता की आकांक्षा तथा वर्तमान परिस्थितियों से असंतोष की भावना थी। यह भावना ही विद्रोह की वाणी बनकर फूट पड़ी। प्रगतिवाद-युग में उत्तेजना, क्षोभ एवं असंतोष की भावना तीव्र रही है। इसलिए देशभक्ति की कविताओं में भी उसका प्रतिफलन हुआ और वह नये मोड़ से होकर चली। इसलिए प्रगतिवाद ने देशभक्ति काव्य में निर्णायक परिवर्तन प्रस्तुत किये, जिनका विवेचन हम यहाँ करेंगे।

अतीत का गौरवगान—जैसा कि अन्य अध्यायों में कहा गया है, अतीत गौरव के आलेख का मूल्य प्रेरणात्मक है। युग की अधोगति की अतीत की गौरवमयता में विवेचन कर अतीत से प्रेरणा लेना अथवा देना ही अतीत गरिमा वर्णन की मूल प्रवृत्ति है। कुछ लोग पुनरावर्तन के लिए भी अतीत के गीत गा सकते हैं, लेकिन ऐसे लोग प्रतिक्रियावादी ही कहे जा सकते हैं। हिन्दी राष्ट्रीय कविता में अतीत का गौरव वर्तमान अतःपतन से उत्पन्न आक्रोश एवं क्षोभ को तीव्र करने के ही लिए ग्राह्य हुआ है।

छायावाद-युग में अतीत-महिमा के गीत गाये गये हैं और जमकर गाये गये हैं, लेकिन प्रगतिवाद-युग में वह धारा मन्द पड़ गई। इसके अनेक कारण हैं।

पहला कारण तो यह है कि प्रगतिवादी प्रवृत्ति यथार्थोन्मुखी थी। वर्तमान की यथार्थं भूमि पर दमन, शोषण, अत्याचार आदि इतना हुआ कि देश को यथार्थ से दूर हटकर अतीत की स्वर्णिमभूमि पर जाने का अवकाश ही नही मिला। अपनी वर्नमान समस्याओं में राष्ट्रीय कवि इस तरह उलझे रहे कि उससे भिन्न अन्य किसी दिशा की ओर वे देख न सके और अतीत-गौरव ने वर्तमान के दयनीय यथार्थ जीवन मे सिमट कर उसे और तीव्र कर दिया।

प्रगतिवाद परम्परा पर विश्वास नहीं करता। भारतीय कवियों ने छायावाद युग मे भी परम्परा से असंतोष प्रकट किया था और उसे मिटाने के प्रयास के क्रम में विद्रोह का स्वर ऊँचा किया था। प्रगतिवाद युग मे परम्परा को त्याग दिया गया और नये मूल्यों की स्थापना के कारण राष्ट्रीय कविता इस परम्परा-गान को ग्रहण न कर सकी।

प्रगतिवाद ने पुनरुत्थान को नही, क्रान्ति को अपना नारा बनाया। क्रान्ति के लिए उसने संघर्ष किया और सामाजिक व्यवस्था मे परिवर्तन कर नयी व्यवस्था कायम करने के लिये संघर्ष किया इस संघर्ष एवं क्रान्ति के फलस्वरूप पुरानी व्यवस्था में लोगों का विश्वास नहीं रहा। ऐसी दशा में पुनरुत्थानवादी तथा परम्परावादी अतीत-गाथा की ओर कवियों का ध्यान नही जा सका।

इस काल में विद्रोह की भावना अधिक तेज थी। लोग अपनी परिस्थितियों से इतना अधिक ऊब गये थे कि वे विद्रोह करना चाहते थे। ऐसे विद्रोह के युग में समझौता, पुनरुत्थान तथा परम्परा-गान के लिए गुञ्जाइश नही थी। वे तो विद्रोह के लिए उतावले थे। इसलिए उनका ध्यान पीछे नही गया, अतीत की ओर न जा सका। नवयुवकों ने सुभाष का नेतृत्व स्वीकार किया, गांधी के समझौतावाद को ठुकराया। कारण कि सुभाष मे उन्हे विद्रोह की प्रेरणा मिली। समझौता पर उनकी आस्था अब नही जम सकी।

इस युग में मुसलमानों के पृथक् राष्ट्र का आन्दोलन जोर पकड़ता गया। इसलिए यह आवश्यक था कि हिन्दू-मुस्लिम खाई पाटने के हिन्दू राष्ट्रीय कवि अपने (हिन्दुओं के) अतीत की महागाथा गाकर मुसलमानों को उत्तेजित न करें। उनके विरोध भाव को मिटाने के लिये, राष्ट्रीय भावना से जनता को एक सूत्र में बाँधने के लिए भी अतीत की मोहकता से यदि राष्ट्रीय कवि अलग हो गये हों तो कोइ आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

इसलिए प्रगतिवाद-युग में स्वर्णिम अतीत के गीत नहीं गाये जा सके। ऐसा नहीं कि किसी ने अतीत की ओर संकेत ही नहीं किया। किया, लेकिन वह उतना प्रमुख नहीं है, जितना वह अन्य युगों में था।

अतीत की ओर जाने की बात को प्रगतिवाद ने पलायन भी कहा। इसलिए उनका ध्यान वर्तमान संघर्ष की ओर ही मुख्यरूप से रहा। और इस युग में हम वर्तमान की विरूपता, असंगति के प्रति जागरूक हो उठे थे, तब प्रेरणात्मक अतीत की कोई आवश्यकता भी नहीं थी। इसलिए राष्ट्रीय कविता में अतीत के गान की परम्परा करीब समाप्त प्राय ही हो गई।

वर्तमान के प्रति क्षोभ

छायावाद ने राष्ट्रीय कविता में व्यक्त होने वाली वर्तमान के प्रति क्षोभ एवं आक्रोश की भावना को विद्रोह का स्वर दिया था, किन्तु वह विद्रोह आत्मनिष्ठ था। प्रगतिवाद ने उसे समाजनिष्ठ बनाया। इसलिए कि प्रगतिवाद का विद्रोह केवल राजनीतिक दासता से मुक्ति के लिए नहीं था, बल्कि आर्थिक दासता से मुक्ति के लिए भी था। उसमें सामाजिक विद्रोह का स्वर भी घुलमिल गया था।

इस युग मे जीर्ण एवं पुरातन वर्तमान को नष्ट कर सब कुछ नूतन स्थापित करने की भावना की प्रचुरता है। इसके लिए क्रान्ति की अपेक्षा है। इसलिए कवियों ने 'पावक पगधर आवे नूतन' की विद्रोह वाणी गुंजाई। पंत ने 'युगान्त' मे यही भाव व्यक्त किये है :—

नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन
ध्वंस-भ्रंश जग के जड़ बंधन।
पावक पगधर आवे नूतन
हो पल्लवित नवल मानवपन।

पंत के पूर्व दिनकर, नरेन्द्र शर्मा तथा नवीन ने भी प्रलय का अह्वान किया है। उन्होंने भी वतंमान को नष्ट करने की कामना व्यक्त की है, लेकिन उनमें मानवता के विकास का आग्रह नहीं है। इसलिए उनकी रचनाओ को पृष्ठभूमि के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है।

नये मानवपन के विकास का रहस्य क्या है ? रहस्य है देश में व्याप्त दैन्य। तीस कोटि भारत कीं संतान को कवि पंत नग्न, अर्धक्षुधित, मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन, बेघरबार देखते हैं और उनका हृदय व्यथा से भर उठता है—

तीस कोटि संतान नग्न तन,
अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्रजन,
मूढ, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन।

जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द ने भी मानवता के शोषण की भयंकरता का अनुभव किया है और मूक मानवता में शृंखलाएँ तोड़कर मुक्त होने की कामना के दर्शन किये—

दमन-शोषण चक्र में अगणित युगों तक पिस चुकी है,
मूक मानवता न जाने कष्ट कितने सह चुकी है,
मुक्ति का संदेश पा यह आज सहसा उठ रही है—
तोड़ने को शृंखलाएँ, बद्ध जिनमें रह चुकी है।

रामदयाल पाण्डेय ने 'मुक्ति-मंत्र' शीर्षक में मानव को ढूँढ़ने के क्रम में अस्थि पंजरों को ही देखा है, जिनका खून नित्य बहता है। ये कंकाल लगता है भीषण रौरव में पड़े हों, यानि सांस ले रहे शव मात्र हों। इन शब्दों में कवि ने शोषित मानव का बडा ही करुणामय चित्र उपस्थित किया है--

वह कारा भी अब नही देव, मै देख रहा भीषण रौरव
है जहाँ अस्थियों के आसन, शोणित बहता बनकर आसव
जकड़े विभीषिका के पंजर मे सांस ले रहे जीवित शव
धुल धुल कर आँखें गईं हार, पर मिल न सका मुझको मानव।

प्रगतिवाद-युग में मानव की शोषणजनित दुरवस्था के अनेक चित्र प्राप्य हैं। पूंजीवाद के शोषण की कहानी ही प्रगतिवाद का सिद्धान्त है। इसलिए सभी प्रगतिशील कवियों ने मजदूरों एवं किसानों की दीन-दशा का वर्णन प्रस्तुत किया। उन चित्रों में पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की बर्बरता की झाँकी स्पष्ट मिलती है और हम ऐसी व्यवस्था के विरोध में हुंकार कर उठते हैं।

वर्ग-चेतना ने शोषितों-पीड़ितों को जगाया और क्रान्ति की लपटें उठने लगी। असंतोष की आग उठने वाली क्रान्ति की देवी के चरणों की आहट दिनकर एवं नवीन ने सुनी थी। वही ध्वनि मिलिन्द जी भी सुनते है, जिसमें तूफान की गति है। संम्पत्तिवाद अपनी विनाश-वेला कब तक टाल सकेगा अन्ततोगत्वा उसका नाश निश्चित ही है—

धीरे धीरे युग-परिवर्तन की आहट आती जाती है,
गहन घटा-सी क्षितिज-पटल पर घिरघिर कर छाती जाती है,
क्या अगले तूफानों मे तू अपना भार संभाल सकेगा ?
एकाकी असहाय नाश की बेला कबतक टाल सकेगा ?

फिर संकेत भी कवि को मिलता है क्रान्ति का और वह उस मंत्र से बन्धन की कड़ियाँ तोड़ देता है। क्रान्ति की ज्वाला मानव के उर से ही फूटती हैं, जिसमें बन्धन टूटते हैं—

बन्धन की कड़ियाँ छिन्न हुई जाती हैं,
नूतन कविताएँ मुक्ति गीत गाती हैं
आडम्बर, कल्मष भस्म सभी कर देगी
मानव उर से ऐसी ज्वाला निकलेगी।
कल्याण-क्रान्ति का मंत्र मिला है प्यारा।
जीवन-नायक, वह तेरा एक इशारा।

प्रगतिवाद-युग का राष्ट्रीय कवि एक ओर विदेशी दासता का जुआ फेंक देना चाहता है तो दूसरी ओर पूंजीवाद का भी उन्मूलन करने को कृत-संकल्प है। इसलिए उसकी कविता मे विद्रोह है, क्रान्ति का आवाहन है। ऐसी क्रान्ति नही जो नाम मात्र की हो। वह क्रान्ति की दिशा मे बढ़ता है। क्रान्ति की तीव्र ज्वाला से तप्त प्रगतिवाद विद्रोह चाहता है इसलिए कि जंजीरें कभी अश्रुधार मे नहीं टूटती और दर्द दुलार से कभी दूर नहीं होता। दासता कभी पुकार अथवा गुहारों मे नही मिटती। नेपाली के शब्दों में सुनिये—

जंजीर टूटती कभी न अश्रुधार से
दुख दर्द दूर भागते नहीं दुलार से
हटती न दासता पुकार से गुहार से
इस गंग तीर बैठ आज राष्ट्र शक्ति की
तुम कामना करो किशोर कामना करो।

इसलिए कवि कह उठता है कि आज अश्रुदान छोड़कर शीश-दान से देश की अर्चना करनी है—

अब अश्रुदान छोड़ आज शीश दान से
तुम अर्चना करो अमोघ अर्चना करो।

प्रगतिवाद युग वास्तव में विद्रोह एवं क्रान्ति की अपूर्व लहर लेकर आया था। इस क्रान्ति का मूल आधार है असंतोष, व्यथित मानव हृदय का क्षोभ। मिलिन्द का कवि इसी क्षोभ की हुंकार है, वह पीड़ितों के विद्रोह का गायक है और स्वत्व हीनों और दलितों का सखा है, आधार है—

जो बने वाणी नये युग की वही मेरी कला है
मनुजता के व्यथित उर के क्षोभ की हुँकार हूँ मैं।
पीड़ितों के उमड़ते विद्रोह की अभिव्यक्ति हूँ मैं,
वंचितों का स्वत्व, दलितों का सखा, आधार हूँ मैं।

सोहनलाल द्विवेदी बलि पथ पर रक्त चढ़ाने वालों के दीवाने हैं। उन्हें विजय-पराजय की चिन्ता नहीं। वे तो शीशदान जानते हैं। नेपाली की तरह ही सोहनलाल द्विवेदी भी बलिदान के माध्यम से क्रान्ति करने के आग्रही है--

हम तो हैं उनके मतवाले
बलि पथ पर जो रक्त चढ़ाते
विजय मिले या मिले पराजय
अपने शीश अर्घ दे जाते।

रामदयाल पाण्डेय ने भी बलिदान का आग्रह किया है। अन्धकार से आच्छन्न विश्व को नया प्रकाश देने के लिए कवि भारतवासियों से कोटि-कोटि जन्मों के बदले एक बार बलिदान देने की प्रार्थना करता है—

तिमिर ग्रस्त भव को, ज्योतिर्मय
क्या प्रकाश का दान न दोगे
कोटि कोटि जन्मों के बदले।
एक बार बलिदान न दोगे।

इसी बलिदान की प्रेरणा माधव शुक्ल भी देते है। वे यह नहीं चाहते कि हम भयवश देश को भुला दें। कवि हथकड़ियों पर स्वतन्त्रता के गीत गाना चाहता है--

फाँसी चढो, जेल में जाओ,
भयवश कभी न देश भुलाओ,
हथकड़ियों पर मिलकर गाओ
स्वतन्त्रता का गान।
जवानों उठो हिन्द संतान।

स्वतन्त्रता के लिए बलिदान के आग्रही कवियों ने अहिंसात्मक क्रान्ति में विश्वास किया। वे हंसते-हंसते मर जाना ही उत्तम समझते हैं, दुश्मन पर

हाथ उठाना नहीं चाहते । ऐसे ही कवि चन्द्रप्रकाश वर्मा चन्द्र ने १६३८ ई० में कामना की है कि कातिल की तेग और उसकी कुर्बानी अमर हो जाय—

ऐसा हथ चला लो कातिल अधिक न हो हैरानी
तेरी तेग अमर हो, मेरी अमर रहे कुर्बानी ।

और इस कुर्बानी के द्वारा ही उन्होंने नये राष्ट्र के उगने की कामना की । संघर्षो में ही नये राष्ट्र का निर्माण होता है । विजय और पराजय से घबराना नहीं चाहिए । इनके माध्यम से ही अनेक वर्षों में राष्ट्र उगता है—

आज राष्ट्र निर्माण हो रहा
अपना शत-शत संघर्षों में
धूप-छाँह-सी विजय-पराजय,
राष्ट्र पनपता है वर्षों में ।

कवि ने बलिदान के भीतर से नये राष्ट्र के स्वरूप को देखा है । इस बलिदान से उन्होंने शासन सत्ता के अन्याय को मिटाने का निश्चय किया । छायावाद युग में विद्रोह की व्यष्टि चेतना के भीतर से बलिदान का भाव फूटा था और कवियों ने इस बलिदान में अहिंसक क्रान्ति की कामना की थी । प्रगतिवाद युग में भी कुछ लोगों का अहिंसा पर विश्वास रहा और उन्होंने बलिदान हो जाना ही देश के उद्धार के लिए अपेक्षित समझा ।

लेकिन अब बहुसंख्यक जनता का विश्वास गांधीवाद पर नहीं रहा । वे विद्रोह में इस तरह जल रहे थे कि किसी भी मूल्य पर देश की गुलामी और गरीबी मिटना चाहते थे । ऐसे लोग बलिपथ के गायक हैं । कारण कि उनका विश्वास अहिंसक क्रान्ति पर नहीं था । वे साम्राज्यवाद के घोर विरोधी थे और उसके बिनाश के लिए क्रान्ति की हुँकार लेकर आये । कवि महेन्द्र ने अपने को क्रान्ति की हुँकार और न्याय की तलवार कहा और नये संसार के निर्माण की ओर संकेत किया --

हुँकार हूँ, हुँकार हूँ, मैं क्रान्ति की हुँकार हूँ ।
मैं न्याय की तलवार हूँ ।
शक्ति, जीवन जागरण का मैं सबल संसार हूँ ।

सुधीन्द्र भी अंगार से ही अपना शृंगार करने वाले कवि हैं । फूल से उत्पन्न होकर वे आग से खेलने वाले हैं । गरल पीकर जी रहे कवि का अमृत से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है—

फूल से उत्पन्न हूँ मैं, आग से है खेल मेरा,
जी रहा हूँ मैं गरल पी, है अमिय से मेल मेरा।

श्री कृष्णदास विप्लवी तरुणों को शहीद और स्वतन्त्र कहकर संबोधित करते हैं और विकल विश्व में क्रान्ति का सफल मंत्र फूंकने का आग्रह करते हैं—

आज सकल,
विश्व विकल,
क्रान्ति सफल,
किये चल,
हे शहीद 'हे स्वतन्त्र'
फूंक-फूंक क्रान्ति-मंत्र।

मिलिन्द क्षण भर सोचने लगते हैं कि कौन सा रास्ता देश के लिए उत्तम है, विप्लव या बलिदान का। वह बलिदान को अहिंसात्मकता, समझौता नीति पर अब विश्वास नहीं करता और इसलिए वह दान और विधान का पथ छोड़कर क्रान्ति की ज्वाला जलाने की प्रेरणा नवयुवकों में भरता है—

फिर उठो फिर क्रान्ति की ज्वाला जलाओ
छोड़ यह पथ 'दान' और 'विधान' का तुम,
राष्ट्र का इतिहास फिर उज्ज्वल बनाओ
स्वत्व का, संघर्ष का बलिदान का तुम।

यह द्विधा कवि को १९४६ ई० में हुई, क्योंकि उस समय देश स्वतन्त्र होना चाहता था और बलिदान और विधान के माध्यम से लक्ष्य सिद्धि न होते देख उसने विप्लव के मार्ग को ग्राह्य समझा।

'प्रेमी' जी अन्याय को मिटाने के लिए 'महाक्रान्ति के घूंघट खोलो' का नारा बुलन्द करते हैं। अपना, भारतीयों का परिचय देते हैं कि हम वे नहीं हैं जिनको कुचल कर दुनिया आगे बढ़ जाय, हम वे हैं जिनका सिर कभी ऊपर नहीं उठता। हम ऐसे प्रलय गीत गावें जिससे दुनिया में क्रान्ति की आग फूट पड़े—

हम वे नहीं कि जिनको दुनिया कुचल-कुचल कर चलती जाये।
हम वे नहीं कि जिनका मस्तक कभी न ऊपर उठने पाये।
आँखों में, दिल में, प्राणों में, नस-नस में उन्माद जगा दें।
ऐसा प्रलय गीत गावें जिससे दुनिया में आग लगा दें।

छायावादी युग में बलिदान के अमर गायक माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय-अत्मा' भी सुधार और समझौतों की ठिठोली पसन्द नहीं करते और उन्मुक्त राष्ट्र के लिए सर्वस्व होम क्रान्ति के फूल खिलाना अब चाहते हैं :—

अमर राष्ट्र, उद्दण्ड राष्ट्र, उन्मुक्त राष्ट्र, यह मेरी बोली,
यह सुधार समझौतों वाली, मुझको भाती नहीं ठिठोली।
यह मैं चला पत्थरों पर चढ़, मेरा दिलवर वही मिलेगा,
फूक जला दे सोना-चांदी, तभी क्रांन्ति का सुमन खिलेगा।

अत्याचार देखकर कवि दिनकर का हृदय उबल उठता है और सारे विश्वासों को बड़ी ठेस लगती है। वे क्रान्ति के लिए देश की मिट्टी के असि वृक्ष की डालों में तलवार फलाते हैं। विवशता के विष में बुझी आंसू की तलवार वे देश के मजूलमों के हाथ में थमाकर विद्रोह का शंखनाद कर देते हैं—

देश की मिट्टी का असि वृक्ष, गान तरु होगा जब तैयार,
खिलेंगे अंगारों के फूल, फलेगी डालों में तलवार।
चटकती चिनगारी के फूल, सजीले वृंतों के शृंगार,
विवशता के विष जल में बुझी गीत की, आंसू की तलवार।

दिनकर जवानों को रक्त-स्नान करते देखा और देखा है परम्परा की होली जलाते हुए—

परम्परा की होलिका जला रही जवानियाँ
लहू में तैर-तैर के नहा रहीं जवानियाँ।

नेपाली ने भी नवयुवकों की क्रान्ति की अग्नि शिखा में जग-जीवन की भ्रान्ति जला दी है और उसकी राख पर नये संसार का निर्माण किया है :

तरुण क्रान्ति की अग्नि शिखा में
जग-जीवन की भ्रान्ति जलेगी।
जग की राखों पर सुलगेगा एक नया संसार।

१९४२ ई० में 'भारत छोड़ो' का नारा लगाया गया, जिसमें साम्राज्यवाद को भारत की मिट्टी से दूर फेंक देने की कामना की। इसके क्रम में उसी वर्ष अगस्त क्रान्ति हुई। अनेक स्थानों में लोगों ने स्वतंत्र शासन की स्थापना की और ब्रिटिश शासन को कुछ काल के लिए मिटा दिया था। उस समय क्रान्ति-गीत के गायक 'मिलिन्द'' स्वतंत्रता की घोषणा करते हैं :—

दृढ़ निश्चय के बाद हमारे हाथों में अब आजादी है।
टूटे बन्धन, मिटी गुलामी, खत्म समझ ली बरबादी है।
नयी जिन्दगी, नया वतन अब, नये विचारों की है धारा।
हैं स्वतंत्र सब भारतवासी, भारतवर्ष स्वतंत्र हमारा।

माधव शुक्ल स्वतंत्रता के महान नायक रहे हैं। द्विवेदी युग से लेकर प्रगतिवादी युग तक उन्होंने अपनी राष्ट्रीय चेतना को गीतों के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है। अगस्त आन्दोलन के समय उन्होंने बड़ी जोरदार और प्रेरणाप्रद कविता लिखी जिसने नवयुवकों मे राष्ट्रीय चेतना का उभार तेज कर दिया। आन्दोलन के समय शायद ही कोई नौवजवान हो जिसे इसकी पंक्तियां याद न हो और जिसके बोल पर वह उत्तेजित न हुआ हो—

भगवान भला करे एमरो का बने यशस्वी बृटिश निशान,
नर नारी बच्चों को गोरे अत्याचारी खूब हनें,
भारत के कोने कोने में जलियाँवाला बाग बने।
चिन्ता नहीं बहे लहराता चहुँदिशि खून जवानों का।
बिन स्वराज्य के नहीं हटेंगे कौल रहे मरदानों का।

ब्रिटिश शासन पर कवि ने कठोर व्यंग्य किया है। मार्शल ला के बावजूद नवजवानों को अपना खून देश भर मे लहरा देने की प्रेरणा से देश अभिभूत हो उठा था।

सोहनलाल द्विवेदी ने भी स्वतंत्रता के गीतो पर साम्यवाद का रंग चढ़ाया और उदर ज्वाला में रणचण्डी के हर्ष देखा। इससे साम्राज्यों की नींव कांपने लगी, राज्यों की दीवारें भी कांप उठीं, क्योंकि अपनी पीर असह्य हो उठने के कारण आज जनसत्ता जाग उठी है :

धधको महा उदर की ज्वाला
रणचण्डी प्रण हर्षो में।
साम्राज्यों की नींव कंप रही
कंपती राज्यों की प्राचीरें
जन सत्ता जग पड़ी आज है
असह्य जनता की पीरें।

उदयशंकर भट्ट की वाणी क्रान्ति की पुकार में मन्द नहीं है। वे दासता मिटाने के आग्रही हैं। इसलिए वे अपनी शक्ति तौलते हैं। उन्हें विश्वास है कि

उनके स्वर में युग बोल रहा है। देश-जाति और जीवन के संघर्षों को वह अपने भृकुटी-संकेत पर तोलते हैं। इसलिए कीटों-से लघु शासक और कीट की तरह का राजतंत्र उसके संघर्षो के बल के सामने टिकने वाले नहीं हैं। वे महानाश का महामंत्र लेकर गा उठते हैं---

ये और कीट-से लघु शासक,
ये और कीट-से राजतंत्र,
मेरे आगे कब ठहर सके
मैं महानाश का महामंत्र।

इस प्रकार कवि ने अपने का महानाश की मूर्ति माना, जिसके संकेत पर सब कुछ समाप्त हो जायगा।

प्रगतिवाद-युग में साम्प्रदायिक विरोध अधिक बढ़ा। राष्ट्रीय एवं प्रगतिशील कवियों ने इस विरोध को कम कर राष्ट्रीय चेतना को एकता-बल देने की कोशिश की। इस काल में लीग ने पृथक् राज्य की भी माँग की और कोई भी राष्ट्रीयवादी इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं हुआ। इसलिए एकताप्रेरक रचनाएँ भी हुईं, लेकिन परिस्थितियों की आँच में पक कर पाकिस्तान के रूप में दृढ़ता आती गयी और वह सत्य बनकर रहा। जो हो, राष्ट्रीय चेतना का भी हिन्दी कवियों ने विद्वेष भूलकर एकता स्थापित करने का प्रयास किया। सोहन-लाल द्विवेदी ने मतभेद की दिशा में काम करने वाले रूढ़िवादी धर्म के अनर्थ का दिग्दर्शन कराया है----

मस्जिद से मंदिर लड़ते हैं
गिरजा से लड़ते बिहार-मठ
धर्म अनर्थ कर रहा कितना,
करते हैं अधर्म पामर सठ।

विश्वम्भर मानव भारत देश को अभागा देश कहते हैं, क्योंकि हिन्दू-मुसल-मान-ईसाई एक दूसरे को ऊपर से भाई समझते हैं, लेकिन मूलतः वे धार्मिक रूढियों में जकड़े हैं। वे भौगोलिक रूप से एक हैं, क्योंकि उनकी नदियां एक हैं, झरने एक हैं, उनके खग, तरु और पर्वत भी एक हैं। इसलिए कि उनकी मातृ-भूमि एक है। लेकिन इन एकताओं पर उनका विश्वास नहीं। जन्मभूमि से,

प्रेम एवं मोह नहीं है। उनके लिए तो मंदिर और मस्जिद ही एकमात्र सत्य है। इस तरह भौमिक एकता दिखाकर धार्मिक एकता के खोखलेपन पर मानव ने चोट की और दोनों जातियों में देशाभिमान जगाने की चेष्टा की—

उनके रहे न सरि, निर्झर थे,
उनके रहे न खग, तरु, गिरि थे,
उन्हें जन्म-भू का न मोह था
उनके तो मंदिर मस्जिद थे।

हरिकृष्ण प्रेमी क्रान्ति की सफलता के लिए सभी जातियों की एकता पर विश्वास करते हैं। वे अपने जन-बल की शक्ति से अवगत हैं, लेकिन वह बल तभी अमोघ एवं साम्राज्यवाद की जड़े हिला देने वाला होगा, जबकि संयुक्त हो। इसलिए एकता का आह्वान कर वह क्रान्ति ज्योति जगा देता है—

एक-एक ईधन की लकड़ी
अलग-अलग क्यों सुलगे बोलो,
जलो साथ मिल लपटें लपकें
महा क्रान्ति का घूँघट खोलो।

सोहनलाल द्विवेदी १९४६ ई० के भारत-विभाजन प्रस्ताव से अत्यन्त क्षोभ एवं दुख प्रकट करते हैं। वे विभाजन करने वालों को चेतावनी देते हुए कहते हैं---

राजा की मति रंक हुई, तब
औरों की हो क्या गणना।
ये अखण्ड भारत को खंडित
करने चले समझ बढ़ना।

कवि समझता है कि अखण्ड भारत को खंडित करने का षड्यन्त्र साम्राज्यवाद का ही है। इसलिये वह उसे चेतावनी देता है। उसे खण्डित भारत स्वीकार नहीं है। इसलिए उक्त पंक्तियों में कवि की व्यथा स्पष्ट ही देखी जा सकती है।

सोहनलाल द्विवेदी 'जिन्ना और जवाहर' शीर्षक कविता में दोनों नेताओं की तुलना करते हैं। उन्हें दोनों का विरोध देश के हित के लिए अनुचित

जान पड़ता है, इसलिए अन्तर मिटाकर देश के सूत्रधार बनने की कामना वे व्यक्त करते हैं—

फिर भी क्या आयेगा वह दिन
गत होगा अंतर-अंधकार ?
ये बैठेंगे मिल एक साथ
बनकर स्वदेश के सूत्रधार।

इस तरह एक ओर जहाँ साम्राज्यवाद के विरोध में विद्रोह एवं क्रान्ति की हुंकार हिन्दी राष्ट्रीय कविता में गूँजी वहाँ दूसरी ओर-एकता के महामंत्र का पाठ भी हुआ। बैर एवं फूट की भर्त्सना कर एकता की महत्ता का गान हुआ। लेकिन इससे पागल कौमों को प्रेरणा नहीं मिल सकी और देश का विभाजन होकर रहा।

साम्राज्यवादी युद्ध की भर्त्सना भी कवियों ने की, क्योंकि उसके स्वार्थों के कारण ही युद्ध आता है, जिसमें देश मिटते हैं; मानवता नष्ट होती है। द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका से आक्रान्त कवि सुमित्रानन्दन पंत ने १९४० के वर्ष को संबोधित करते हुए कहा—

शुभागमन नव वर्ष कर रहा, हाला डोला पर चढ़ दुर्धर,
वृहद् विमानों के पंखों से बरषा कर विष वह्नि निरंतर।

इस युद्ध की विनाश-लीला के प्रति तत्परता भी देखियें—

इधर अड़ा साम्राज्यवाद, शत शत विनाश के ले आयोजन,
उधर प्रतिक्रिया रुद्ध शक्तियाँ क्रुद्ध दे रहीं युद्ध निमंत्रण।

लेकिन इसके बावजूद कवि ने विनाश के वर्ष, १९४० से भी नव सृजन की कामना की है—

आओ हे दुर्धर्ष वर्ष ! लाओ विनास के साथ नव सृजन
बिश शताब्दी का महान विज्ञान ज्ञान ले, उत्तर यौवन।

इस प्रकार इस युग में राष्ट्रीय चेतना उग्र रही, उसने आशा भी की और नये राष्ट्र को उगते हुए भी देखा।

मातृभूमि की बन्दना—जन की एकता के साथ भूमि के गुण की गाथा

भी अन्य युग में हुई है । प्रगतिवाद-युग मे भूमि की महत्ता का गान हुआ, लेकिन उस सीमा तक नहीं जिस सीमा तक अन्य युगों में हुआ ।

इससे यह नही समझना चाहिये कि इस युग में भूमि के प्रति प्रेम भाव खत्म हो चला, या कि कवियों के मन में जन्मभूमि के प्रति श्रद्धा भाव नहीं रह गया, या कि भूमि की एकता को इस युग में राष्ट्रीय चेतना का अनिवार्य तत्व नहीं माना गया, याकि साम्प्रदायिक विरोध की आंच मे भूमि की एकता का भाव नष्ट हो गया और इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना इस काल में दब गई । कवियों एवं देशवासियों के हृदय में जन्मभूमि के प्रति प्रेम एवं श्रद्धा का जो भाव था वह पूर्ववत रहा और इसी भाव के कारण बलिदान अथवा क्रान्ति की प्रेरणा जगी । इस युग की बौद्धिक चेतना ने श्रद्धा के बाह्य उपचारों को मुक्ति दे दी । इसलिए जन्मभूमि की पूजा एवं आराधना के गीत कम गाये । बौद्धिकता में पूजा अर्चना का महत्व भी तो नहीं है ।

साम्प्रदायिक विद्वेष ने तथा पाकिस्तान के निर्माण का सत्य सामने आता देखकर एकता के गीत गाने का मोह भी कवियों को नहीं रहा । वे हिन्दुस्तान को हिन्दुओं का देश समझने लगे और तब भूमि के प्रति असीम प्रेम अभिव्यक्त करने का आग्रह नहीं हुआ ।

अपनी समस्याओं में भारतवासी इस तरह व्यस्त रहे कि उनके यथार्थ से हटकर किसी भावनात्मक कार्य की ओर उनका ध्यान नहीं गया । इसलिए जन्म-भूमि के दैवी रूप की महिमा का गान नहीं हुआ ।

आलोच्यकाल में भारत की महत्ता, जन्मभूमि की श्रेष्ठता सिद्ध हो चुकी थी । इसलिए उसकी अभिव्यक्ति की अपेक्षा नहीं थी, बल्कि उसे भीतर ही भीतर समझने, अपना प्रेम प्रकट करने की जरूरत थी । इन सभी कारणों से प्रगतिवाद युग में भारत के दैवत्व का गान कम हुआ ।

इन कारणों के बावजूद कवियों ने दैवत्व का गान किया । सुमित्रानंदन पंत ने भारत माता का ग्रामवासिनी रूप में बड़ा मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है । उनके इस रूप में स्वर्ग की लोकोत्तर छटा नहीं धरती की ममतामयी करुण मूर्ति का बिम्ब है—

भारत माता
ग्राम वासिनी ।
खेतों में फैला है श्यामल

धूल भरा मैला-सा आंचल,
गंगा यमुना में आंसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी।

'आंसूजल' भारत माता के दुख-दैन्य का रूप साकार करता है। दैनता का और स्पष्ट चित्र प्रस्तुत है। दीनता से वह नीचे अपलक दृष्टि से ताकती है। अधरों पर शाश्वत नीरव रुदन व्याप्त है। युग-युग से वह विषण्ण मन हैं और है अपने ही घर में विदेशिनी की तरह। यथार्थ के दर्द से मूर्तित यह रूप प्रत्येक सहृदय के मन को छू लेता है—

दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन,
अधरों मे चिर नीरव रोदन,
युग युग के तम से विषण्ण मन
वह अपने धर मे प्रवासिनी।

इस दैन्य-दुख से गीता का प्रकाश देने वाली भारत माता आज ज्ञान मूढ़ हो गयी है। पंत ने उसे 'जग जननी' को विभूति से गौरवान्वित किया है।

रामसिंह हिन्दुस्तानी ने भी भारत माता की "आरती" उतारी हैं। वह उसके चरणों में 'बासी फूल' अर्पित कर अपनी दीनता प्रकट करता है, किन्तु माता को उद्बुद्ध कर उदासी त्यागने को कहता है—

हे जननि स्वीकार कर ले,
त्याग दे तू यह उदासी।
आज लाया हूँ कहीं से
बीन कर ये फूल बासी।

इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी भारत माता के यथार्थ रूप को आंका और उसके प्रति अपना प्रेम, अपनी श्रद्धा अर्पित की है, लेकिन इतना स्पष्ट है कि यह प्रवृत्ति इस काल में क्षीण-धारा के रूप में ही बहती रही है।

(३) आर्थिक शोषण—यों तो साम्राज्यवादी शोषण के विरोध में भारतेन्दु-युग मे ही आवाज बुलन्द की गयी, लेकिन साम्राज्यवाद के पूंजीवादी रूप का विरोध १९३० ई० के पहले कभी नहीं हुआ। उस विरोध में औद्योगिक विकास

की ओर कवियों का ध्यान अधिक रहा, वे यह चाहते थे कि विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार हो और स्वदेशी वस्तुओं का निर्माण कर उनका उपयोग किया जाय। लेकिन छायावाद के उत्तर काल में प्रगतिवादी तत्वों का विकास हुआ और पूंजीवाद तथा शोषण के विरोध का स्वर पहली बार फूटा। वैसे रूसी क्रान्ति की सफलता और साम्यवाद का गान १९२० ई० से ही हुआ, लेकिन क्रमबद्ध एवं सशक्त विरोध १९३० के बाद ही प्रकट हुआ। इसके पूर्व जो कुछ कहा गया, वह साम्यवाद का स्तुति-गान है, पूंजीवाद का विरोध नहीं।

१९३० ई० के आसपास पूंजीवाद का विरोध स्पष्ट रूप से होने लगा, लेकिन उस विरोध में साहित्य-दर्शन का संयोग नहीं हो सका था। वह संयोग प्रगतिवाद के आगमन से ही शुरू होता है, १९३७ ई० से। इसके पूर्व के विरोध को इसकी पृष्ठभूमि मान लेना चाहिये।

प्रगतिवाद-युग में देशी और विदेशी दोनों पूंजी का विरोध हुआ और दोनों के शोषण का विरोध क्रियात्मक रूप में हुआ। प्रगतिवादी तथा राष्ट्रीय कवियों ने मानव में अपनी अटूट आस्था प्रकट की और शोषित वर्ग के प्रति अपनी सहानुभूति दिखलाई। यह कहीं करुणामय होकर फूटती है और कहीं अत्याचार के प्रति आक्रोश प्रकट कर उठती है। शोषण की विभीषिका इन चित्रों में बड़ी खूबी के साथ चित्रित होती है। शोषितों की रोटी की मांग को शोषक वर्ग विद्रोह कहता है और अभावों को पूरा करने का उनका प्रयास डाका समझा जाता है। हरिकृष्ण प्रेमी के शब्दों में शोषितों की लाचारी, दीनता, मार्मिक स्थिति का अंकन देखिये—

रोटी की भी मांग किसी से, करना है विद्रोह कहाता।
प्रिये अभावों को भी पूरा करना, 'डाका' समझा जाता।

शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने शोषण की विभीषिका से उत्पीड़ित मानव की दीनता को और भी अधिक सफलता पूर्वक मुखरित किया है। गोबर से दाने बीनना और कुत्ते के मुंह से रोटी छीनना मानव की आर्थिक विषणता का ऐसा चित्र है जिसकी याद भी हृदय को दहला देती है—

हंत भूख मानव बैठा
गोबर से दाने बीन रहा
और झपट कुत्ते के मुंह से
जूठी रोटी छीन रहा।
सांस न बाहर भीतर जाती और कलेजा मुंह को आता।

रामेश्वर शुक्ल अंचल ने भी शोषण के मार्मिक चित्र आंके हैं। वेश्या की दीन-दशा का वर्णन इस बात का प्रमाण है कि शोषितों के प्रति उसके मन में कितनी सहानुभूति है, करुणा है। वेश्या मां बनकर भी भूखी रहती है और इसके बाद भी नर-पशुओं की वासना का शिकार बनती है। समाज के इस वर्ग की व्यथा का, बेबसी का चित्र प्रस्तुत है :—

माता बनी दूध भर आया, किन्तु न भरता पापी पेट
जननी बनकर भी पशुओं के आगे नग्न सकेंगी लेट ?

पंत ने भी बूढ़े भिखारी का बड़ा हृदय द्रावक वर्णन किया है। बूढ़ा भिखारी जब भीख मांगते किसी द्वार के सामने खड़ा होकर याचना करता है तो ऐसा लगता है जैसे कोई जानवर पिछले पैरों के बल उठकर चल रहा हो:—

भूखा है कुछ पैसे पा, गुनगुना
खड़ा हो जाता वह घर
पिछले पैरों के बल उठ
जैसे कोई चल रहा जानवर।

नरेन्द्र शर्मा ने भी शोषण के मार्मिक चित्र 'मिट्टी और फूल' में आंके हैं। 'सुमन' ने चारों ओर शोषण की विकराल ज्वाला के दर्शन किये हैं। जिसमें नित्य कंकालों की आहुति पड़ती जाती है। इस आहुति में रक्त घी की तरह जलता है और ईंधन है हड्डी—

आज रक्त घृत बन बलता है
हड्डी का इंधन जलता है
कंकालों की आहुति पड़ती यह ऐसी भीषण विकराला।

त्रिलोचन शास्त्री ने भोरइ केवट की दर्दनाक दशा को देखा है और भोरइ की व्याकुल वाणी भी सुनी है कि युद्ध-जनित महंगी की हालत में अब नहीं जिया जाता। स्मरण रहे कि द्वितीय महायुद्ध के क्रम में साधारण जनता की दशा एकदम खराब हो गई थी। कारण कि चीजों की कीमत दुगुनी-तिगुनी से भी ज्यादा हो गई थी। शोषित-पीड़ित साधारण मानव उस स्थिति का सामना करता है, लेकिन अन्त में उस घुटन से मुक्ति की कामना कर उठता है :

बाबू, इस महंगी के मारे किसी तरह अब तो
और नहीं जिया जाता
और कब तक चलेगी लड़ाई यह ?

पूंजीपतियों की चाल से अपरिचित भोरइ इस पीड़ा को अपने पूर्वजन्म का प्रसाद मानता था। उसके इस अज्ञान की सरलता में करुणा का सहज उद्रेक कवि कर देता है—

इस अकारण पीड़ा का भोरइ उपचार कौन सा करता
वह तो इसे पूर्वजन्म का प्रसाद कहता था
राष्ट्रों के स्वार्थ और कूटनीति
पूंजीपतियों की चालें
वह समझे तो कैसे।

श्री रामदयाल पाण्डेय मजदूर-किसानों के दलन-पीड़न का बड़ा सजीव वर्णन प्रस्तुत करते हैं। मजदूर-किसानों की तृषा, बुभुक्षा, रुग्णता, नग्नता पशु-जीवन की पंक्ति में ला बिठाती है। कवि के हृदय की चीत्कार तब गूंज उठती है—

तृषित-बुभुक्षित-नग्न रुग्ण वे, वे असभ्य-निर्बुद्धि-निरक्षर
दुर्वह भार लिए संसृति का काट रहे युग-युग से चक्कर।

दिनकर, उदयशंकर भट्ट, अंचल आदि ऐसे कवि हैं जिन्होंने पीड़ित मानवता की चीत्कार को अपने कंठ की पुकार दी हैं। उन्होंने उसकी दुरवस्था के रोमांचकारी एवं मार्मिक चित्र प्रस्तुत किये।

लेकिन इन कवियों ने केवल पीड़ितों की, शोषितों की दयनीय दशा ही हमारे समक्ष नहीं उपस्थित की, बल्कि क्रान्ति और संघर्ष की आवाज भी उठाई। मजदूरों एवं किसानों की संघर्षशीलता का प्रतिफलन भी काव्य में हुआ है और उससे पूंजीवाद के मूल पर आघात किया गया है। पूंजीवाद के नाश के द्वारा व्यक्तिगत संपत्ति की परम्परा मिटाकर समानता की स्थापना के पक्षपाती इन कवियों ने पूंजीवाद की चालों का पहले वर्णन किया है और देश की आर्थिक दुर्दशा का सम्पूर्ण दायित्व पूंजीवाद की मुनाफाखोरी के सिर रखा है। काले बाजार की ओर संकेत करते हुए समशेर सिंह कहते हैं :—

भूख
अनाज
मुनाफाखोर
अनाजचोर का
छिपा-सा निर्जन में
अंधेरा बाजार।

मेहनतकशों की जीत के आग्रही शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने आर्थिक क्रान्ति का बड़ा तीखा स्वरूप सामने रखा है। वे पूंजीवादी जर्मनी की विजय की सारी संभावनाएं खत्म कर मेहनतकशों की सम्पूर्ण विश्व में जीत की कामना करते हैं :—

मेहनतकश की मेहनत होगी जग का एक सहारा।
मुठ्ठी बांध कहेंगे हम सब सारा विश्व हमारा।
इस जागृति के स्वर में जन-जन कण-कण आज शरीक है।
मास्को की तो बातें छोड़ो बर्लिन अब नजदीक है।

उदयशंकर भट्ट भी विद्रोह की भावना दबा नहीं पाते और भविष्य उनके सामने प्रत्यक्ष हो उठता है, जिसमें वे मानव को रुधिरस्नात और लक्ष-लक्ष ज्वालामुखियों से नवयुग का शृंगार होते देखते हैं और तब उनका प्रणयगीत क्रान्ति-गीत में हुंकार कर उठता है :—

देख रहा हूँ वह अदृश्य कल—
मानव रुण्ड रुधिर से न्हाता,
लक्ष-लक्ष ज्वालामुखियों से
नवयुग का शृंगार सजाता।
प्रणय गीत में क्रान्ति बोलती कब विद्रोह दबा पाता हूँ।

क्रान्ति में ही भट्ट जी विश्व-शान्ति देखते है, क्योंकि भूख और अशान्ति का हल क्रान्ति से ही हो सकेगा और तभी विश्व में शान्ति स्थापित होगी। ऐसी दशा में भी शोषितों को निर्बल नहीं होना है :—

भूख है, अशांति है, युद्ध और क्रान्ति है,
क्रान्ति विश्वशान्ति हो—हो न तू निर्बल ?

'सुमन' ने इसी क्रान्ति को परिवर्तन की संज्ञा दी है और उसमें ही जीवन का उत्कर्ष देखा है। इस उत्कर्ष के लिए ही नंगों-भिखमंगों की टोली नया उत्साह लेकर शोषक जग के विरुद्ध आवाज उठाने लगी है :—

नयनों में नव उत्साह लिए
नंगों भिखमंगों की टोली
शोषक जग के प्रति बोल रही
कुछ-कुछ परिवर्तित-सी बोली
मानव जीवन ही परिवर्तन परिवर्तन ही उत्कर्ष सखे।
आया है नूतन वर्ष सखे।

वे इस 'परिवर्तित-सी बोली' से ही सन्तुष्ट नहीं होते, बल्कि ऊंच-नीच के सारे आडम्बरों को भस्म कर देना चाहते हैं और अपने चरणों के प्रहार से पथ के अवरोधक कुश-कंटकों का दलन करने के लिए बढ़ते हैं :—

भस्मसात कर दूंगा क्षण में
ऊंच नीच के सब आडम्बर
कांप उठेगी निर्बल जगती
सिहर उठेगा सूना अम्बर
पाद प्रहारों से मैं पथ के कुशकंटक दलता जाता हूँ।

और भी—

तुम गर जो आज प्रलय होगी
शोषक वर्गों की क्षय होगी
दुनिया के कोने-कोने से
मजलूमों की जय-जय होगी।
अत्याचारी की छाती पर तुब चढ़ चलो तुम बढ़ चलो।
मजदूर किसानों बढ़ चलो।

शोषक जिसका खून निचोड़ चुके हैं, जिसमें रक्त विन्दु शेष नहीं, वही आज हंसिया-हथौड़ा लेकर शेष फन की कील ढीली करने को तत्पर है। इस क्रान्ति की आवाज को कवि सुमन के शब्दों में सुनें :—

चूसकर जिसको निचोड़ा
रक्त भी जिसका न छोड़ा

इस प्रकार अन्य कवियों ने भी भारतीय संस्कृति एवं समाज के दोषों की ओर ध्यानाकृष्ट किया है और उसमें नये मूल्यों की स्थापना की चेष्टा की है। लेकिन सुधारवाद की यह लहर इस युग में उतनी तीव्र नहीं है, जितनी पूर्ववर्ती युगों मे रही है।

(५) **भाषा का उद्धार**—भाषा का प्रश्न प्रत्येक युग मे अपना महत्व रखता है और इसमें इस दिशा मे प्रयत्न हुए कि हिन्दी को महत्ता प्रदान की जाय। इस महत्ता की दिशा मे हिन्दी को दो भाषाओं का विरोध सहना पड़ा एक अंगरेजी का और दूसरे उर्दू का। उर्दू का ही दूसरा रूप हिन्दुस्तानी है। गांधीजी हिन्दुस्तानी के पक्ष में रहे हैं क्योंकि उन्होने हिन्दुस्तानी को आम जनता की भाषा माना। लेकिन इसका विरोध किया गया, क्योंकि हिन्दुस्तानी में उत्तम साहित्य की रचना संभव नही थी।

प्रगतिवाद युग म राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में संघर्ष इतना तीव्र रहा कि भाषा के महत्व को अधिक प्रश्रय नही मिल सका। लेकिन इतना तो हुआ कि भाषा जन-जीवन के निकट की हो, इस ओर लोगों का ध्यान गया और इस दिशा मे प्रयत्न हुए।

जन-साधारण को महत्व देने के लिए भाषा का साधारणीकरण अपेक्षित था इसलिए कवियों ने सहज एवं बोधगम्य भाषा अपनाई।

(आ) काव्यकला : काव्यरूप, भाषा, छन्द आदि पर राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव—

प्रगतिवाद युग की काव्य चेतना में छायावाद का प्रभाव लक्षित है। इस युग की काव्य-भाषा सरलता की ओर अग्रसर हुई। लोकगीतों के जनप्रिय छंद भी अपनाये गये।

राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव इस काल में काव्य-कला पर भी पड़ा। गीति, सानेट, शोकगीत, संबोध गीत तो यथावत् इस काल में रचे ही गये, व्यंग्य शैली पर इस काल मे विशेष रचनाएं हुईं। निराला का कुकुरमुत्ता इसका एक प्रमाण है। नागार्जुन ने भी व्यंग्य इस काल में रचे। माचवे और रामविलास शर्मा ने भी व्यंग्यात्मक शैली में रचनाएं कीं।

कजली, विरहा, कव्वाली आदि के तर्ज पर हिन्दी में कविताएं भारतेन्दु युग तथा परवर्ती युग में भी रची गईं, लेकिन लोकगीतों के आधार पर लिखे गये गीतों को जनप्रियता प्रगतिवाद युग में विशेष मिली। नरेन्द्र, केदार, पंत और निराला ने लोकगीत की शैली को अपनी कविता का आधार बनाया।

प्रगतिवाद-युग में राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप भाषा, शैली और छन्द तीनों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

उपसंहार--प्रगतिवाद युग की राष्ट्रीय चेतना में मूलतः दो प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। पहली प्रवृत्ति है राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष और दूसरी है, आर्थिक दुरवस्था मिटाने के लिए संघर्ष। इन दोनों प्रकार के संघर्षों के फलस्वरूप प्रगतियुगीन राष्ट्रीय चेतना बहुत गतिशील, बहुत अधिक संघर्षात्मक एवं त्यागमयी हो उठी।

राजनीतिक दिशा में राष्ट्रीय चेतना लक्ष्य सिद्धि के निकट पहुँचती नजर आने लगी, क्योंकि इस काल में अंगरेजों की नीति बहुत अधिक समझौतावादी रही और इस क्रम में उन्होंने भारतीयों को राजनीतिक दिशा में बहुत सी सुविधाएं दीं। लेकिन बहुत अधिक संघर्षशील एवं पूर्ण स्वतंत्रता कामी होने के कारण भारतीय जनता ने इन सुविधाओं एवं सुधारों को नगण्य समझा और वह संघर्ष की दिशा में सदा प्रयत्नशील रही और एक क्षण ऐसा भी आया जब अंगरेजों ने भारतीय हाथों में देश की सम्पूर्ण सत्ता सौंप दी। फलस्वरूप इसी काल में भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई।

आर्थिक क्षेत्र में भी मानवतावादी दृष्टि रही जिसके फलस्वरूप मजदूर-किसानों के शोषण समाप्त कर नयी अर्थ-व्यवस्था स्थापित करने के लिए संघर्ष होता रहा। प्रगतिवाद के संघर्ष का मूल विन्दु यही आर्थिक स्वतंत्रता थी। उसने आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में राजनीतिक स्वतंत्रता को महत्वहीन एवं व्यर्थ बताया। आर्थिक दिशा में शोषण समाप्त कर पूंजीवाद के विनाश के लिए संघर्ष किये गये और वह संघर्ष बहुत व्यापक रहा। इस तरह आर्थिक क्षेत्र में खूब जोरों का संघर्ष चलता रहा।

सामाजिक क्षेत्र में विशेष प्रयत्न इस काल में सुधार के नहीं हुए, क्योंकि आर्थिक विषमता को ही सामाजिक विषमता एवं रूढ़िवादिता का मूल माना गया। उपदेशवाद की परम्परा का बहुत कुछ ह्रास उस काल में हुआ।

इस काल में धार्मिक दिशा में भी कोई ऐसा महत्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ जो अन्य युगों में हुआ है। भौतिकवादी दृष्टिकोण को इस युग में ग्रहण किया गया, जिसके फलस्वरूप सांस्कृतिक दिशा में नये मूल्यों की स्थापना हुई और लोग तर्क के माध्यम से रूढ़ियों का पुनर्परीक्षण करने लगे। इससे यह हुआ कि रूढ़िवादिता कुछ मात्रा में कम हुई। धार्मिक विद्वेष दूर कर एकता की स्थापना का नारा लगाया गया और मानव मंगल में ही सारे कार्यों की सिद्धि समझा जाने लगा।

राजभक्ति का अभाव इस युग में जागरूकता के फलस्वरूप रहा। संघर्ष की तीव्रता भी राजभक्ति के अभाव का एक कारण रही है।

जन्म-भूमि प्रति के प्रेम तथा अन्य कार्य भी यथावत इस काल में चलते रहे।

प्रगतिवाद युग के कवियों में अधिकांश ने साम्राज्यवादिता के विरुद्ध लिखकर श्रमिक वर्ग को जगाने और एक सूत्र में बांधने का प्रयास किया।

——o——

अष्टम अध्याय

समसामयिक युग (१९४७ ई० से १९५७ ई० तक)

काल-सीमा का निर्धारण-युक्तियां-नामकरण

समसामयिक युग की काल-सीमा का विस्तार १९४७ ई० के उत्तरार्ध से १९५७ ई० तक माना गया है। यह विस्तार विषय के विवेचन की दृष्टि से हुआ है, अन्यथा १९४७ के उत्तरखण्ड से १९५७ को अवधि को इस युग-विशेष के अन्तर्गत रखने की आवश्यकता नही थी।

आधुनिक हिन्दी काव्य मे राष्ट्रीय चेतना के विकास-क्रम में जैसे-जैसे मोड़ आते गये हैं, उनका विश्लेषण किया जा चुका है। १९४७ ई० मे भी इस चेतना के विकास की दिशा में नया पथ सामने आया। १९४७ ई० के पन्द्रह अगस्त को हिन्दुस्तान को भारत एवं पाकिस्तान नाम के दो राष्ट्रो मे विभक्त कर दिया गया और उन्हे अपना शासन सूत्र संचालित करने का पूरा अधिकार दे दिया गया। यह घटना राष्ट्रीय चेतना के ऐतिहासिक विकास क्रम मे बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखती है। करण कि इसके उपरान्त इसे पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हुई (यद्यपि भारत को गणतंत्र राष्ट्र बाद में घोषित किया गया) और अब विदेशी सत्ता मे शासन में भाग लेने की सहूलियते मांगने अथवा स्वतंत्र होने के अधिकार की घोषणा का युग समाप्त हो गया। भारतेन्दु-युग से इस काल तक भारतीय राष्ट्रीय चेतना ने विदेशी शासन की प्रतिक्रिया की छाया से विकास पाया, लेकिन अब उसमें पूर्ण परिवर्तन हो गया। इसलिये इस काल का प्रारम्भ स्वतंत्रता-प्राप्ति के इस बिन्दु से माना जाता है। इस बिन्दु से राष्ट्रीय चेतना की काव्यात्मक अभिव्यक्ति में आमूल परिवर्तन हो गया और इसलिए इस युग का प्रारम्भ काल इसे मान लिया गया है।

इस प्रबन्ध की रूप-रेखा १९५७ ई० में प्रस्तुत की गई थी। इसलिए १९४७ ई० के उत्तरार्ध से १९५७ ई० तक कीं अवधि तक इस युग का विस्तार मान लिया गया है। ऐसा नहीं समझा जाना चाहिये कि समसामयिक काल का विस्तार १९५७ ई० तक ही है। यदि १९५७ के पश्चात् प्रबन्ध की रूपरेखा बनती तो अवश्य ही उसके बाद के ३ वर्ष समाविष्ट होते।

समसामयिक नाम के किसी युग का प्रारम्भ १९४७ ई० के पूर्वार्ध अथवा उत्तरार्ध मे नहीं हुआ. लेकिन इसका प्रारम्भ स्वतंत्रता-प्राप्ति की तिथि से माना गया है, क्योंकि इस तिथि के उपरान्त हिन्दी काव्य की राष्ट्रीय चेतना मे नया मोड़ उपस्थित होता है। इसलिए इस विस्तार का कारण स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य की राष्ट्रीय चेतना ही है, जिसका प्रारम्भ १९४७ के १५ अगस्त से प्रारम्भ होता है और प्रबन्ध काव्य की रूप-रेखा प्रेषित करने के काल तक विवेचन की दृष्टि से संभव होने के कारण इसमें समाविष्ट है।

आलोच्यकाल को समसामयिक युग के नाम से संबोधित किया गया है। इस काल की कविता १९५३-५८ ई० तक प्रयोगवाद एवं उसके बाद नई कविता के नाम से अभिहित है। इन दोनो संज्ञाओं के स्थान पर एक भिन्न संज्ञा का प्रयोग सकारण है।

१९४३ मे 'तार सप्तक' के प्रकाशनोपरान्त प्रयोगवाद नाम इसके विरोधियों ने काव्य की नई विधा को दी। कवियों को यह नाम ग्राह्य नही हुआ और उन्होंने इसका विरोध किया। प्रयोगवाद नाम अभी स्वीकृत एवं प्रचलित भी नहीं हुआ था कि 'नई कविता' नामक पत्रिका के प्रकाशन द्वारा १९५८ ई० मे नयी कविता आई! यह कविता प्रयोगवादी नही, नयी है और अब नई कविता नाम चल निकला है। इसलिए यह नाम भी ग्राह्य हो सकता था।

इन दोनों नामों को स्वीकार न करने का कारण लगभग दस वर्षो के विवेच्य काल को दो खण्डों मे विभाजित कर विश्लेषण करने से बचता ही रहा है। यह बचाव संभव नहीं होता, यदि प्रयोगवाद के बाद की नई कविता मे कोई मौलिक दिशा-संकेत होता, कोई नया मोड़ उससे साहित्य में आता। ऐसा न होने के कारण ही यह उचित जंचा कि इन नामों से बच कर एक सामान्य नाम ही ले लिया जाय, जिससे काल की आधुनिकता का भी बोध हो जाय और उसमे नयी काव्य प्रवृत्तियों का भी समावेश हो जाय। नामो के विरोध के कारण भी एक सामान्य नाम को ग्रहण करने की दिशा में कदम उठाया गया है।

जहाँ तक स्वातंत्र्योत्तर राष्ट्रीय काव्य का सम्बन्ध है, उसकी गति विवेच्य दस वर्षो मे सामान्य ही रही है। उसमें कोई युगान्तरकारी विन्दु दृष्टिगत नही होता। इसलिए इस काल की आधुनिकता की अतिशयता का बोध कराने के लिए समसामयिक युग नाम उचित जंचा है।

(क) **परिस्थितियाँ**—राजनीतिक १९४७ ई० के १५ अगस्त के बाद से भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों की कहानी भिन्न है। १५ अगस्त से भारत ने औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त किया और ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत एक देश बना, क्योंकि प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य का गौरव इसे नहीं प्राप्त हो सका था। भारत उस समय पूर्ण अधिकार प्राप्त उपनिवेश ही रहा। अब भारत की समस्याएं विदेशी शासक से लड़ने से सम्बन्धित नहीं थीं, बल्कि अपनी आर्थिक दशा सुधारने तथा विकास करने से सम्बद्ध थीं।

अंगरेजों के स्वदेश-गमन तथा भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति ने अनेक विषम परिस्थितियाँ उसके सामने उपस्थित की। उस समय अनेक देशी रियासतें अपनी स्वतन्त्र इच्छा पर थीं और वे भारत अथवा पाकिस्तान में मिल सकती थी। इन देशी रियासतों का भारत में विलयन कर एक सुसंगठित [illegible]

था। काश्मीर भारत अथवा पाकिस्तान में विलय के पूर्व सोचना चाहता था। लेकिन पाकिस्तान के सैनिक अफसरों के नेतृत्व में उत्तरी पश्चिमी सीमा के कबायलियों ने काश्मीर पर आक्रमण कर दिया। अक्टूबर, १९४७ ई० में स्थिति अधिक गम्भीर हो उठी, क्योंकि आक्रमणकारी लूटपाट मचाते हुए काश्मीर की राजधानी श्रीनगर तक पहुँचने ही वाले थे। महाराजा ने इसी समय सैनिक सहायता के लिए भारत से अपील की और भारत में काश्मीर विलयन के पत्र पर हस्ताक्षर किये। तब भारतीय सेना काश्मीर की भूमि पर पाकिस्तानी सेना को हटाने के लिए उतरी। महाराजा के विलयन-सम्बन्धी कार्य को वहाँ के जन नेताओं ने स्वीकृति प्रदान की। भारत यह चाहता था कि काश्मीर की जनता बाहरी लोगों से मुक्त होकर स्वयं इस पर निर्णय दे कि वह भारत अथवा पाकिस्तान में किसके साथ रहना चाहती है। ३१ दिसम्बर को भारत ने सुरक्षा परिषद् में काश्मीर का मामला पेश किया जिसमें पाकिस्तान पर भारत पर आक्रमण का, आरोप लगाया गया, क्योंकि काश्मीर विलय के पश्चात् भारत भूमि का एक अंग हो गया था। समझौते के लिए कई प्रयत्न किये गये और अन्त में जनवरी, १९४९ में शान्ति सीमा-रेखा स्थापित हुई। पाकिस्तान द्वारा अधिकृत भाग आजाद काश्मीर नाम से पुकारा जाने लगा।

सुरक्षा परिषद् के अनेक प्रयत्नों के बावजूद आजतक काश्मीर की समस्या का समाधान नहीं हो पाया है ।

जूनागढ़ और हैंदरावाद के भारत मैं विलयन की कहानी भी उतनी ही रोचक है । जूनागढ़ सौराष्ट्र में स्थित है तथा वहाँ नवाब का शासन था। उसकी स्थिति इस तरह कि थी वह भारत के अतिरिक्त अन्य किसी से नहीं मिल सकता था; लेकिन बाहरी दवाव के कारण उसने पाकिस्तान में सम्मिलित होने की घोषणा की । वहाँ की जनता ने नवाब के इस निरंकुश निर्णय का विरोध किया और एक भीषण आन्दोलन उठ खड़ा हुआ । नवाव इस आन्दोलन से पागल हो उठे और भागकर पाकिस्तान में शरण ली । इसके उपरान्त वहाँ एक कामचलाऊ सरकार की स्थापना की गई । उसने भारत सरकार से जूनागढ़ का शासन अपने हाथ में ले लेने कीं प्रार्थना की और अन्त में जूनागढ़ भारत में सम्मिलित हुआ ।

हैदराबाद के शासक निजाम थे । हैदरावाद भारत के मध्य में स्थित कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण देशों रियासत थी । भारत के साथ ही देशी रियासतों के स्वतंत्र होते ही वहां के एक अल्प संख्यक राजनीतिक दल ने निजाम को स्वतंत्र राज्य रहने का सपना दिखाकर अपने हाथ का खिलौना बना लिया । इस दल के बहकावे में निजाम ने राष्ट्रीय व्यक्तियों एवं जनता पर अनेक अत्याचार किये और कराये । जनता ने अपूर्वं शान्ति, सहिष्णुता के साथ अत्याचारों का सामना किया, लेकिन धीरे-धीरे विद्रोह की आग सुलगती गई और हैदराबाद में अशांति व्याप्त हो गई । सरदार पटेल ने इस विषम परिस्थिति को शान्तिपूर्वक हल करने की चेष्टा की, लेकिन अत्याचारी अडिग तथा हठीले बने रहे । अन्त में सितम्बर, १९४८ ई० को भारत ने वहां पुलिस कार्रवाई प्रारम्भ की और कुछ दिनों में ही वह भारत में सम्मिलित हो गया । अन्य देशी रियासतें शान्तिपूर्वक भारत मे सम्मिलित हो गईं और इस प्रकार भारत एक सुसंगठित राज्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ ।

भारत के लिए संविधान बनाने की समस्या भी भारत को एक प्रमुख समस्या थी । इसके लिए १९४६ के दिसम्बर महीने में ही विधान सभा का गठन किया गया था । इस सभा की प्रारूप समिति ने फरवरी, १९४८ मे संविधान का प्रारूप प्रकाशित किया तथा उसी वर्ष नवम्बर में विचार-विमर्श के लिए संविधान सभा में प्रस्तुत किया गया । २६ नवम्बर, १९४९ को संविधान सभा ने अन्तिम रूप से भारत का संविधान स्वीकार कर लिया और २६

जनवरी, १९५६ को वह लागू कर दिया गया। इसके अनुसार अब भारत सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य घोषित किया गया और औपनिवेशिक अधिकार प्राप्त राज्य की स्थिति समाप्त हो गई। तब से अब तक भारत का शासन इसी संविधान के अनुसार हो रहा है।

भारत के सम्पूर्ण प्रभुसत्ता संपन्न गणराज्य घोषित होने के बाद भी भारत ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के साथ हो गया। उसके सम्बन्ध के आधार मे परिवर्तन की अपेक्षा हुई और इस सम्बन्ध में २७ अप्रैल १९४९ को एक सरकारी घोषणा हुई जिसके अनुसार ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य तो रहा, किन्तु राष्ट्रमण्डल में से ब्रिटिश शब्द हटा दिया गया। भारत की संविधान सभा ने १७ मई १९४९ को इस घोषणा को स्वीकृति प्रदान की। इस प्रकार राष्ट्रमण्डल का एक सदस्य वह स्वतन्त्र रहकर आज भी बना हुआ है।

इन समस्याओं के साथ और एक बहुत बड़ी समस्या थी जिसका समाधान स्वतंत्र होते ही भारत को करना पड़ा। वह थी शरणार्थियों की समस्या। पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान में हुए दंगों के फलस्वरूप अपना सर्वस्व गवां कर भारत लौटनेवाले शरणार्थियों की संख्या लाखों थी। इनके पुनर्वास का प्रश्न बड़ा कठिन था, क्योंकि स्वातन्त्र्योत्तर भारत की आर्थिक दशा अत्यन्त जर्जर थी। १९४७ के अन्त तक पाकिस्तान से भारत आये विस्थापितों की संख्या ८८.६ लाख थी। सरकार ने इन विस्थापितों को उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, बिहार तथा त्रिपुरा स्थित १६८ शिविरों में बसाया तथा अनेक व्यक्तियों को बसाये जाने मे सहायता दी। इन निस्थापितों को सरकारी ऋण भी दिये जा चुके हैं। अनेक व्यक्तियों को शिल्प एवं दस्तकारी के प्रशिक्षण भी दिलवाये गये हैं, जिससे वे अपनी रोजी-रोटी का प्रबन्ध कर सकें। इसके अतिरिक्त उन्हे पढाई-लिखाई मे भी अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। इस तरह बिस्थापितों के पुनर्वास की समस्या का हल किसी प्रकार किया गया है।

भारत ने अनेक समस्याओं के समाधान के साथ ही अपनी शक्ति भी बढ़ाई और एशिया का प्रमुख राष्ट्र बन गया। १९४९ में चीन में गणराज्य की स्थापना हुई, जिसका भारत ने हार्दिक स्वागत किया। कोरिया आदि के मामले पर भारत की नीति शान्ति की रही है। उसने विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए तटस्थता की नीति अपनाई। इसलिए उसने न तो अमरीकी गुट को अपनाया और न रूसी गुट को। वह स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में रहकर सभी मामलों में अपना स्वतंत्र विचार रखता आया और तटस्थ नीति के द्वारा शान्ति

स्थापित करने का प्रयास करता रहा है। कोरिया में शान्ति स्थापना की दिशा मे भारत का प्रयत्न बहुत सराहनीय रहा है।

तटस्थ रहकर शान्ति स्थापित करने के लिए ही उसने कोलम्बो राष्ट्र सम्मेलन की स्थापना के लिए प्रयत्न किये और कोलम्बो राष्ट्र सम्मेलन की पहली बैठक १९५८ के अप्रैल-मई महीने में कोलम्बो में हुई। इसमें इंडोनेशिया, पाकिस्तान, बर्मा, भारत तथा श्रीलंका सम्मिलित हैं। इन देशों ने विभिन्न अवसरों पर पारस्परिक हित के विषयों पर औपचारिक रूप से विचार-विनिमय किया। इस दिशा में सहायता एवं हित-साधन के लिए कोलम्बो योजना शुरू की गई है, जिसके अन्तर्गत भारत अन्य देशों से सहायताएँ ग्रहण करता रहा है तथा उन्हें सहायता देता रहा है। जून, १९५७ तक १३० विशेषज्ञों की सेवाएँ भारत को प्राप्त हुई हैं तथा ९८३ भारतीयों को अन्य देशों में प्रशिक्षण की सुविधाएँ प्राप्त हुई।

शान्ति के प्रयास की दिशा में जून १९५४ ई० मे भारत तथा चीन के प्रधान मंत्रियो की मुलाकात तथा संयुक्त बयान को कम महत्व नहीं दिया जा सकता। उन्होंने शान्तिपूर्ण समझौतो के प्रयास को आगे बढ़ाने तथा पारस्परिक सहयोग से शान्ति कायम रखने के लिए प्रयत्नशील रहने का निर्णय किया। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए अन्य चार सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया। इसी को पंचशील का सिद्धान्त कहते हैं। सहअस्तित्व के लिये किये गये इस समझौता का असर अन्य देशों पर भी पड़ा और उन्होंने शान्ति के लिए प्रयत्नशील रहने में योगदान किया। इस प्रकार भारत चीन अमेरिका, रूस तथा इंगलैण्ड के साथ समान मैत्री भाव से रहता आया है।

१९५४ ई० के अन्त में पांच कोलम्बो शक्तियों ने यह निश्चय किया कि अप्रैल १९५५ में बाण्डुंग मे एक अफ्रीकी एशियाई सम्मेलन बुलाया जाय जिसमें इन पांचों के अतिरिक्त अन्य २५ राष्ट्र सम्मिलित हों। इस सम्मेलन में ऐसे देश के प्रतिनिधि शामिल हुए जो कुछ समय पूर्व परतन्त्र थे (कुछ तो उस समय भी परतन्त्र थे), किन्तु डेढ अरब जनता का प्रतिनिधित्व करते थे। बान्डुंग सम्मेलन भी शान्ति के लिए किये गये प्रयत्न का ही एक कदम था। इसमे पंचशील का समर्थन किया गया और अपने घोषणा पत्र में उन्हें विस्तार देकर दस सिद्धान्तों तक पहुंचा दिया। इस सम्मेलन ने उपनिवेशवाद तथा रंगभेद की नीति का विरोध कर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का पक्ष सबल बनाया।

एटम तथा हाइड्रोजन बमों के निर्माण पर भी रोक लगाने की मांग की गई। इस सम्मेलन को चीन ने एक महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की तथा शक्ति-संतुलन की दिशा में एक नयी चीज सामने रखी।

पाकिस्तान ने १६५४ ई० में अमरीका के साथ सैनिक समझौता किया और उसका सैनिक अड्डा पाकिस्तान में बनने देना स्वीकार किया। फलतः पाकिस्तान में अमरीकी शस्त्राशस्त्र भरने लगे। रूस और भारत दोनों इनसे आतंकित हुए और दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ हुए। पाकिस्तान की यह तैयारी दोनों देशों के लिए खतरनाक थी।

काश्मीर का प्रश्न अभी बना हुआ था। भारत को इसलिए डर था, क्योंकि उसकी सीमा पर एक विरोधी राष्ट्र सैनिक तैयारियां कर रहा था, लेकिन भारत अपने शान्ति-स्थापना कार्य में तत्पर रहा। काश्मीर के मामले को सुलझाने के लिए १६५७ ई० मे सुरक्षा परिषद् के प्रतिनिधि श्री जारिंग भारत आये, लेकिन उनके आगमन से इस दिशा में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं हो पाया। नहरी पानी के लिए भारत और पाकिस्तान के बीच जो विवाद चल रहा था उसका समाधान करने के लिए विश्व बैंक ने एक प्रस्ताव रखा। पाकिस्तान ने उसकी शर्तों को अस्वीकार कर दिया। तबसे काश्मीर सम्बन्धी अनेक समस्याएं यों ही उलझी पड़ी है।

नये संविधान के अनुसार १६५५ ई० के पहले महीने में बालिग मताधिकार के आधार पर भारत में पहला साधारण चुनाव हुआ। उसमें कांग्रेस के सदस्य बहुमत से आये। यह पहला अवसर था जबकि भारत के प्रत्येक नागरिक को अपना मत देने का अधिकार दिया गया।

भारत का दूसरा आम चुनाव १६५७ ई० मे हुआ। श्री जवाहरलाल नेहरू दोनों बार भारत के प्रधान मंत्री निर्वाचित हुए। जनता ने उन्हे अपना विश्वास प्रदान किया और देश की उन्नति का दायित्व उनके सबल कंधो पर डाल दिया।

इन दोनों चुनावों से जनता में अधिकार चेतना का विकास हुआ और वह राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर अपने अधिकारों के उपयोग की ओर प्रवृत्त हुई। चुनाव में समाजवादी तत्वों को भी जनता का समर्थन प्राप्त हुआ और विभिन्न राज्यों में तथा केन्द्र में सदस्य निर्वाचित हुए। इस चुनाव में केरल में साम्यवादी दल को बहुमत प्राप्त हुआ और उसने श्री नम्बूदिरीपाद के मुख्य मंत्रित्व में सरकार बनाई।

करीब ३५ वर्ष पूर्व कांग्रेस ने भारत का नक्शा नये ढंग से बनाने के लिए भाषावार प्रान्तों के गठन का प्रस्ताव स्वीकार किया था। भारत के स्वतन्त्र होते ही भाषावार प्रान्तों के गठन के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुए। सबसे पहले मद्रास में तेलगु भाषी जनता ने तेलगू भाषी प्रान्त बनाने के लिए आन्दोलन खड़ा किया। यह आन्दोलन बहुत दिनों तक चला और अन्त में अक्टूबर १९५३ ई० में आन्ध्र प्रान्त की स्थापना हुई। इस मांग की बढ़ती स्थिति देखकर सरकार ने दिसम्बर, १९५३ ई० में राज्य पुनर्गठन आयोग की नियुक्ति की। आयोग ने अपना प्रतिवेदन १९५५ ई० में प्रस्तुत किया। उसने प्रान्तों के वर्तमान गठन को अनुपयुक्त, विवेकहीन तथा अवैज्ञानिक बताया और भाषावार प्रान्तों के गठन की सिफारिश की।

आन्ध्र की सफलता ने अन्य भाषा भाषियों को भी अपनी भाषा के आधार पर राज्य बनाने की प्रेरणा दी और महाराष्ट्र में इस तरह का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। कमीशन ने महाराष्ट्र प्रान्त के गठन के लिए सिफारिश की और कांग्रेस ने महाराष्ट्र राज्य के गठन का निश्चय किया। बम्बई शहर का गुजरात में रखे जाने का विचार भी कांग्रेस का था। इससे महाराष्ट्री बौखला उठे और उन्होने आन्दोलन शुरू किया। अन्त में इस सम्बन्ध मे एक बिल १९५६ ई० में पार्लमेण्ट में पेश किया गया जिसके अनुसार बम्बई राज्य की वर्त्तमान स्थिति बनाये रखते हुए सौराष्ट्र, कच्छ, मारवाड़ तथा विदर्भ को उसमें संयुक्त कर दिया गया। १ नवम्बर को वह बिल पास कर दिया गया। इससे गुजराती भाषी लोगों में उत्तेजना आई और उन्होंने आन्दोलन शुरू किया, किन्तु १९५७ ई० तक महाराष्ट्र राज्य स्थापित नहीं हो सका। इसका कारण गुजरात और महाराष्ट्र का, बम्बई शहर को लेकर होने वाला मतभेद है।

इस प्रकार भारत को स्वातन्त्र्योत्तर काल में अनेक भीतरी और बाहरी समस्याओं का सामना करना पड़ा लेकिन जनता के सहयोग से सरकार ने उनका समाधान यथासंभव किया।

सामाजिक—स्वतन्त्रता के लिए जिन दिनों संघर्ष किया जा रहा था, उन दिनों भी देश की सामाजिक दशा सुधारने के लिए कई आन्दोलन शुरू हुए। पाश्चात्य समाज व्यवस्था का अन्तरावलम्बन भी इस काल में हुआ और पाश्चात्य समाज व्यवस्था के बीज उगते नजर आने लगे।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में देश की सामाजिक परिस्थितियों में बहुत परिवर्तन हुआ। स्वतन्त्रता प्राप्ति ने साधारण जनमानस में यह भावना

उत्पन्न की कि अब आर्थिक और सामाजिक जीवन में परिवर्तन का उपयुक्त काल आ गया है। सरकारी दृष्टि भी इस ओर गई और उसने सामाजिक रूढ़ियों में परिवर्तन के लिए विधान का सहारा लिया है। इस दिशा में पहला कानून अस्पृश्यता निवारण विधान है जिसके अनुसार हरिजनों को सार्वजनिक स्थानों में प्रवेश का वैधानिक अधिकार प्राप्त हुआ। इसके फलस्वरूप अनेक मंदिरों में, जहाँ हरिजनों का प्रवेश निषिद्ध था, उन्हे प्रविष्ट कराया गया है। विश्वनाथ मंदिर वाराणसी, वैद्यनाथ मंदिर, वैद्यनाथधाम आदि में हरिजनों ने इसी वैधानिक अधिकार के फलस्वरूप प्रवेश प्राप्त किया। इस तरह हरिजनों को सामाजिक सामानताँ प्राप्त हो गई है, लेकिन जनसाधारण में अभी यह समानता का भाव नही आ पाया है, । पिछड़ी तथा वन्य जातियों के स्थान विधान सभाओं तथा अन्य नौकरियों में सुरक्षित हैं। इनके विद्यार्थियों को भी सरकारी छात्रवृत्तियां प्रदान की जाती हैं, जिससे इस वर्ग के बहुत से विद्यार्थी अब उच्च शिक्षा प्राप्त कर प्रगति पथ पर बढ रहे है।

हिन्दू समाज व्यवस्था मे अभूतपूर्व परिवर्तन स्वातन्त्र्योत्तर काल में हुए है। इस समाज मे अब संयुक्त परिवार की प्रथा धीरे-धीरे टूट रही है तथा जातीय कट्टरता का ह्रास होता जा रहा है। अन्तर्जातीय विवाह बहुत अधिक होने लगे हैं, जिनमे प्राचीन समाज-व्यवस्था की रूढ़िवादिता खंडित होती नजर आ रही है। सरकार ने हिन्दू कोड विधेयक पास करके प्रत्येक बालिग स्त्री-पुरुष को विवाह बंधन में बंधने का अधिकार प्रदान किया है, चाहे वह जिस जाति एवं गोत्र का भी क्यों न हो। इसी प्रकार विवाहित स्त्री-पुरुषों को निश्चित कारणों के आधार पर तलाक देने का अधिकार भी इस विधान के अनुसार प्राप्त है। तलाक की प्रथा हिन्दू समाज के लिए नई नहीं है, लेकिन वर्तमान स्थिति मे उसे सरकारी मुहर प्राप्त है और इस तरह समाज व्यवस्था में क्रान्ति उपस्थित की गई है।

नये विधान के अनुसार प्रत्येक बालिग नागरिक को अपना मत देने का अधिकार प्रदान किया गया है। इस दिशा में आर्थिक, लैंगिक अथवा सामाजिक ऊंच-नीच का विचार नहीं है। इस तरह विधान ने प्रत्येक व्यक्ति को समानता का अधिकार प्रदान कर उसे राजनीतिक रंगमंच पर ला खड़ा किया है। अब उसे यह गौरव प्राप्त है कि अपना शासक वह स्वयं निर्वाचित कर सकेगा। इस तरह सामाजिक जीवन में बहुत बड़ी क्रान्ति उपस्थित की गई है।

मादक द्रव्यों के निषेध के लिए सरकार ने इनकी आपूर्ति पर पूरा

नियन्त्रण रखा है और विभिन्न स्थानों में मद्य निषेध कानून लागू कर दिया गया है।

स्त्रियों के अनैतिक व्यापार की रोक-थाम की भी चेष्टा राष्ट्रीय सरकार द्वारा हुई है। इसके लिए ३० दिसम्बर, १९५६ में महिला तथा बालिका अनैतिक व्यापार दमन अधिनियम, १९५६ को रष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो चुकी है और इस दिशा में कार्य किया जा रहा है। पतिता स्त्रियों के उत्थान तथा उन्हें अच्छा नागरिक बनाने के उद्देश्य से देश में कई संस्थाएं काम कर रही हैं।

सार्वजनिक स्थानों पर भीख मांगने पर रोक लगाने के लिए कई अधिनियम स्वीकृत हो चुके हैं। ऐसे भिखारियों को सरकार पुनर्वास तथा सहायता देती है। बाल अपराध की रोकथाम के लिए भी बहुत प्रयत्न किया जा रहा है।

इस प्रकार सामाजिक क्षेत्र मे कई कल्याण केन्द्र खोले गये है, जिनके तत्वावधान में विविध सामाजिक कार्य किये जा रहे है। आबादी की रोकथाम के लिए संतति निग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया गया है तथा इसके लिए भी परिवार नियोजन केन्द्र विभिन्न स्थानों में खोले गये है।

आर्थिक—१९४७ ई० में भारत के विभाजन से न केवल राजनीतिक बल्कि आर्थिक क्षेत्र में भी अनेक अव्यवस्थाएं उत्पन्न हुईं। भारत में स्थापित नई राष्ट्रीय सरकार को युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था के दुष्परिणामों तथा मुद्रा स्फीति-जन्य विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। विभाजन के फलस्वरूप भारत मे चावल, गेहूं, कपास और पटसन जैसे कच्चे मालों की कमी पड़ गई, क्योकि इनके उत्पादन के क्षेत्र पाकिस्तान मे चले गये थे। इतना ही नही, स्वतन्त्र भारत मे पाकिस्तान से लाखो विस्थापित आये, जिनके पुनर्वास तथा सहायता देने का विषम दायित्व सरकार के कंधों पर आ गया। उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि न होने के कारण देश मे वस्तुओं के भाव बहुत बढ़ गये। परिवहन की अपर्याप्त व्यवस्था तथा औद्योगिक उपकरणों के अनुपयुक्त होने के कारण आयात जन्य कठिनाइयों का भी सामना सरकार को करना पड़ा। जनता को कांग्रेस द्वारा यह आश्वासन दिया गया था कि स्वतन्त्रता प्राप्त होते ही उसकी आर्थिक स्थिति सुधारी जायगी। इसलिए जनता ने आर्थिक उन्नयन की जोरदार मांग शुरू की। इस तरह सरकार के सामने अनेक कठिनाइयां थी जिनका समाधान कर सरकार को आगे बढ़ना था। इन

कठिनाइयों की विशालता की ओर संकेत करते हुए श्री वी० के० आर० राव ने ठीक ही लिखा है; 'सच तो यह है कि स्वतन्त्र भारत की नयी सरकार ने अगम-अपार आर्थिक कठिनाइयों के बीच जीवन की राह पर कदम उठाया था और जो आस्थावान् थे उनके अतिरिक्त किसी को भी यह स्पष्ट न था और न यह निश्चय था कि परिणाम क्या होगा ?

स्वतन्त्रता के बाद ही देश को कई बड़ी बड़ी आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। खाद्य, कच्चे माल, परिवहन, औद्योगिक उद्वेग, शरणार्थियों के पुनर्वास की समस्याएं तत्काल समाधान चाहती थीं। इनके साथ राजनीतिक समस्याएं तो थी ही।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के प्रारंभिक तीन वर्षो में सरकार आर्थिक समस्याओं की अपेक्षा राजनीतिक समस्याओं मे विशेष रूप से उलझी रही, लेकिन इसका अर्थ यह नही कि आर्थिक समस्याओं की उपेक्षा की गई। खाद्य समस्या का समाधान करना अनिवार्य था और १९४८ ई० मे खाद्यान्न पर नियंत्रण हटा लिया गया। प्रारम्भ में इसकी भीषण प्रतिक्रिया हुई और खाद्यान्नों के भाव तेजी से बढ़ने लगे। सरकार को लाचार होकर आठ महीने के बाद पुनः उसे नियंत्रित करना पड़ा। खाद्यान्न का अधिक अभाव ही इस तेजी का कारण था और इसके लिए आवश्यक था कि विदेशों से अन्न मंगाया जाय तथा देश में अन्न के उत्पादन में वृद्धि की जाय। इन दोनों दिशाओं में सरकार के प्रयत्न शुरू हुए और १९४८-५२ के पांच वर्षो में एक करोड़ बहत्तर लाख टन अनाज बाहर से मंगाया गया। यह १९४३ से १९४७ तक मंगाये गये खाद्यान्न का तिगुना था। 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन पर भी ४७ करोड़ रुपये खर्च हुए। इन प्रयत्नों तथा प्रकृति की अनुकूलता के फलस्वरूप १९५२ ई० से खाद्यान्न पर नियंत्रण हटाया जाने लगा और १९५४ ई० तक पूर्णतः हटा लिया गया। अब खाद्यान्न की स्थिति पर पूरा नियंत्रण पा लिया गया है।

सूती वस्त्र तथा पाट उद्योग के लिए कच्जे माल का अभाव स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारत में हो गया था, क्योंकि रुई तथा पटसन पैदा करने वाले क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये थे। उनके उत्पादन के लिए भी प्रयत्न किये गये और स्वतन्त्रता प्राति के बाद पांच वर्षों में उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप इन कच्चे मालों का अभाव अब नहीं रहा।

औद्योगिक और श्रमिक अशान्ति की समस्या ने भी सरकार को बहुत

परेशान किया। लड़ाई के दिनों में वस्तुओं के भाव खूब चढ़ गये थे और रहन-सहन का खर्च बहुत बढ़ गया था। इसलिए मजदूर वर्ग में काफी अशान्ति रही और अनेक औद्योगिक झगड़े हुए। सरकार ने निम्न आय वाले कर्मचारियों के वेतन एवं मंहगाई भत्ते मे पर्याप्त वृद्धि कर दी जिससे बाद के वर्षों मे हड़तालें कम हो गई और औद्योगिक प्रतिष्ठानों मे हड़ताल के कारण कम ही समय नष्ट हुआ। इससे औद्योगिक उत्पादन विशेष बढ़ा और अन्य अभाव भी क्रमशः दूर होने लगे। सरकार ने इन कर्मचारियों के लिए औद्योगिक आवास, कर्मचारी स्वास्थ्य बीमा, बोनस योजनाएं तथा श्रमिक कल्याण के लिए अनेक योजनाएं लागू की।

१९५१ ई० की जनगणना के अनुसार ७३ लाख बेघरबार लोग पाकिस्तान से भारत आये थे। इनमें से करीब ४५ लाख लोग १९४७ ई० में ही भारत आ गये थे। १९५७ के अन्त तक ८८·६ लाख व्यक्ति पाकिस्तान से भारत मे आ चुके थे। सरकार ने इन परिस्थितियों का सामना करने के लिए आवास का एक अलग मंत्रालय खोला तथा विस्थापितों के रहने के लिए मकान, काम के लिए दूकाने तथा औद्योगिक कार्यों के लिए पूंजी का प्रबन्ध किया। सरकार ने १९५५ ई० तक विस्थापितों की समस्या के समाधान के लिए २ अरब २३ करोड़ ७० लाख रुपये व्यय किये।

देश में आर्थिक विशृंखलता का बोलबाला था और सरकार इस तथ्य से पूर्णतः अवगत थी। १९५० ई० में वित्तमंत्री ने योजना आयोग की स्थापना की घोषणा की और १ अप्रैल; १९५० को यह आयोग संघटित हुआ। इसने देश के आर्थिक उन्नयन के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना का प्रारूप जुलाई, १९५० में प्रकाशित किया। १९५१ के अप्रैल महीने से प्रथम योजना शुरू हुई। प्रथम योजना के कार्यकाल में २,०६९ करोड़ रुपये खर्च किये जाने को थे। बाद में बेरोजगारी कम करने के लिए डेढ़ अरब रुपया और इस रकम मे जोड़ दिया गया था।

योजना की समाप्ति के काल (१९५६ ई०) तक उसके प्रेरक हेतुओं की अर्थ-व्यबस्था पर प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई है। कपड़े तथा अनाज का उत्पादन लक्ष्य की अपेक्षा अधिक हुआ। योजना के प्रथम वर्ष की तुलना में १९५५ के पूर्वाध तक कृषि में १८ प्रतिशत तथा औद्योगिक उत्पादन मे ३३ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। कपास, सीमेन्ट, अमोनिया सल्फेट, इंजन, तटीय पोत-व्यवस्था में अनुसूची के अनुसार ही-सब प्रगति हुई है, लेकिन मूल मशीनों

की तैयारी तथा समाज सेवा के कार्यों में अनुसूची से कम प्रगति योजना के प्रारंभिक तीन वर्षों में हुई !

पिछले पाँच वर्षों में योजना के फलस्वरूप भावों के स्तर मे दृढ़ता ही दृष्टिगत होती है। यदि योजना के प्रारंभिक वर्ष मे थोक भावों का सूच्यंक ४०९.७ माना जाय तो १९५४-५५ में बहुत अधिक व्यय बढ़ जाने पर वह ३७७.४ ही रहा है, यद्यपि कोरिया युद्ध के समय वह ४३४.६ भी हो गया था।

योजना के प्रारंभिक तीन वर्षों मे राष्ट्रीय आय मे १२.५ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

अर्थ-व्यवस्या की सुदृढ़ता का प्रतिबिम्ब सामुदायिक योजनाओ और राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डों के कारण गाँवों मे दीख पड़ता है। इनके मूल मे ग्राम विकास की समूची समस्या को हल करने का उद्देश्य निहित है। इसमे कृषि, सिंचाई, संचार, पूरक रोजगार आदि आर्थिक समस्याओं के साथ ही शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, प्रशिक्षण, समाज कल्याण आदि जीवन के महत्वपूर्ण अंगों के समावेश की भी योजना थी। प्रथम योजना काल मे १२०० खण्डों में कार्यारम्भ का लक्ष्य पूरा कर लिया गया है। १९५७ के अन्त तक सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत १, १८, ९५७ गांव तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा के अन्तर्गत १, ५७, ०६९ गांव आ चुके थे। इस योजना के अन्तर्गत कृषि, स्वास्थ्य तथा सफाई, शिक्षा, लोक संगठन, सड़क, कला तथा दस्तकारी आदि का पर्याप्त विकास हुआ है।

गाँवों मे महाजनों के बोलबाला के कारण गरीब किसानों को अधिक सूद दर पर रुपये कर्ज लेने पड़ते हैं। इस तरह उनका शोषण न हो इसके लिए सहकारी समिति के संघटन का फैसला किया गया और १९५५-५६ में सहकारी समितियों की संख्या २,४५,३९५ थी। इसके अन्तर्गत किसानों को सस्ते सूद पर ऋण देने की व्यवस्था की गई है, जिससे गांव के महाजन किसानों का शोषण न करें।

औद्योगिक विकास की दिशा मे भी देश ने आलोच्य काल के अन्तर्गत बहुत प्रगति की। लोहा, कोयला, सूती वस्त्र में आनुमानित उत्पादन की ओर हम बढ़ रहे हैं। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद रसायन उद्योग में काफी प्रगति हुई। निजी क्षेत्र में १९४६ से १९५० की अवधि में रसायन उद्योग सम्बन्धी ६५ कम्पनियां स्थापित की गयीं। पेट्रोल के तीन कारखाने प्रथम योजना के

अन्तर्गत खोले गये हैं। इनमें से दो ट्राम्बे में तथा एक विशाखापटनम में स्थापित है। १९५१ में उर्वरक कारखाना खोला गया है। १९५२ में सरकार ने सिन्धिया स्टीमशिप नेवीगेशन कम्पनी से विशाखापटनम जहाज निर्माण घाट खरीद लिया। अब तक इसमें विविध लम्बाई-चौड़ाई के १९ जलयान तैयार हो चुके हैं। भारत सरकार ने 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' तथा संयुक्त राष्ट्र संघीय अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट कोष' की सहायता से दिल्ली में एक डी० डी० टी० कारखाना स्थापित किया है। इसका उत्पादन कार्य १९५५ में प्रारम्भ हुआ। देश में पेनसिलिन की बढ़ती हुई आवश्यकता की पूर्ति के लिए पूना के निकट पिम्परी में एक कारखाना खोला गया है। इसका उत्पादन कार्य १९५५ में प्रारम्भ किया गया है। चितरंजन में स्थापित रेलवे इंजन कारखाने में डब्ल्यू जी० किस्म के १६८ इंजन प्रतिवर्ष तैयार किये जा रहे हैं। जोड़ हीन सवारी डिब्बों के उत्पादन कार्य १९५५ में पैराम्बूर में प्रारम्भ हुआ है। इनके अतिरिक्त रूरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर में इस्पात संयन्त्र स्थापित किये जाने वाले है। द्वितीय योजनाकाल में १०.९४ अरब रुपये के विनियोग की व्यवस्था की जाने वाली है, इससे औद्योगिक क्षेत्र में काफी विकास की सम्भावना है।

छोटे पैमाने के उद्योगों तथा कुटीर उद्योगों को भी दोनों योजनाओं में विकसित करने का प्रयास किया गया है। देश के कुटीर उद्योगों में लगभग २ करोड़ लोग लगे हुए हैं। इन उद्योगों की सहायता के लिये सरकार द्वारा ६ सङ्गठन स्थापित किये गये हैं : अखिल भारतीय खादी तथा ग्रामोद्योग आयोग, अखिल भारतीय दस्तकारी मण्डल, नारियल जटा मण्डल तथा रेशम मण्डल। छोटे-छोटे उद्योगों को द्वितीय सहायता सरकार तथा बैंकिंग संस्थान दोनों से प्राप्त है।

इस प्रकार देश की आर्थिक व्यवस्था दृढ़ता से विकास की ओर जा रही है। राजनीतिक परिस्थितियों की अनुकूलता के कारण आर्थिक जीवन की समस्याएं धीरे-धीरे समाप्त हो रही हैं, लेकिन यह सब सरकारी क्षेत्र में ही है।

वास्तव में दोनों पंचवर्षीय योजनाओं के बावजूद राष्ट्र के जनसाधारण मनुष्य के जीवन में कोई खास प्रगति नहीं हुई है। उसका आर्थिक उन्नयन नहीं हुआ है। किसान तथा मजदूर उसी प्रकार आर्थिक विषमता में घुल रहे

हैं। उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की योजना कुछ समय पूर्व कांग्रेस की थी, लेकिन १९४८ ई० में प्रधान मन्त्री ने घोषित किया कि वर्तमान उद्योगों का राष्ट्रीयकरण नहीं किया जायगा। इससे पूंजीपति वर्ग अधिक मुनाफा करता है तथा साधारण जन-जीवन में आर्थिक विषमता बढ़ती ही जा रही है। किसानों और मजदूरों की दशा में अब भी कोई परिवर्तन नहीं हो सका है।

बेरोजगारी भी इस काल में खूब रही है और अनेक मनुष्य अपनी जीविका अर्जित करने में अक्षम रहे हैं।

धार्मिक एवं सांस्कृतिक—वर्तमान स्थिति में धार्मिक मान्यताओं की रूढ़िवादिता धीरे-धीरे खत्म हो रही है। युग की बदलती हुई परिस्थितियों में धर्म का आडम्बर हट रहा है। वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने भौतिकवादी दृष्टि प्रदान की है जिसके प्रकाश में धार्मिक रूढ़िवादिता सम्बन्धी मूल्य बेजान सिद्ध हो रहे हैं। अब धर्म के प्रति वह आस्था नहीं है जो कुछ दशाब्दियों पूर्व थी।

भारत में अनेक धर्म हैं। आलोच्यकाल के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक धार्मिक विद्वेष के फलस्वरूप जो खून खराबी तथा लूटपाट हुई थी वह बहुत शर्मनाक और दर्दभरी थी। इसलिये इस बात की अपेक्षा थी कि भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित किया जाय। इस धर्मनिरपेक्षता ने सभी धर्मावलम्बियों को सहयोग का अवसर दिया है तथा धार्मिक विद्वेष की समाप्ति का प्रयत्न किया है।

भारतीय समाज में अब भी एक वर्ग ऐसा है जो धर्म की महत्ता स्वीकार करता रहा है और भारत के धर्मनिरपेक्ष राज्य होने पर उसने घोर आपत्ति की है। ऐसे लोग धर्म को राज्य से अलग करने के पक्ष में नहीं है, लेकिन उनकी मान्यता को स्वीकृति नहीं दी जा सकती, क्योंकि अनेक धर्मों वाले देश में यह सम्भव नहीं है कि किसी एक धर्म को प्रमुखता दी जाय जिससे धार्मिक संघर्ष की सम्भावना हो। इसलिये धर्म निरपेक्षता भारत जैसे देश के लिये अनिवार्य ही है।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी आलोच्यकाल में बहुत परिवर्तन हुआ है। पाश्चात्य संस्कृति के अन्तरावलम्वन के फलस्वरूप विवाह तथा संयुक्त परिवार सम्बन्धी विचारधाराओं का विघटन हो रहा है। अब अन्तर्जातीय सम्बन्ध की ओर लोगों का ध्यान गया है और इस तरह जातीय जीवन सम्बन्धी मान्यता मिट रही है। संयुक्त परिवार भी टूट रहे हैं और पाश्चात्य ढङ्ग के परिवारों का धीरे-धीरे विकास हो रहा है। वस्त्र, खानपान आदि के सम्बन्ध में भी

बहुत कट्टरता नहीं रह गई है और यह उदारवादिता स्नेह एवं सौहार्द्र का विकास करेगी, ऐसा विश्वास है।

कला तथा संस्कृति का विकास तत्सम्बन्धी जागरूकता जन-साधारण में उत्पन्न करने के लिये सरकार की ओर से विभिन्न संस्थाओं का संघटन हुआ है।

अक्तूबर १९५४ में ललित कला अकादेमी की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य चित्रकला, मूर्तिकला तथा स्थापत्य कला का अध्ययन तथा शोध करना है। यह संस्था इस दिशा में अन्तर्प्रान्तीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क स्थापित करने में सहयोग देती है। १९५४ ई० में ही राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय भी स्थापित किया गया जिसमें सौ कलाकारों के चित्रों का संग्रह है।

राष्ट्र की नृत्य एवं नाट्य परम्पराओं का विकास करने के लिये जनवरी, १९५३ ई० मे सङ्गीत नाटक अकादमी की स्थापना हुई। अकादमी ने १९५५ में दिल्ली में शास्त्रीय, परम्परागत तथा आधुनिक गीत-नृत्यों के एक राष्ट्रीय समारोह का आयोजन किया। मणिपुरी नृत्य शैली का प्रमुख प्रशिक्षण केन्द्र बनाने के लिये अकादेमी ने इम्फाल स्थित मणिपुर नृत्य कालेज को अपने हाथ में ले लिया है। लोक नृत्यों को भी अब प्रमुखता मिलने लगी है और वह वार्षिक गणराज्य दिवस का एक प्रमुख आयोजन बन गया है। १९५४ में अकादेमी ने राष्ट्रीय नाटक समारोह का आयोजन किया था जिसके अन्तर्गत भारत की सभी भाषाओं के नाटक खेले गये। आकाशवाणी से भी प्रादेशिक भाषाओं में नाटक प्रसारित किये जा रहे हैं। सङ्गीत के विकास के लिये अकादेमी तथा रेडियो ने काफी प्रयत्न किये हैं।

साहित्य अकादेमी की स्थापना मार्च, १९५४ में हुई जिसका कार्य राष्ट्रीय साहित्य का विकास करना है। इसके अन्तर्गत विभिन्न ग्रन्थों का अनुवाद, सम्पादन तथा प्रकाशन किया जाता रहा है।

अन्तराष्ट्रीय संस्कृति से सम्पर्क स्थापित करने के लिये हमारे देश से सांस्कृतिक शिष्ट मण्डल विदेशों में जाता रहा है तथा विदेशों के ऐसे मण्डल भी देश में आते रहे हैं।

शिक्षा विषयक—स्वातन्त्र्योत्तर काल में जैसे जीवन के अन्य क्षेत्रों में परिवर्तन एवं विकास हुआ है, वैसे शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रगति दीख पड़ती है। देश में शिक्षा का दायित्व राज्य सरकारों पर है। केन्द्रीय सरकार उच्च शिक्षा तथा विभिन्न संकायों के बीच सम्बन्ध स्थापन का कार्य करती है।

१९५५-५६ में ३,६६,६३ शिक्षा संस्थान देश में थे जिनमें ३३९·२४ लाख विद्यार्थी अध्ययन कर रहे थे और उन पर १८९·६६ करोड़ रुपये खर्च हुए।

वर्तमान राष्ट्रीय शिक्षा में बुनियादी शिक्षा को बहुत महत्व दिया गया है। योजना यह है कि प्राथमिक स्कूलों को बुनियादी स्कूलों में बदल दिया जाय। इसी प्रकार माध्यमिक शिक्षा आयोग द्वारा अगस्त, १९५३ में सुधार के लिये सुझाव दिये गये हैं, जिनके अनुसार वर्तमान स्कूलों को बहुद्देशीय स्कूलों में बदल दिया जायगा।

भारत में १९५७ ई० तक ३७ विश्वविद्यालय थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विश्वविद्यालयों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। इस काल में पञ्जाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ (१९४७), राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर (१९४७), पूना विश्वविद्यालय (१९४८), गौहाटी विश्वविद्यालय (१९४८), जम्मू तथा कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर (१४८), रुड़की विश्वविद्यालय, बड़ौदा विश्वविद्यालय (१९४९), गुजरात विश्वविद्यालय; अहमदाबाद (१९५०), कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ (१९५०), एस. एन. डी. टी. महिला विश्वविद्यालय बम्बई (१९५१), विश्वभारती विश्वविद्यालय, शान्तिनिकेतन (१९५१), बिहार विश्वविद्यालय, पटना (१९५२), श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति (१९५४), यादवपुर विश्वविद्यालय (१९५५), सरदार वल्लभ भाई विद्यापीठ, वल्लभ नगर आनन्द (१९५५), गोरखपुर विश्वविद्यालय (१९५७), जबलपुर विश्वविद्यालय (१९५७), विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन (१९५७) आदि की स्थापना हुई है।

सरकार ने विश्वविद्यालय की शिक्षा में प्रगति के लिये शिक्षा आयोग का गठन किया था जिसने अपना प्रतिवेदन दिया और उसके सुझाव के अनुसार १९५३ ई० में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की स्थापना हुई। इसका कार्य विभिन्न विश्वविद्यालयो के बीच एकरूपता स्थापित करना तथा आर्थिक सहायताएं प्रदान करना है। इसी की सिफारिश पर तृवर्षीय पाठ्यक्रम देश के सम्पूर्ण विश्वविद्यालयों में लागू करने की योजना है।

शोधकार्य के लिये विभिन्न विश्वविद्यालयों में तथा सरकार के द्वारा छात्रवृत्तियाँ तथा विदेश में अध्ययन के लिये प्रदान की जाती हैं। कला, संस्कृति, साहित्य तथा टेकनिकल शिक्षा के लिये अनेक छात्रों को विदेश भी भेजा जा चुका है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा के स्तर एवं उद्देश्य में आमूल परिवर्तन की अपेक्षा की गई थी। अंगरेजों द्वारा प्रदान की गई शिक्षा का उद्देश्य मात्र क्लर्क पैदा करना था। अब हम स्तन्त्र हैं और अब हमें विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति

करनी है। इसलिये हर तरह की शिक्षा की अपेक्षा हमें है। सरकार का इस दिशा में किया गया प्रयत्न सराहनीय है।

अन्यान्य—इस काल में उपर्युक्त महत्वपूर्ण स्थितियों के अतिरिक्त अन्य कार्य भी हुए।

२२ जुलाई १९४७ को भारत के संविधान सभा द्वारा राष्ट्रीय झण्डा स्वीकृत किया, जिसमें तीन बराबर आयताकार पट्टियाँ हैं। ऊपर केसरिया, मध्य में श्वेत तथा नीचे हरे रङ्ग की पट्टी लगाई गई है। मध्य में नील रङ्ग का सारनाथ के सिंह स्तम्भ वाला धर्मचक्र स्थापित किया गया है।

२६ जनवरी १९५० से भारत ने अपना राष्ट्रीय चिन्ह प्रारम्भ किया है जिसमें एक चौरस पट्टी पर तीन सिंह अङ्कित हैं। चौरस पट्टी के मध्य में उभरी नक्कासी में एक धर्मचक्र भी स्थापित है।

२७ दिसम्बर, १९११ के कलकत्ता अधिवेशन में गाये गये रवि बाबू के "जन गण मन" वाले गीत को २४ जनवरी, १९५० को राष्ट्रीय गीत के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

३० जनवरी १९४८ को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक सदस्य गोडसे ने भारत के बापू की दिल्ली स्थित बिड़ला मन्दिर में हत्या कर दी। इस घटना से देश को बहुत पीड़ा पहुँची। कई सप्ताह तक देश में मुर्दनी छायी रही। यह हत्या राष्ट्रीय महत्व की है।

१९५१ ई० में महात्मा गाँधी के शिष्य विनोबा भावे ने भूदान आन्दोलन प्रारम्भ किया। इसमें जमीन वालों से जमीन लेकर बेजमीन लोगों में बाँटने की योजना है। श्री भावे को इस दिशा में काफी सफलता भी मिली है।

भारत की राजभाषा के लिये भी बड़ी अशांति हुई है। किसे राजभाषा बनाया जाय यह सवाल बड़ा कठिन रहा है। स्वतन्त्रता के बाद अंगरेजी को राजभाषा नहीं रखा जा सकता था, क्योंकि वह हमारी सांस्कृतिक परम्परा वहन नहीं करती। तब भारतीय भाषाओं में हिन्दी ही ऐसी थी जिसे यह गौरव दिया जा सके, लेकिन अहिन्दी भाषियों द्वारा उसका खूब विरोध भी किया गया। उर्दू, बङ्गला तथा दक्षिणी भाषा भाषियों ने इस विरोध में विशेष भाग लिया। कई कारणों से यह विरोध और जोर पकड़ने लगा। सरकार ने जनता की इच्छा का आदर हिन्दी को राजभाषा बनाकर किया है, लेकिन अभी काम अंगरेजी में ही हो रहा है। दक्षिण भारत तथा बङ्गाल में हिन्दी प्रचार के लिये

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने खूब काम किया है। पञ्जाब में हिन्दी प्रचार का काम हुआ है।

(ख) उपर्युक्त परिस्थितियों का राष्ट्रीय चेतना पर समवेत प्रभाव—आलोच्यकाल की राष्ट्रीय चेतना स्वातन्त्र्य पूर्व की चेतना से भिन्न है। राष्ट्रीय चेतनायें तो सदा-सर्वदा राष्ट्र के नागरिकों में वर्तमान रहती है, लेकिन परतन्त्रता के समय अथवा विदेशी आक्रमण के काल में वह अधिक तीव्र एवं मुखर हो उठती है। विदेशी शासन समाप्त होने के कारण उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप अद्भुत राष्ट्रीय चेतना मन्द पड़ गई, लेकिन पाकिस्तान में हिन्दुओं पर तथा कश्मीर में होने वाले आक्रमण एवं अत्याचार की प्रतिक्रिया इस काल में भी वर्तमान रही।

पाकिस्तान में हुए दङ्गों तथा उसके फलस्वरूप हिन्दुओं के सर्वस्व लुटाकर भारत आने की प्रतिक्रिया भारत में भी हुई और कई स्थानों पर दंगे हुए। सरकार तथा असांप्रदायिक व्यक्तियों के प्रभाव से वे शीघ्र ही दबा दिये गये। इसलिये आलोच्यकाल के प्रारम्भ में हिन्दू राष्ट्रीयता अथवा मुसलमान विरोधी भावना का प्राधान्य रहा। देश में आये हुये विस्थापितों की करुणामय दशा ने अनेक धैर्यवानों को डगमगा दिया और हिन्दू राष्ट्रीयता अथवा सांप्रदायिक राष्ट्रीय चेतना इस काल में उभरी।

कश्मीर पर किये पाकिस्तानी आक्रमण, हैदराबाद की नृशंसता तथा जूनागढ़ के नवाब के निर्णय ने भी इस भावना की तीव्रता में बल दिया। कश्मीर के मामले ने तो विदेशी आक्रमण की आशंका पैदा की तथा राष्ट्र की रक्षा की भावना ने राष्ट्रीयता को उद्दीप्त किया। पाकिस्तान से नहरी पानी आदि के लिये चलने वाले विवाद भी राष्ट्रीय चेतना के विकास एवं प्रसार म सहायक सिद्ध हुए। १९५४ ई० में अमरीका के साथ पाकिस्तान की हुई सैनिक सन्धि से एक और आशंका पैदा हुई और इन परिस्थितियों ने पूरे विवेच्यकाल तक राष्ट्रीय भावना को तीव्र ही किया, मन्द नहीं होने दिया।

भारत की तटस्थ नीति तथा शान्ति स्थापना के अन्य कार्यों ने तीव्र होती हुई राष्ट्रीय भावना को कुछ मन्द ही किया है। कोलम्बो सम्मेलन तथा बांडुंग ने उसे शान्ति की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी और राष्ट्रीय उत्तेजना कम कर सहअस्तित्व के द्वारा समान रूप से रहने का मार्ग बनाया।

इन परिस्थितियों के बावजूद एक वर्ग भारत में ऐसा भी रहा है जो राष्ट्रीय उन्नयन के लिए जोर मारता रहा है। उस उन्नयन में सामाजिक

आर्थिक क्रान्ति की ओर उनका ध्यान अधिक रहा है। उन लोगों ने जनता की आर्थिक उन्नति अथवा समानता के लिए आवाज उठाई है। राजनीतिक समानता को वे आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना बेकार समझते हैं और आर्थिक समानता के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। सरकार ने भी जन-साधारण के जीवन में बहुत परिवर्तन लाने की चेष्टा की है, लेकिन इस दिशा में जन-साधारण को कोई लाभ नहीं हो सका है। बेकारी की समस्या ने समानता के अधिकार के लिए उठने वाली आवाज को अधिक जोरदार बनाया है। व्यक्तिगत मुनाफाखोरी की भी आलोचना की गई है तथा उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के लिए माँगें हुई हैं।

जो हो, लेकिन इतना तो साफ जाहिर है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से हमारी राष्ट्रीय उन्नति हुई है। उद्योगों का कई गुना विकास हुआ है तथा नये उद्योग राष्ट्रीय सरकार द्वारा खोले जा रहे हैं, जिसमें व्यक्तिगत मुनाफा की गुंजाइश नहीं है।

जनसाधारण को स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद गौरव प्राप्त हुआ है और अब वह समझने लगा है कि वह अब अपने देश का भाग्य विधाता है। उसी के निर्देश से राष्ट्रीय कार्य हो रहे हैं। आज प्रत्येक व्यक्ति को अभिव्यक्ति, निवास तथा मत देने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। इसके पूर्व कभी इस तरह का अधिकार जनता को प्राप्त नहीं हो सका था। इस तरह एक विधान तथा अन्य सरकारी मामलों में भारत की एक राष्ट्रीय परम्परा का विकास हो रहा है।

कला, संगीत, नाटक, साहित्य आदि की दिशा में भी हमारी सांस्कृतिक परम्परा को अक्षुण्ण रखने तथा विकसित करने की चेष्टा हुई है। राष्ट्रीय पंचाग, राष्ट्रीय गीत, राष्ट्रीय चिन्ह, राष्ट्रीय झंडा, राष्ट्रीय पर्व आदि हमारे भीतर सदा राष्ट्रीय चेतना की प्रेरणा भरते रहे हैं और भरते रहेंगे।

(ग) अभिव्यक्ति

(अ) काव्य विषय—आलोच्यकाल की परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण काव्य के विषय में भी नवीनता आई। अब तक विदेशी शासन के प्रति जो आक्रोश हिन्दी राष्ट्रीय काव्य-धारा में व्यक्त होता रहा, वह स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद न रहा। राष्ट्रीय हित, सांस्कृति विकास, आर्थिक उन्नयन, विदेशी आक्रमण के प्रति विरोधभाव तथा शान्ति स्थापना आदि विषय अब राष्ट्रीय चेतना के अन्तर्गत आये और उनपर ही कविताएं होती रहीं।

(१) **राजभक्ति**—भारतेन्दुयुग की राजभक्ति १९२० के आसपास तक रही। इसके उपरान्त देश में ब्रिटिश शासन के प्रति असंतोष भाव रहने, स्वतन्त्रता की चेतना तीव्र होने तथा उत्साह, शक्ति तथा निर्भीकता के कारण राजभक्ति विषयक रचनाएं छायावाद तथा प्रगतिवाद युग में नही हुईं। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी काव्य में ऐसी राजभक्ति दृष्टिगत नहीं होती, क्योंकि अब कोई ऐसी प्रभुसत्ता नही थी जिसके प्रति भक्ति भाव प्रकट किया जा सके। सम्पूर्ण जनता के माथे ही प्रभुसत्ता का मुकुट बंधा था। इसलिए जनता के प्रति श्रद्धाभाव उसकी महत्ता एवं शक्ति का गान स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य में विशेष रहा। सरकारी योजनाओं को प्रशस्ति भी गाई गयी, लेकिन वह सब कुछ प्रकारान्तर से देश की ही प्रशस्ति है। इस तरह इस दिशा में भी नयी प्रवृत्ति के दर्शन हम करते हैं।

(२) **देशभक्ति**—स्वातंत्र्योत्तर काल के प्रारम्भ में देशभक्ति की वही लहर लहराती दृष्टिगत होती है जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व देशभर मे व्याप्त हो उठी थी। स्वतन्त्रता के आगमन का स्वागत देश ने बड़े जोश एवं श्रद्धा से किया। परवर्तीकाल में यह उत्साह कुछ मन्द जरूर पड़ गया, लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि राष्ट्रीय चेतना का ह्रास होता गया। विविध परिस्थितियों की प्रतिक्रिया स्वरूप काव्य में जो स्फुरण हुआ वह राष्ट्रीय चेतना की ही अभिव्यक्ति है। इत तरह देशभक्ति की धारा आलोच्यकाल में मन्द नहीं पड़ने पाई।

अतीत वर्णन—देशभक्ति की सांस्कृतिक धारा अतीत गौरव गान के माध्यम से प्रकट होती रही है। अतीत के उज्ज्वल पृष्ठ से निराशा, दैन्य, परतन्त्रता-विजड़ित राष्ट्र को अत्यधिक प्रेरणा प्राप्त होती है और वह परतन्त्रता मे स्वतन्त्रता की ओर, दीनता से सम्पन्नता की ओर, निराशा से आशा की ओर बढ़ता है। इसलिये स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्वकाल में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति का एक माध्यम अतीत की उज्ज्वलता रही है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त देश में परतन्त्रता की जड़ भावना मिट गई और वह वर्तमान समस्याओं में इसी तरह उलझ गया कि अतीत की ओर मुड़ने का अवसर काव्य-धारा को नहीं मिला। स्वतन्त्रता के बाद देश में एक नयी आशा, नयी चेतना, नयी भावभूमि का उदय हुआ जिसमें अतीत-दर्शन एवं अतीत से प्रेरणा ग्रहण करने की प्रवृत्ति का ह्रास हो गया। इसलिए स्वातन्त्र्योत्तर राष्ट्रीय हिन्दी काव्य में अतीत-दर्शन की प्रवृत्ति नहीं दृष्टिगोचर होती। जैसे:

एकाध कवियों ने यदा-कदा प्राचीन गौरवमय जीवन को स्मरण किया है, लेकिन वह विरल ही है। बच्चन के 'आरती और अंगारे' से एक उद्धरण प्रस्तुत है—

ओ वेदों की स्वर्गीय गिरा के गायक।
जो तुमने गिरि-वन में जप-तप
कर उसको मनुहारा,
देवपुरी के फूलों पर से
भू की सेज उतारा।
आय, तुम्हीं ने वापी का
कौमार्य अछूता जान।
तुम सर्व प्रथम उस मुग्धा के अधिनायक।

इसी प्रकार अन्यत्र भी अतीत गौरव गाथा के संस्मरणात्मक फुटकल उल्लेख प्राप्त हैं। जिस रूप में पूर्ववर्ती युगों में अतीत को प्रेरणा भूमि की महत्ता प्रदान की गई थी यह इस काल में दृष्टिगत नहीं होती।

देशभूमि वन्दना—भारतेन्दुयुग से प्रगतिवाद युग तक कम-बेश जन्मभूमि के देवत्व का गान गाया जाता रहा है। राष्ट्रीय चेतना के स्फुरण मे भूमि का बड़ा महत्व है और इस महत्ता का गान राष्ट्रीय कवियों ने पूववर्ती युगों में कोटि-कोटि कण्ठों से किया है। आलोच्य काल में भी जन्मभूमि की वन्दना में अनेक पृष्ठ जुड़े और उसकी प्रशस्तियों का गान गया गया। भूमि का पुत्र मानव भूमि से अपना नाता न तोड़ सका और उसके प्रति सदा नतशिर होता आया। कवि बच्चन 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की परम्परा में एक और कड़ी जोड़ते हुए कहते हैं—

एक गीत ऐसा मैं गाऊँ, भूमि लगे स्वर्गों से प्यारी।
रूपमती, रंजति रसवन्ती
गंधमयी यह भूमि हमारी,
लेकिन फिर भी स्वर्ग प्रशंसित,
स्वप्न-कल्पना की बलिहारी
आज दूर का ढोल, निकट की
बीन बजें, दोनों झंकृत हों।

भारत को स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय सियाराम शरण गुप्त ने हिन्द की शतबार जयकार की तथा उसे विश्वरूपी सरोवर के सौरभमय अरविन्द से उपमित कर देश का जय गान गाया —

जय जय भारतवर्ष हमारे
जय जय हिन्द हमारे हिन्द,
विश्व सरोवर के सौरभ मय
प्रिय अरविन्द, हमारे हिन्द ।

हंसकुमार तिवारी को अपने देश पर अभिमान है । ऐसे देश पर अभिमान है जिसके पांव सागर पखारता है, जिसकी गागर गंगा भरती है, जिसके शीश पर विराजित हिमवान पर स्वर्ग सोता है । ऐसे देश के प्रति गौरवान्वित कवि कहता है—

जिसका पाँव पखारे सागर
गंगा भरे, संवारे गागर
सोये जिसपर, स्वर्ग वही तो
शीश-मुकुट हिमवान देश का ।

जनता, अमर भावना, गौरवगाथा आदि का जयगान कवि मुकुल ने किया और अन्नपूर्णा, तथा भुवन-विजय-श्री-संयुक्त भारत माता की जयकार की—

जय जनता, जय अमर भावना, जय गौरव गाथा ।
अन्नपूर्णा, भुवन विजय-श्री-जय भारत माता ।

नवीन जी ने भी मातृभूमि को जन-तारिणी, दैन्य हारिणी, विभु गुण-वन्दिनी, दृग आनन्दिनी, तिमिर निकन्दिनी आदि नामों से स्मरण कर वन्दना की है—

जनतारिणि, मन दैन्य हारिणी हे ।
विभुगुण वन्दिनि; दृग आनन्दिनि,
तिमिरनिकन्दिनि, तरणि हे ।

इनके अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी मातृभूमि की वन्दना की है और उसकी महत्ता के गीत गाये हैं । स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के काल में भी मातृभूमि के प्रति जन-मानस में श्रद्धा भाव अघोर बना रहा और उन्होंने उसकी शत-शत प्रशस्तियाँ गाईं ।

वर्तमान की प्रतिध्वनि—विवेच्यकाल की राष्ट्रीय कविता में वर्तमान की प्रतिध्वनि ही विशेष सुनाई पड़ती है । अन्य पक्षों की ओर कवियों का ध्यान कम गया है । वर्तमान की पहली प्रतिध्वनि आई स्वतन्त्रता के स्वागत में ।

बहुत दिनों के बाद राष्ट्र ने गुलामी के बन्धन से मुक्ति पाई और ऐसे अवसर पर राष्ट्रीय कवियों ने स्वतन्त्रता के स्वागत में शत-शत गीत लिखे।

भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्ति का श्रेय गांधी को है, अमर शहीदों को है, जनता को है। इसलिए स्वतन्त्रता के साथ जनता के भी गीत गाये गये। स्वतन्त्रता का स्वागत करते दिनकर ने 'अरुणोदय' का स्वागत किया, क्योंकि अरुणोदय ही स्वतन्त्रता का आगमन है—

परवशता सिन्धु तरण ! करके
तट पर स्वदेश पग धरता है
दासत्व छूटता है, सिर से
पर्वत का भार उतरता है।

कवि वन देवियों से आशिष मांगता है कि गंगा के मुख की लाज बनी रहे और आजादी का ताज माता के सिर पर सुशोभित होता रहे। स्वतन्त्रता की रक्षा की बलवती आकांक्षा कवि की इन पंक्तियों में है—

आशिष दो वनदेवियो ! बनी
गंगा के मुख की लाज रहे,
भारत के सिर पर सदा बना
आजादी का यह ताज रहे।

रामगोपाल रुद्र ने भी 'नया विहान' का स्वागत किया है और स्वतन्त्रता के आगमन से उनका दिल व दिमाग बुलन्दी पा लेता है—

गयी गुलाम दीनता
मरी पड़ी अधीनता
दिमागोदिल बुलन्द है
कि अब न द्वार बन्द है
विवर्ण देश को सुवर्ण हल मिला।

नये राष्ट्र के उठने के साथ ही देश में नयी चेतना जागती है और भारती युग प्रभात की आरती उतारती है—

राष्ट्र उठ खड़ा हुआ
चेतना है जागती,

आरती उतारती
आ रही है भारती।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से भारत ही नही विश्व के इतिहास में एक नयी शक्ति का विकास हुआ। सत्ताएं बदल गई। जन-जीवन की नयी व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ। एकाधिपत्य नाटक खत्म हो गया और धरती अब प्रकाश से उज्ज्वल हो उठी है। मुकुल ने इन शब्दों में जनता का जयनाद किया है—

सत्ताएं अब बदलीं, जनकी परिभाषा बदली।
स्वांग मिटा एकाधित्य का धारा हुई उजली।

नरेन्द्र शर्मा नव विहान बेला में नूतन जीवन का आग्रह करते हैं। उनकी एकान्त कामना है कि इस बेला मे आज प्राचीन व्यवस्था न रहे। मनुष्य पुनः किसी मनुष्य का दास न बने—

देश आज मांगता पवित्र एक वर
दास फिर बन न कभी पुत्र दास के।

इस कामना में भारत के अतिरिक्त अन्य देशों के मुक्त होने की भावना वर्तमान है। डा० नगेन्द्र ने ठीक ही लिखा है कि 'वास्तव में भारत ने अपनी विजय को एक देश की बन्धन-मुक्ति के रूप मे नही मनाया' उसने अपनी मुक्ति को साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद से सभी परतन्त्र देशों की मुक्ति का प्रतीक माना।

पंत ने 'स्वर्ण धूलि' में भारत के स्वातन्त्र्य में विश्व हित स्वर्ग-जागरण की घोषणा की है—

हो भारत स्वातन्त्र्य विश्व हित स्वर्ग-जागरण।

भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति पर जो जयनाद किया उसमें संयम है। इसमें उद्धतता अथवा गर्व का स्वर नहीं सुनाई पड़ता। इसका कारण यह है कि सत्याग्रह और अहिंसा के द्वारा प्राप्त की हुई स्वतन्त्रता का जयनाद उद्धत या गर्वित हो भी कैसे सकता था? दूसरा कारण यह कि देश की सांप्रादायिक, राजनीतिक तथा आर्थिक विश्रृंखलता के कारण इस विजय नाद पर करुणा की एक छाया वर्तमान है। इस छाया के कारण हिन्दी कविता की राष्ट्रीयता का विजय गान गर्वित नहीं है। साम्प्रदायिक परिस्थिति ने विशेष रूप से व्यक्तिगत

और सामूहिक दोनों स्तरों पर विजय को चिन्ता एवं करुणा मिश्रित बना दिया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही भारत का विभाजन भी हुआ और भारतवर्ष हिन्दुस्तान और पाकिस्तान नामक दो राष्ट्रों के रूप में विभाजित हो गया। इसके पूर्व तक भारतीय मानस में विभाजित भारत भूमि की कल्पना नहीं आई था। राष्ट्र के स्वरूप का बोध पश्चिमी सीमा प्रान्त से बंगाल तक होता रहा है। इसलिए राष्ट्र का बोध उसकी समग्रता में होता रहा। ऐसे समग्र रूप को दृष्टिपथ में रखने वाले राष्ट्रीय कवियों को विभाजन तीर की तरह लगा। उन्होंने कहा भारत माता के टुकड़े आज कर दिये गये। इस अंग-विच्छेद से गहरी चोट उनके मन को लगी और उन्होंने अपनी वेदना इस सम्बन्ध में जाहिर की। भारत विभाजन के बावजूद उनका मन पाकिस्तान से अलग न हो सका और उन्होंने देश के पुनः एक हो जाने की अनेक आशाएँ प्रकट कीं। दिनकर विभाजन में माता के अंचल का फटा होना देखते हैं और उसे सीने के लिए देशवासियों से लहू और पसीना माँगते हैं—

मां का अंचल है फटा हुआ,
इन दो टुकड़ों को सीना है,
देखें, देता है कौन लहू,
दे सकता कौन पसीना है।

बच्चन विभाजन की मूल समस्या पर पहुँचते हैं। भारत का विभाजन मिथ्यांध, मोह-मत्सर, विवेकहीनता के कारण हुआ है। कवि को आशा है कि एक दिन एक अवश्य ही खंडित भारत एक बनेगा। इस भूमि के भाग्य भी जगगे और भारत माता अपने सभी पुत्रों का समाहार करेगी।

मिथ्यांध मोह-मत्सर को जीतेगा विवेक
यह खंडित भारतवर्ष बनेगा पुनः एक,
इस महाभूमि का निश्चय है भाग्याभिषेक,
मां पुनः करेगी सब पुत्रों का समाहार।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इन कवियों से पाकिस्तान को हड़पने अथवा आक्रमण जैसी किसी नीति के कारण ऐसी बात कही है। उनका प्रेम, उनकी भ्रातृत्व भावना ने एक सूत्र में बंधने की आशा व्यक्त करने पर जोर दिया है। उनकी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति ऊपर की इन पंक्तियों में नहीं

है। इनमे विवेकहीन अपने बन्धु के अलग हो जाने की व्यथा के साथ उसके फिर एक हो जाने की कामना की अभिव्यक्ति है।

नयी आजादी ने जनता को गरिमा दी और भारत में जनता सिंहासनारूढ़ हुई। २६ जनवरी, १९५० भारतीय जनता के इतिहास का वह चमकता हुआ पृष्ठ है जब उसे स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। स्वतन्त्रता प्राप्ति के इस दिन से जनता की महत्ता, शक्ति एवं गौरव का गान गाया जाने लगा। यों तो इसके पूर्व से ही जनता की गौरव गाथा छन्दोबद्ध होती रही हैं, लेकिन इस दिन के पश्चात् उसके अतुलित बल की, गौरव की प्रशस्तियाँ शतधा होकर फूटीं। जनता के अमर गायक रामधारी सिंह दिनकर ने कहा कि जनता न तो फूल की तरह है जिसे जब चाहा दोनों में सजा लिया और न वह दुधमुँही बच्ची है जिसे दो-चार खिलौने के अन्तर-मन्तर से बहलाया जा सके। जनता जब कोपाकुल होकर भौंहें तिरछी करती है तो भूडोल होता है, बवण्डर आता है। इसलिए समय के रथ का नाद सुनकर सिंहासन खाली करो कि उसपर जनता आरूढ़ हो—

लेकिन होता भूडोल, बवण्डर उठते हैं,
जनता जब कोपाकुल हो भृकुटि चढ़ाती है,
दो राह, समय के रथ का घर्घर, नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

समय चक्र परिवर्तित हो गया है और आज राजा का नहीं, प्रजा का अभिषेक होगा। इसलिए तैंतिस कोटि जनता के लिए आज सिंहासन तैयार करो तथा उसके सिर पर राजमुकुट स्थापित करो। दिनकर की ओज भरी वाणी में इन भावों का अंकन देखिये—

सबसे विराट जनतन्त्र जगत का आ पहुँचा,
तैंतीस कोटि हित सिंहासन तैयार करो;
अभिषेक आज राजा का नहीं प्रजा का है,
तैंतीस कोटि जनता के सिर पर मुकुट धरो।

ऐसी सत्ताधारिणी जनता के फिरकेपरस्ती भूलकर एकत्व स्थापित करने की कामना भी राष्ट्रीय कवियों ने की है। संयोग में ही शक्ति निहित है। इसलिए आज इस बात की जरूरत है कि साम्प्रदायिक जहर से जन-जीवन मुक्त हो। इस संयुक्त सत्ता पर देश का विकास भी निर्भर है। ऐसा नहीं कि मानव इस तथ्य से अवगत न हो। वह सब में अपने आपको सम्मिलित देखता है,

धार्मिक विभेद के कारण फूट पैदा होगी और उससे राष्ट्र का अशिव होगा। अशिव के निवारण के लिए हिन्दू मुस्लिम एकता का भाव पैदा करना अपेक्षित था। इस तथ्य से अवगत सियारामशरण गुप्त ने जयहिन्द में भारत की संतति को एकता पर बल देते हुए कहा--

संततियाँ तेरी एक ही समान,
हिन्दू बौद्ध क्रिश्चियन पारसी मुसलमान।
पूरे देश भर में
पूरब से पश्चिम में दक्षिण से उत्तर में
जाता और आता रहा
नूतन प्रतिष्ठा नित्य पाता रहा
भिन्नता में भी अभिन्न वसुधा का एक ज्ञान।

हिन्दू-मुस्लिम भिन्नता एवं भेद की खाई पाटने के लिए कवि ने जनता का जयगान किया, निखिल विश्व की पीड़ित मानवता का अभय वरदान दिया--

प्रार्थना है जन-जन की,
जन की होवे जय यह जनता की जय हो।
निखिल भुवन की
पीड़ित मनुष्यता जहाँ भी हो अभय हो।

कवि अरुण ने विश्व मानव का स्वर सुना है और मन्दिर-मस्जिद की विविधता में भी एकता की आवाज सुनी है--

सुनती है आवाज एक चुपचाप विविधता
बुला रही मन्दिर मस्जिद को स्वयं एकता।

अंचल ने क्रान्ति के क्षणों में मजहब के पुराने शव को दफना देने की कटिबद्धता प्रकट की है तथा धर्म के नंगेपन को 'हिन्दू हिते' की आवाज को मिटाने का मन्त्र फूंका है--

यह कौन खड़ा सन्नाटे में 'हिन्दू हित' की आवाज लिए
यह कौन खड़ा है धर्म लिए, है नंगेपन की लाज लिए
'मजहब मजहब' चिल्लाकर रोकेगा अब कौन पुरातन शव
जिसकी बाहों ताकत, रोक सके जो तूफानी विप्लव।

रांगेय राघव ने सारे संसार को कुटुम्ब की तरह बनाने की कामना व्यक्त की है। अब 'विजय-वरण' के साथ ही सारे संशय, भय, संकोच आदि के बन्धन टूट गये। अब मानवता ने बन्धनों के जाल को रौंद डाला है—

सारा संसार
कुटुम्ब कबीला जैसा एक हो।
अब भय नहीं, संशय नहीं
संकोच का बन्धन नहीं
अब तोड़ डाला रौंद डाला बन्धनों का जाल।

अब भेद की आवश्यकता नहीं है। कवि इस आपसी भेदभाव को भूल एक होकर आगे बढ़ने को कहता है—

न भेद आपसी रहें
न दैन्य दुःख कुछ रहें
बढ़ें कि हम बढ़ें बढ़ें।

इस प्रकार साम्प्रदायिक भेद-भाव भूलकर एक तार में अनुस्यूत होने की कामना स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी राष्ट्रीय काव्य में व्यक्त होती रही है। यह मानवता का गान लघु मानवता का गान नहीं है, बल्कि विराट् मानवता का गान है, जिसमें साम्प्रदायिक अनेकता का महत्व कुछ भी नहीं है।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में जहां साम्प्रदायिक विभेद को मिटाकर राष्ट्रीय भावना को दृढ़ता प्रदान की गई वहां विदेशी आक्रमणों ने उसे उद्दीप्त किया। फलतः आलोच्यकाल में राष्ट्रीय चेतना विकसित ही होती गई। कश्मीर के भारत संघ में सम्मिलित होने के बाद उसपर हुए आक्रमण को राष्ट्र पर हुआ आक्रमण मान लिया गया और विदेशी शत्रुओं को अपनी भूमि से दूर हटाने की बलवती कामना जाग उठी। जन्मभूमि के प्रति श्रद्धा एवं प्रेम भावना को कश्मीर की समस्या ने बहुत तीव्र किया। राष्ट्र की वर्तमान परिस्थितियों को अनुकूल बनाने की प्रेरणा से बच्चन मर्माहत हो उठते हैं। कश्मीर, हैदराबाद की समस्याएं उनके मन को सालती हैं—

तलवार झूलती काश्मीर की किस्मत पर,
हैदराबाद बारूद बिछाने में तत्पर,
नेताओं में आपस के झगड़े ठने हुए,
संयोग बुरे दिन, वे हैं सारे, बने हुए।

दिनकर 'भारतीय सेना के प्रयाण गीत' में भारतीय वीरों को ललकारते हैं तथा हिन्दुस्तान के जीवन की कामना प्रकट करते हैं। वे सिन्धु की कसम खाकर घोषित करते हैं कि इस भूमि पर कोई विदेशी जहाज नहीं ला सकेगा। भारतीय सीमा के अन्तर्गत कोई विदेशी पग नहीं रख सकता—

हिन्द-सिन्धु की कसम, कौन
इस पर जहाज ला सकता है ?
सरहद के भीतर कोई
दुश्मन कैसे आ सकता है ?

भारतीय जन दूसरों का कुछ लेना नहीं चाहते, लेकिन वे आत्मरक्षा के लिए कटिबद्ध हैं। जिसकी ऊँगली भारत पर उठेगी उसे भारतीय यमपुर पहुँचा देंगे। देश-रक्षा जनित उनकी लालसा देखिये—

पर की हम कुछ नहीं चाहते,
अपनी किन्तु बचायेंगे,
जिसकी उंगली उठे, उसे
हम यमपुर को पहुँचायेंगे।
हम प्रहरी यमराज समान,
जियो जियो जय हिन्दुस्तान।

और भारत के वीर सैनिक 'लद्दाख की घाटी' मे उतरे। हिमगिरि के हृदय को हुलसाने तथा एशिया के गौरव को प्रकाशित करने के लिए अकेला भारत युद्ध में उतर पड़ा। खड्ग हस्त भारतीय वीर रण-प्रांगण में कूद पड़े, और पाकिस्तानी की परवाह न की—

भारत धन्य चला एकाकी हिमगिरि को हुलसाने,
अखिल एशिया के गौरव की विमल विभा विकसाने।
खड्ग हाथ में ले तू उतरा रण-प्रांगण में योधा,
पाकिस्तान कोप-कुण्ड में अपना शोणित शोधा।

लद्दाख की घाटी के साथ भारतीय संस्कृति की अनेक स्मृतियां जुडी हैं। जब भारत विश्व का सम्राट् बनकर भी भिक्षुक रूप में बाहर आया तो इस लद्दाख की घाटी ने उसके चरणों को प्यार से सहलाया था, लेकिन उसी घाटी में पाकिस्तानी आक्रामकों के फलस्वरूप खून की बूंदें बरस रही हैं और तलवार

की नोंक पर स्थित जीवन भयानकता एवं करुणा का चित्र प्रस्तुत कर रहा है—

संसृति का सम्राट् भिक्षु बन भारत जब निकला था,
जिस घाटी ने प्रथम प्यार से उसका पैर मला था,
उस घाटी में आज रक्त की बूंदे बरस रही हैं,
तलवारों से खिंची हुई तस्वीरें तरस रही हैं।

रक्त रंजित कश्मीर का एक चित्र अली है सरदार जाफरी प्रस्तुत करते हैं। वह कवि की दृष्टि में सुहाग भरी एक दुलहन-सी दिखती है। वह आज हर कली में चिनगारी और हर फूल की डाल से आग निकलते देखता है—

खून चेहरे पे मल के उठी है
यह है काश्मीर की दुलहन का सुहाग
हर कली बन गई है चिनगारी
शाखो गुलों निकल रही है आग।

माखनलाल चतुर्वेदी बलि और उत्सर्ग के गायक कवि है। वे कश्मीर की समस्या के लिए बलिदान की माँग करते हैं—

जब बलि रक्त-बिन्दु निधि माँगे
पीछे पलक, शीश कर आगे
सौ-सौ युग अँगुली पर जागे
चुम्बन सूली को अनुरागे
जल काश्मीर हमारा बल हो।

वे बिस्तरे पर मरने वाले और कश्मीर की घाटी में हिमशिखर पर मरने वाले की जीवन की तुलना करते हैं और प्रकारान्तर से बिस्तरे पर मरने वाले की भर्त्सना तथा बलिदानी सिपाही की प्रशंसा कर प्रत्येक भारतीय मे बलिदान की भावना भरते हैं—

वह मरा काश्मीर के हिम शिखर पर जाकर सिपाही,
बिस्तरे की लाश तेरा और उसका साम्य क्या है ?

काशमीर पर आक्रमण करने वाले दुश्मन की तलवार ने भारत को चुनौती दी। धरती की आर्त्त पुकार ने भारतीय वीरों से लहू का दान माँगा—

आज चुनौती दी है युग को दुश्मन की तलवार ने।
माँगा हमसे नया लहू धरती की आर्त पुकार ने।

और तब कवि, घनश्याम अस्थाना, ने तरुणों को उनके उठते जुनून की कसम दी, बारामूला के शहीदों की कसम दी, नये हिन्द के ताज की कसम दी और कसम दी बागी की आवाज की। वे तरुणों को बढ़ने और लड़ने को ललकारते हैं—

तुम्हें क़सम है तरुणाई के उठते हुए जुनून की,
तुम्हें कसम है बारामूला के शहीद के खून की,
बढ़ते जना, तुम्हें कसम है बागी की आवाज की,
लड़ते जाना, तुम्हें कसम है नये हिन्द के ताज की,
भेजा तुम्हें सलाम शहीदों के हर एक मजार ने।

कश्मीर केसर की क्यारी है। वह भारत मां का वह शृंगार है जिसपर सम्पूर्ण संसार ललचा उठा। उसे मुण्डमाल देकर भारतीय वीरों ने सुरक्षित किया, लेकिन साम्राज्यवादी अमरीका पाकिस्तान को बहका कर उस सौन्दर्य सृष्टि में अंगारे सजाता है। यह देखकर कवि, माखनलाल चतुर्वेदी, का हृदय व्यथित हो उठता है—

भारत मां का वह सिगार काश्मीर,
कि जिस पर जग ललचाया,
धन्य भाल, नव मुण्डमाल दे,
जिसे देश ने आज बचाया।
केसर के बागों में क्या,
अमरीका अंगारे बोवेगा ?

यह कविता उस समय रची गई थी, जब अमरीका के साथ पाकिस्तान के सैनिक समझौते की बात चलने लगी थी। कवि को भय होता है समझौते से। वह सोचता है कि अब अमरीका वहाँ नये गुल खिलायेगा।

नागार्जुन भी साम्राज्यवादी अमरीकी शक्ति को पहचानते हैं। उसे उन्होंने राक्षस की संज्ञा दी है और कहा है कि उसके दांत केवल कश्मीर पर ही नहीं, वियतनाम और कोरिया पर भी गड़े हुए हैं—

काश्मीर पर, वियतनाम पर गहरे जिनके दांत गड़े हैं
घबरा कर कोरिया मुलुक पर वे ही राक्षस टूट पड़े हैं।

वे साम्राज्यवाद के विरोधी हैं। इसलिए न तो वे पाकिस्तान का और न हिन्दुस्तान का ही हक कश्मीर पर मानते हैं। वे नये कश्मीर का सृजन करना चाहते हैं—

हिन्दुस्तानी पाकिस्तानी दोनों जग से न्यारा,
नयी तरह का काश्मीर हो यही हमारा नारा।

देशभक्ति की उद्दाम भावना कश्मीर के प्रश्न को लेकर फिर से जाग उठी थी और हर भारतीय उसकी रक्षा के लिए तैयार हो उठा। हिन्दी के राष्ट्रीय कवियों ने इस अवसर पर भारतीय नसों में राष्ट्रीय चेतना की बिजली जगाई है।

इन वर्तमान समस्याओं के साथ ही भारत के विकास की भी एक प्रमुख समस्या सामने आई है। किसका विकास ? जन जीवन का विकास। वह जन जिसके खून से आजादी मिली, नया सवेरा सामने आया। कवियों ने इसी जन-समूह के विकास का नारा लगाया है। इसलिए शिव की कामना शिवमूर्ति मिश्र 'शिव' करते हैं। वे अशिव और असुन्दर से लड़ने के लिए सदा बढ़ना चाहते है—

बाँधो मत चरणों को स्वर से
बढ़ने ही दो प्रिय निर्झर-से
हैं लड़ना अशिव-असुन्दर से।

आजादी तो मिली, लेकिन सारा देश अभी कष्टों में छटपटा रहा है, विपत्तियों से व्याकुल है। दिल्ली में चारों ओर प्रकाश-किरणें व्याप्त हैं, लेकिन सम्पूर्ण देश में अभी अन्धकार छाया हुआ है। तात्पर्य कि सम्पूर्ण देश अभी दुख से पीड़ित है, लेकिन शासक वर्ग रंगरंलियाँ मना रहा है। दिनकर अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए कहते हैं—

भारत धूलों से भरा आंसुओं से गीला,
भारत अब भी आकुल विपत्ति के घेरे में,
दिल्ली में तो है खूब ज्योति की चहल-पहल
पर भटक रहा है सारा देश अंधेरे में।

कवि ने बापू के नाम पर ऐश करने वाले स्वदेशी शासकों की अर्थलोलुपता की, व्यंग्य के माध्यम से, खूब भर्त्सना की है—

हमें सीख दो शान्ति और संयत जीवन की
अपने खातिर करो जुगाड़ अपरिमित धन की
बेच-बेच कर गाँधी जी का नाम
बटोरो वोट
हिलाओ शीश
निपोड़ो खीस
बैंक बैलेन्स बढ़ाओ
राजघाट पर बापू की वेदी के आगे अश्रु बहाओ
तैरो घी के चहबच्चों में,
अमरित की हौदी में बाबू खूब नहाओ
हमें छोड़ दो राम भरोसे
जियें तो भले, मरें तो भले
क्या बिगड़ेगा अजी तुम्हारा।

केदारनाथ अग्रवाल खादी लपेटे स्वार्थियों को पेट पूजा की कमाई में जुटे देखते हैं और उन्हें लगता है कि देश की छाती दरक गई—

देश की छाती दरकते देखता हूँ
थान खद्दर के लपेटे स्वार्थियों को
पेट पूजा की कमाई में जुटा मैं देखता हूँ।

इसलिए व्यवस्था के खिलाफ आवाजें उठाई गईं। त्रिलोचन शास्त्री ने नये सबेरे की बेला में घुटते मनुष्यों को बन्धन तोड़ देने का संदेश दिया है—

अगर घुटन हो प्राण छटपटायें तो घेरा
तोड़ फोड़ दो, क्योंकि हुआ है नया सबेरा।

शिवमूर्ति मिश्र 'शिव' युग-जन का मौन तोड़कर उसे वाणी देना चाहते हैं, उसे जीवन का स्वर देना चाहते हैं। वह स्वर जिसमें यौवन की ज्वाला भरी हो—

तोड़ो मौन-मूक युग-जन का
वाणी दो, स्वर दो जीवन का

यौवन की ज्वाला की लयभय
मेरे कंठ पुकारो मुझको।

जवानी इस विषमता को बर्दाशत नहीं कर पायेगी। बुढ़ापा विलास के रेशमी धागों में भले बंध जाय, लेकिन जिस जवानी के आगे सिद्धियों के स्वामी भी झुक जाते हैं, वह देश के दुख को नहीं बर्दाशत कर सकती—

वृद्धता भले बंध रहे रेशमी धागों से
साबित पर इसको नहीं जवानी छोड़ेगी,
जिसके आगे झुक गये सिद्धियों के स्वामी
उस जादू को कुछ नई आंधियाँ तोड़ेंगी।

नये भारत में रामराज्य उतारने की कल्पना बापू की थी। आजादी के बाद रामराज्य के आकांक्षी लोगों की आशा को ठेस लगी, क्योंकि जनता पहले से भी अधिक पीड़ित रहने लगी। राष्ट्रीय कवियों ने धरती पर स्वर्ग उतारने की प्रेरणा जगाई है और जन-मानस में आजादी के बाद भी सुख-सुविधा-सम्पन्न एक राज्य की स्थापना का उत्साह पैदा किया है। रांगेय राघव ने धरती पर नये राज के उतरते ही स्वर्ग उतारने की भी सत्प्रेरणा दी है—

गौरव से झुक जाये झूमा लदा फलों से आम
कोयल गाय, पंखी बैठे और मिटाये घाम
धरती पर स्वर्ग उतार रे
धरती पर नूतन राज रे।

प्रतीक व्यंजना के माध्यम से कवि ने देश की सम्पन्न-समृद्ध जनता की प्रसन्नता और दैन्यहरण की ओर संकेत किया है और इस प्रकार देश में सुखश्री समृद्ध करने का उत्साह जगाया है।

केदार भी शपथ लेते हैं कि शोषक का साम्राज्य मिटाकर जनवादी सरकार की स्थापना करेंगे और रात-दिन कर्म रत रह कर पाँच वर्षों में पूरे भारत को स्वर्ग बना देंगे—

नयी शपथ यह प्रथम करेंगे
शोषक का साम्राज्य हरेंगे
जनवादी सरकार करेंगे

रात और दिन एक करेंगे
पाँच साल में पूरा भारत
स्वर्ग करेंगे
सदा हसेंगे ।

नर्मदाप्रसाद खरे रामराज्य का शंखनाद कर देते हैं और जनता के भाग्य विधाता का अभिनन्दन करते हुए भारत के नये निर्माण की कामना व्यक्त करते हैं—

आजादी के जीवन दाता
जन गण मन अधिनायक, माता
नव निर्माण करो भारत का
हे जनता के भाग्य विधाता
आज तुम्हारा अभिनन्दन है
पंथ तुम्हारा मंगलमय हो ।

भारत को विश्व की प्रतिकूल परिस्थितियों की आँधी में भी प्रेम का दीप जलाकर विश्व का मार्ग प्रशस्त करना है । नयी किरणों के प्रकाश में विश्व शोक रहित हो उठे । इस धरती पर भारत को रामराज्य स्थापित करना है । रामगोपाल रुद्र इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भारतीय जन को 'सावधान' करते हैं—

बहता बेड़ा पार लगाना है तुम्हें,
आँधी में मधुदीप जलाना है तुम्हें,
यमके प्राची चक्र विलोक अशोक हो,
भू मण्डल पर रामराज्य का लोक हो ।

रामराज्य विश्व में स्थापित करने की कल्पना में साम्राज्यवादी गंध नहीं है, क्योंकि रामराज्य की मूल धारणा में स्नेह, सौहार्द एवं मर्यादा है । इसलिए इसमें प्रत्येक जन के हित का भाव वर्तमान है । इसलिए साम्राज्यवाद की शोषक वृत्ति का लेश भी इसमें नहीं है । पंत जी भारत की मंगल-कामना करते हैं, क्योंकि उनका मन कहता है कि भारत के मंगल में भू मंगल, जन-मंगल और देवों का मंगल निहित है—

कहता मेरा मन भारत के हीं मंगल में
भू मंगल जनमंगल, देवों का मंगल है
देव, आप आशीर्वाद दें जन भारत को ।

एक अन्य मंगल गान में पंत जी जन-जन के शुद्ध-बुद्ध, भेद मुक्त, निर्भय मन होने की कामना करते हैं और धरती को स्वर्ग बनाने की आकांक्षा व्यक्त करते हैं—

शुद्ध-बुद्ध हों सब जन,
भेद-मुक्त, निर्भय मन,
जीवित सब जीवन क्षण
स्वर्ग यही भूतल हो।

निराला भी भारत मां से आलोक निखारने की तथा नर को नरक-भय से मुक्त करने की प्रार्थना करते हैं —

मां अपने आलोक निखारो,
नर को नरक त्रास से वारो।

इस प्रकार वर्तमान विषम परिस्थितियों का बड़ी सूक्ष्मता से अंकन कवियों की वाणी में हुआ है। एक ओर जहां नयी आजादी पाने की खुशी है, वहां दूसरी ओर दुख दूर न होने का क्षोभ है। इनके मार्जन के लिए नये भारत की कल्पना कवियों की भाषा में साकार हुई, जिसमें प्रत्येक जन का कल्याण निहीत है। यही नहीं, भारत की उदार राष्ट्रीयता अपने कल्याण में लोक कल्याण को भी बांध लेती है।

नवोदित राष्ट्र अनेक विषम परिस्थितियों को झेलकर आजादी पाता है और उसके बाद वह अपनी सीमाओं की रक्षा करते हुए विश्वशान्ति की कामना करता है। भारत के साथ भी यही बात लागू होती थी। जहां तक शान्ति सन्देश की बात है, भारत अनेक युगों से विश्व को शान्ति के सन्देश देता रहा है। भारत अपने उस गौरव को, राष्ट्रीय परम्परा को स्वातन्त्र्योत्तर काल में भी कायम रखता है और शान्ति के सन्देश देता है।

शान्ति को खतरा है साम्राज्यवादियों से जो दूसरे राष्ट्र को हड़पने के लिए उस पर आक्रमण करते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को खण्डित कर देते हैं। आक्रामक साम्राज्यवादी शक्तियों को अणु तथा उद्जन बम का गर्व है। वे शक्ति से मदान्ध हैं। इसलिए निरीह, निरपराध जनता पर बम गिराकर मानवता की हत्या करते हैं और शक्ति बल से दूसरे राष्ट्रों को अपने कब्जे में करते हैं। वे अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए महायुद्धों का आवाहन करते हैं।

शान्ति का समर्थक भारत इन साम्राज्यवादियों का विरोध करता रहा है। और शान्ति स्थापना के लिए शस्त्रास्त्रों के अधिक निर्माण को त्याज्य बताता है, साम्राज्यवादी नीति की भर्त्सना करता है और रूस तथा अमरीका नामधारी दोनों गुटों से तटस्थ रहकर सहअस्तित्व का आलम्बन करता है।

राष्ट्रीय हित को भी शान्ति नष्ट होने तथा युद्ध प्रारम्भ होने पर खतरा है। देश के आसपास अथवा संसार के किसी कोने में युद्ध होने पर राष्ट्रीय हित खतरे में पड़ सकता है, देश पर खतरा आ सकता है तथा अन्य प्रकार की विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ सकता है। इन दोनों कारणों से भारत शान्ति का पक्षधर रहा और उसके लिए सदा प्रयत्नशील रहा।

आज विश्व के देश दूसरे को हड़पने के लिए तलवारें गढ़ रहे हैं। अणु बम आज प्रलय मचा देता है। इस युद्ध में मानव हृदय की सरलता मिट गई है और वह आज जीने के लिए तरस रहा है --

उग रहीं तलवार की फसलें
प्रलय अणु बम बरसता
खो गई मानव हृदय की सब सरसता
और जीने के लिए जीवन तरसता

साम्राज्यवादी देश युद्ध-क्षेत्र में बम नहीं बरसाते। युद्ध की तकनीक जो बदल गई है। अब जन-संकुल आबादी पर बम बरसते हैं। जहाँ शिशु, वृद्ध और वनिताएं रहती हैं। इस बम वर्षण से उनके ही प्राण विसर्जित होते हैं। नागार्जुन इससे बहुत क्षुब्ध होकर कहते हैं--

नहीं लाम पर
नहीं मुहिम पर
बम बरसेंगे जनाकीर्ण आबादी पर ही
निरपराध, निर्दोष, निष्कलुष-
बाल, वृद्ध, वनिताओं की ही जान जायगी
ताजा ताजा खून बहेगा।

यह बम-वर्षण दस-बीस धन-कुबेरों की खुजली मिटाने के लिए होता है। कोढ़ के कारण उन्हें खुजली है। उनकी दुर्गन्ध से मानवता का श्वास घुटने लगता है--

उस पवित्र शोषित धारा में नहानहाकर
खाज मिटाना चाहेंगे कोढ़ी कुबेर दस-बीस,
पचीस-पचास
जिनकी दुर्गन्धों के मारे घुटा जा रहा मानवता का श्वास
कहां गिरेंगे ऐटम बम या हाइड्रोजन बम ?

अन्तिम पंक्तियों में मानवता भय फूट पड़ा है। ऐटम बम या हाइड्रोजन बम का खतरा मानव को कंपा देता है। यह भय कंपन ही कवि के कंठ से फूटा है। वह ऐसे स्वार्थियों की भर्त्सना भी करता है।

अणु बम और उद्‌बम का भरोसा उन्हें ही है जो क्रान्ति से भय खाते हैं—

चलते-फिरते-जगते सोते जिन्हे क्रान्ति से लगता है डर
बड़ा भरोसा बड़ी आस है जिनको हाइड्रोजन बम पर।

ये शान्ति से घबराने वाले पूंजीवादी ही बम वर्षण के कारण हैं, क्योंकि युद्ध होने पर ही उनका बाजार बढ़ता है। अरब-खरबपति ही शान्ति के दुश्मन हैं और वही दुर्योधनों को हथियार बांट रहे हैं—

सौ-सौ टन गिरा रहे हैं फिर पूंजीवादी हत्यारे
छोटा-सा कोरिया उसी पर टूट पड़े हैं राक्षस सारे
अरब खरब डालर के बनिये सबसे बड़े शान्ति के दुश्मन
बांट रहे हथियार, हाथ फैलाये हैं सौ-सौ दुर्योधन।

रूस और अमरीका चक्की के दो पाट हैं जिनके बीच एशिया को पिसते हुए चतुर्वेदी जी देखते हैं तब वे २६ जनवरी को स्मरण कर सौ पीढ़ी तक स्वातंत्र्य फलने देने की कामना करते हैं—

डालर हंसिया और हथौड़ा, दो चक्की के पाटों पिसकर
क्या एशिया चूर्ण कर देगा, कोटि-कोटि शिरकोटि कोटिकर
री छब्बिस जनवरी! याद की आजादी की सप्तम सीढ़ी
फलने दे स्वातन्त्र्य देश में सौ-सौ वर्षों सौ-सौ पीढ़ी।

इसीलिए दिनकर कुरुक्षेत्र में विज्ञान को मानवता का घातक समझ कर

उसे ही मोह स्मृति के पार फेंक देने को कहते हैं, क्योंकि मानव अभी इतना अज्ञान है कि वह अपना ही नाश उससे करने लगा है--

सावधान मनुष्य, यदि विज्ञान है तलवार,
तो इसे दे फेंक तजकर मोह स्मृति के पार।
हो चुका है सिद्ध, है तू शिशु अभी अज्ञान,
फूल काटों की तुझे कुछ भी नहीं पहचान।
खेल सकता तू नहीं ले हाथ में तलवार,
काट लेगा अंग, तीखी है बड़ी यह धार।

इसके अतिरिक्त विश्ववंद्य बापू के निधन पर भी कवियों ने अपने शोकोद्गार प्रकट किये है और राष्ट्र की अपूरणीय क्षति से अत्यन्त व्यथित होकर उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की है। बापू शोषितों एवं दलितों के रक्षक, नये भारत के जनक, सत्य अहिंसा के साधक तथा मानवता के उद्धारक रूप में विश्व में ख्यात थे। भारत को दासता के बन्धन से मुक्त करने वाले इस राष्ट्र पिता के निधन के प्रति शोकोद्गार एवं श्रद्धांजलि राष्ट्रीय जीवन का एक अनिवार्य अंग था।

हिन्दी काव्य की धारा राष्ट्रपिता के निधन से क्षुब्ध हो उठी। हिम-किरीटिनी मातृभूमि ऐसे पुरुष को खोकर मौन हो गई। उसके अंगों पर खेलने वाले सौ-सौ बसन्त फीके पड़ गये। वह गांधी जो जीवन सौन्दर्य के ज्वार पर आया और जिसने जन सागर में आभा का पुल बांध दिया था हमारी आँखों से ओझल हो गया।

हिम किरीटनी, मौन आज तुम शीश झुकाए,
सौ वसन्त हों कोमल अंगों पर कुम्हलाए।
वह जो गौरव शृंग धरा का था स्वर्गोज्वल,
टूट गया वह हुआ अमरता में निज ओझल।
लो, जीवन सौन्दर्य ज्वार पर आता गांधी,
उसने फिर जन सागर में आभा पुल बांधी।

दिनकर बापू के निधन से व्यथित चीत्कार कर उठते हैं। वह देश की आत्मा था, वह माता की आंखों का प्रकाश था। उसके निधन से यह सब मिट गया। करुणामय वाणी में कवि की आर्त पुकार सुनें—

यह रूह देश की चली अरे,
मां की आंखों का नूर चला,
दौड़ो, दौड़ो, तज हमें
हमारा बापू हमसे दूर चला।

वह मात्र भारत का ही प्रकाश नहीं था, बल्कि सम्पूर्ण एशिया का प्रकाश था। अब उसके बिना राह अंधेरी है। विश्व शान्ति का सुहाग भी बापू के साथ चला गया। प्रत्येक मन को बांधने वाला अनुराग भी उसके साथ मिट गया—

ऐ एशिया ! प्रकाश बुझ गया, तेरी राह अन्धेरी है,
पा किसका संकेत कहेगी-आज विजय यह मेरी है।
विश्व ! शान्ति को, आज शीश धुन तेरा अचल सुहाग गया,
मन मन को जो बांध सके वह दृढ़ निश्चल अनुराग गया।

मैथिलीशरण गुप्त बापू की हत्या की लज्जा एवं शोक को रोक नहीं पाते और उनकी वाणी फूट पड़ती है।

अरे राम ! कैसे हम झेलें, अपनी लज्जा उसका शोक।
गया हमारे ही पापों से अपना राष्ट्र पिता परलोक।

देश का शायद ही ऐसा कोई कवि रहा होगा जिसने बापू के निधन पर आंसू नहीं बहाये होंगे। इनके अतिरिक्त सुमन, नागार्जुन, मिलिन्द आदि कवियों ने भी उसके कार्यों की प्रशंसा की और मानवता तथा देश को उसके निधन से शोकार्त एवं व्यथित दिखलाया।

(३) आर्थिक शोषण

अर्थ राष्ट्रीय जीवन का अनिवार्य पहलू है। इसलिए आर्थिक विकास राष्ट्रीय विकास के लिए अनिवार्य है। भारत की राष्ट्रीय चेतना के प्रारंभिक काल में ही हम इस आर्थिक विकास की भावना पाते हैं, जहां अपनी आर्थिक-हीनता तथा शोषण के प्रति क्षोभ प्रकट हुआ है और आर्थिक विकास के लिए राष्ट्रीय चेतना आकुल-व्याकुल होती दीख पड़ती है। यह भावना हम स्वातंत्र्य युद्ध में प्रारम्भ से अन्त तक देखते हैं।

छायावाद युग के उत्तर काल में पूंजीवादी शोषण का विरोध भी मुखरित हुआ और समानता की भावना जोर पकड़ने लगी। मजदूर आन्दोलन के प्रारम्भ और विकास ने पूंजीवादी व्यवस्था के प्रति विरोध तथा आर्थिक समानता स्थापित कर शोषण समाप्त करने की प्रेरणा राष्ट्रीय कविता को प्रदान की।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य में भी आर्थिक हीनता उसी रूप में वर्तमान थी। इसलिए राष्ट्रीय जीवन के उन्नयन के अकांक्षी कवियों ने उसकी मार्मिक व्यंजना की और पूंजीवाद का विरोध कर समानता स्थापित करने के नारे लगाये। जनता अपनी सरकार से इस बात की अपेक्षा रखती थी कि वह दीनता दूर करे। जिस तरह दीनता परतन्त्रता काल में व्याप्त थी, उसमें कोई परिवर्तन नहीं दीख पड़ा। आर्थिक पतन तथा उसके कारण मानवीय जीवन की करुणामय स्थिति का अंकन कवियों ने किया है।

अनावृष्टि जनित अकाल भारतीय जीवन का एक अनिवार्य अंग बन गया है। अनावृष्टि से चारों ओर दुष्काल छा जाता है और अकाल-पीड़ित जन-समूह का हाहाकार कवि प्रभात की वाणी में फूटता है—

महा घोर दुष्काल छा रहा
हा-हा रव होता है
अनावृष्टि की ज्वाला से नभ
भू का तन धोता है।

इतना ही नहीं, चाँदी और ताँबे के टुकड़ों पर शरीर की खरीद बिक्री भी होती है। अनबिंधी पारिजात कलियों का यौवन भी इसी कीमत पर मसला जाता है। यह सब देखकर कवि की वेदना फूटती है—

चाँदी ताँबे के टुकड़े पर
सौदा होता तन का
मसला जाता पारिजात
अनबिंधे नवल यौवन का।

सम्पूर्ण देश आजाद हुआ, मगर मनुष्य शोषण के तापों से मर रहा है। रोजी से बढ़कर चन्दा लेने वाले खुश हैं। खेती करने से ज्यादा अच्छा है महाजनी के द्वारा ब्याज पैदा करना। व्यंग्य के माध्यम से अनिलकुमार स्वातंत्र्योत्तर भारतीय आर्थिक जीवन की विषमता पर चोट करते हैं—

रोजी का है राज नहीं अब चन्दा पाओ
छोड़ो खेती, महाजनी कर ब्याज उगाओ,
एक गधा सोने के तेरे खेत चर गया।
देश हुआ आजाद मगर इन्सान मर गया।

देश में व्याप्त असमानता का विरोध कवियों ने जोरदार रूप में किया है। पूँजीपति और शासक वर्ग सुखमय है, जबकि शेष जनता दरिद्रता के शाप से ग्रस्त है। इस विषमता का अंकन दिनकर ने प्रतीक व्यंजना के माध्यम से किया है—

हो गया एक नेता मैं भी ? तो बन्धु सुनो,
मै भारत के रेशमी नगर मे रहता हूँ,
जनता तो चट्टानों का बोझ सहा करती,
में चाँदनियों का बोझ किसी विधि सहता हूँ।

दिल्ली के देवों के विलासमय जीवन तथा शेष देश के अभावमय जीवन का तुलनात्मक वर्णन भी दिनकर ने प्रस्तुत किया है—

है विकल देश सारा अभाव के तापों से
दिल्ली सुख से सोई है नरम रजाई में।

अकाल देश में हंसता है और किसान का मन त्रस्त हो जाता है। त्रिलोचन के मन का तादात्म्य किसान के मन के साथ है और वे भी चैन नहीं पाते--

हंसता है अकाल तारों के दाँत निकाले
मन किसान का मेरा चैन नहीं पाता है।

इस आर्थिक विषमता का कारण है थैलीशाहों का शोषण। ये अनेक युग से मानवता का शोषण करते आ रहे हैं। अभावग्रस्त, विपन्न जनता इस शोषण के विरुद्ध आवाज उठाती है, क्योंकि अपमानित होने की भी सीमा होती है। इसलिए पीड़ित मानवता के मन में लड़ मरने की आकांक्षा जागती है—

अपमानित होने की भी हद, सीमा है भूखों मरने को
सूखी हड्डी के ढांचों में अब हौंस बढ़ी लड़ मरने की।

अभाव असंतोष पैदा करता है और असंतोष से ही क्रान्ति की चिनगारी फूटती है। शोषित जन को बलिदान की प्रेरणा शिवमूर्ति मिश्र 'शिव' प्रदान करते हैं। वे एशिया भर के शोषितों को जुल्म के खिलाफ खड़ा कर देते हैं—

एशिया की आग की मैं एक चिनगारी
मैं लपट बनकर उठूं मिट जाय अंधियारी
और मिट जाये युगों का जुल्म क्षण भर में
दलित देशो प्राण बलि की करो तैयारी।

शोषण का बड़ा अच्छा चित्र दिनकर प्रस्तुत करते हैं। वे चाँद को भी आगाह करते हैं कि वह दूर रहे अन्यथा धरती पर रहने वाले शोषक उसके अमृत के लिए उसे भी प्याले में रखकर चाट जायेंगे—

दूर ही रहो अय चाँद आदमी बड़े-बड़े
आगे पीछे भी नहीं सोचने पायेंगे,
पीयूष तुम्हारे मरने का कारण होगा,
प्याले पर धर कर तुम्हें चाट ही जायेंगे।

ऐसे शोषण करने वाले के विरुद्ध फसल की रक्षा करने वालों को नरेश कुमार मेहता क्रान्ति के लिए ललकारते हैं। थैलीशाहों और गोरेशाहों की अपशकुन-सी काली कोढ़ छाया से वे शोषितों को सचेत करते हैं—

आ गया साथियों! वह क्रान्ति का क्षण
जबकि लड़ना है हमें अपनी फसल के वास्ते।
अभी थैली शाह, गोरे शाह, की
गिर रहीं हैं, घिर रही हैं
हिमालय इस ओर
डूंगनी वे, अप शकुन-सी
कोढ़ छायाएं।

केदार नाथ अग्रवाल शोषित को साहस का संगीत देना चाहते हैं—

पीले पत्तों की आबादी, पीड़ा से है म्लान।
आशा के शीतल चन्दन से, दे दो उसको प्रान।

आकाशी तारों के साथी, मेरे मन के मीत।
आओ, दे दो शोषित को भी, साहस का संगीत।

इसी प्रकार का उद्बोधन वे इंसानों को देते हैं—

ऐ इन्सानों ! ओस न चाटो,
अपने हाथों पर्वत काटो
पय की नदियां खीच निकालो
जीवन पीकर प्यास बुझालो।

ऐसी व्यवस्था के प्रतिकूल जो इस अभाव को दूर नहीं कर सकती, त्रिलोचन सोई जनता को ललकारते हैं—

सड़ी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह के लिए
मैं ललकार रहा हूँ उस सोई जनता को।

पंत जी जाति-वर्ण का विभेद मिटाकर आर्थिक अभाव शान्त कर नये जीवन के विकास के लिए कामना करते हैं—

लुप्त जाति-वर्ण-विवर
सुप्त अर्थ-शक्ति-भँवर
शान्त रक्त तृष्णा समर
प्रहसित जग शतदल हो।

सुमन जी इतिहास को नये मोड़ पर खड़ा देखते हैं। वे ऊसर, मरुभूमि, बन्जर, परती सबको जोत, सोने चांदी की फसलें उगा धरती को सम्पन्न कर देना चाहते हैं। आशीर्वाद का यह संगीत जीवन को बहुत बल देता है—

मरुथल जोतो, ऊसर जोतो
जोतो बन्जर-परती,
सोने चाँदी की फसलों से
भर दो सारी धरती।

देश की समृद्धि के लिए किया गया यह आह्वान अधिक स्वस्थ तथा राष्ट्रीय है। इसका अर्थ यह नहीं कि अभाव पीड़ा तथा उससे उत्पन्न क्रान्ति-भावना अराष्ट्रीय है अथवा अस्वस्थ है। तात्पर्य यह कि उसमें नये राष्ट्र के

समक्ष जो समस्या विषम रूप में उपस्थित कर दी जाती है, उससे :से परेशानी हो सकती है। इन कवियों ने भी समानता की चर्चा की, लेकिन उनमें क्रान्ति का वह तेज नहीं, सहयोग की आस्था है। ऐसी आस्था से प्रभावित सुमन जी कहते हैं—

सामूहिक खेती अब होगी
सामूहिक श्रम दान
ंगच्छध्वं संबदध्वं संबो-
मनांसि जानताम्।

इस सहयोग की भावना की प्रेरणा के अतिरिक्त विनोबा द्वारा परिचालित भूदान आन्दोलन के प्रचार एवं प्रसार के लिए काव्य-रचना की गई है। देश में अनेक भूमि हीन मजदूर किसान हैं, जिनके पास जमीन नही है। भूमिहीनों के लिए भूमि दान माँगने वाले विनोबा के स्वर में मिलाकर कवियों ने उनका समर्थन किया है—

अन्न और अग्नि दो से न्यारा
गर्वित है भूदान हमारा।
सुन उस पंथी की स्वरधारा
जिसने भारतवर्ष सवांरा
'गोली'-राजघाट का बल हो।

चतुर्वेदी जी विनोबा के भूदान आन्दोलन के स्वर मे भारत माता का स्वर सुनाते हैं। इस स्वर-संकेत पर अनेक हृदय मिलकर एक हो जाते हैं—

देख विनोबा के स्वर में
गरबीली माता बोल रही है,
कोटि हृदय मिल-मिल उठते हैं
कैसा अमृत घोल रही है।

इस तरह कवियों ने भूमि-समस्या के समाधान के कार्यों में योगदान कर राष्ट्रीय समस्या के समाधान में सहयोग दिया है।

(४) सामाजिक तथा धार्मिक सुधार

आधुनिक काल के प्रारम्भ से सामाजिक एवं धार्मिक सुधार की जो भाव-धारा राष्ट्रीय चेतना के अंग रूप में हिन्दी काव्य में प्रवाहित होती रही है,

उसकी चरम परिणति द्विवेदी काल में ही हो जाती है। छायावाद तथा परवर्ती युगों में वह भावना मन्द पड गई। कारण कि इतिवृत्तात्मकता का निर्वाह इन युगों में नहीं हो सका। इतिवृत्तात्मक की पृष्ठभूमि पर ही उपदेशात्मकता आधारित है। ज्यों-ज्यों वह वृत्ति घटती गई, उपदेशक वृत्ति, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में कम होती गई। इसका अर्थ यह नहीं कि परवर्ती काल में एक भी उपदेशक रचना नहीं हुई। हुई लेकिन उसकी मात्रा इतनी न्यून है कि वह उपेक्षणीय ही बन जाती है।

इसलिए स्वातन्त्र्योत्तर काल मे भी उपदेशक रचनाओं का अभाव-सा ही दृष्टिगोचर होता है। आज का बुद्धिवादी मानव उपदेश सुनने का न आदी है और न उसकी उसे अपेक्षा है। इसलिए उपदेशात्मकता कम दीख पड़ी। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद कई समस्याएँ हमारे सामने आईं। उनके समाधान की ओर ही भारतीय जीवन का झुकाव रहा। इसलिए सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में सुधारवादी आन्दोलन न तो हुए और न तत्सम्बन्धी काव्य ही रचा गया। हाँ, व्यंग्य एवं विनोद के माध्यम से सामाजिक विषमताओं अथवा धार्मिक विरूपताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा हुई है।

भारत को अपने अतीत का, अपने जगद्‌गुरु होने का बड़ा गर्व रहा है, लेकिन वह आज विकास के पथ पर नहीं बढ़ता; पराभव को ओर गतिशील है। उस पर तुर्रा यह कि वह अपने खोखले अहं की तुष्टि के लिए जगद्‌गुरुता का दम भरता आ रहा। दिनकर अवनतिशील भारत के इस दंभ पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं—

डगमगा रहे हों पाँव लोग जब हंसते हों,
मत चिढ़ो, ध्यान मत दो इन छोटी बातों पर,
कल्पना जगद्‌गुरुता की हो जिसके सिर पर,
वह भला कहाँ तक ठोस कदम धर सकता है।

यहीं तक चोट नहीं करते दिनकर। वे और भी आगे जाते हैं। य[illegible] पाताल में गिर भी गया तो इसमें कोई हर्ज नहीं, क्योंकि उसे पतन[illegible] जायगा। यह कहा जायगा कि प्यासों के लिए अमृत लाने के [illegible] पाताल में गया है। भारत के पतन पर किया गया दिनकर जी का व्यंग्य कित[illegible] मार्मिक है--

ओ गिर भी जो तुम गये किसी गहराई में
तब भी तो इतनी बात शेष रह जायेगी ?

समक्ष जो समस्या विषम रूप में उपस्थित कर दी जाती है, उससे ःसे परेशानी हो सकती है। इन कवियों ने भी समानता की चर्चा की, लेकिन उनमें क्रान्ति का वह तेज नहीं, सहयोग की आस्था है। ऐसी आस्था से प्रभावित सुमन जी कहते हैं—

सामूहिक खेती अब होगी
सामूहिक श्रम दान
ंगच्छध्वं संवदध्वं संवो-
मनांसि जानताम्।

इस सहयोग की भावना की प्रेरणा के अतिरिक्त विनोबा द्वारा परिचालित भूदान आन्दोलन के प्रचार एवं प्रसार के लिए काव्य-रचना की गई है। देश में अनेक भूमि हीन मजदूर किसान हैं, जिनके पास जमीन नहीं है। भूमिहीनों के लिए भूमि दान माँगने वाले विनोबा के स्वर में मिलाकर कवियों ने उनका समर्थन किया है—

अन्न और अग्नि दो से न्यारा
गर्वित है भूदान हमारा।
सुन उस पंथी की स्वरधारा
जिसने भारतवर्ष सवांरा
'गोली'-राजघाट का बल हो।

चतुर्वेदी जी विनोबा के भूदान आन्दोलन के स्वर मे भारत माता का स्वर सुनाते हैं। इस स्वर-संकेत पर अनेक हृदय मिलकर एक हो जाते हैं—

देख विनोबा के स्वर में
गरबीली माता बोल रही है,
कोटि हृदय मिल-मिल उठते हैं
कैसा अमृत घोल रही है।

इस तरह कवियों ने भूमि-समस्या के समाधान के कार्यों में योगदान कर राष्ट्रीय समस्या के समाधान में सहयोग दिया है।

(४) सामाजिक तथा धार्मिक सुधार

आधुनिक काल के प्रारम्भ से सामाजिक एवं धार्मिक सुधार की जो भाव-धारा राष्ट्रीय चेतना के अंग रूप में हिन्दी काव्य में प्रवाहित होती रही है,

उसकी चरम परिणति द्विवेदी काल में ही हो जाती है। छायावाद तथा परवर्ती युगो में वह भावना मन्द पड गई। कारण कि इतिवृत्तात्मकता का निर्वाह इन युगों में नहीं हो सका। इतिवृत्तात्मक की पृष्ठभूमि पर ही उपदेशात्मकता आधारित है। ज्यों-ज्यों वह वृत्ति घटती गई, उपदेशक वृत्ति, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में कम होती गई। इसका अर्थ यह नहीं कि परवर्ती काल में एक भी उपदेशक रचना नहीं हुई। हुई लेकिन उसकी मात्रा इतनी न्यून है कि वह उपेक्षणीय ही बन जाती है।

इसलिए स्वातन्त्र्योत्तर काल मे भी उपदेशक रचनाओं का अभाव-सा ही दृष्टिगोचर होता है। आज का बुद्धिवादी मानव उपदेश सुनने का न आदी है और न उसकी उसे अपेक्षा है। इसलिए उपदेशात्मकता कम दीख पड़ी। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद कई समस्याएँ हमारे सामने आईं। उनके समाधान की ओर ही भारतीय जीवन का झुकाव रहा। इसलिए सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में सुधारवादी आन्दोलन न तो हुए और न तत्सम्बन्धी काव्य ही रचा गया। हाँ, व्यंग्य एवं विनोद के माध्यम से सामाजिक विषमताओं अथवा धार्मिक विरूपताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा हुई है।

भारत को अपने अतीत का, अपने जगद्गुरु होने का बड़ा गर्व रहा है, लेकिन वह आज विकास के पथ पर नहीं बढ़ता; पराभव को ओर गतिशील है। उस पर तुर्रा यह कि वह अपने खोखले अहं की तुष्टि के लिए जगद्गुरुता का दम भरता आ रहा। दिनकर अवनतिशील भारत के इस दंभ पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं—

डगमगा रहे हों पाँव लोग जब हँसते हों,
मत चिढ़ो, ध्यान मत दो इन छोटी बातों पर,
कल्पना जगद्गुरुता की हो जिसके सिर पर,
वह भला कहाँ तक ठोस कदम धर सकता है।

यहीं तक चोट नहीं करते दिनकर। वे और भी आगे जाते हैं। यदि भारत पाताल में गिर भी गया तो इसमे काई हर्ज नहीं, क्योंकि उसे पतन नहीं माना जायगा। यह कहा जायगा कि प्यासों के लिए अमृत लाने के लिए एक देश पाताल में गया है। भारत के पतन पर किया गया दिनकर जी का व्यंग्य कितना मार्मिक है--

ओ गिर भी जो तुम गये किसी गहराई में
तब भी तो इतनी बात शेष रह जायेगी ?

यह पतन नही, है एक देश पाताल गया,
प्यासी धरती के लिए अमृत घट लाने को।

इसी प्रकार नेताओं पर व्यंग्य दिनकर तथा नागार्जुन ने किये। आर्थिक शोषण के विश्लेषण के सिलसिले मे दिया गया अनिलकुमार की कविता का अंश भी सामाजिक व्यवस्था पर व्यंग्य ही करता है। दिनकर और नागार्जुन पुराने सामाजिक मूल्यों पर, सरकार पर बड़े करारे व्यंग्य करते है तथा नयी व्यवस्था की ओर संकेत करते हैं।

धार्मिक सुधार की ओर भी इस काल में लोगों का ध्यान कम गया। हाँ, धर्म के वाह्यान्तर के कारण होने वाले सांप्रदायिक द्वेषों के परिणामों की ओर ध्यान अवश्य आकृष्ट किया गया है और धार्मिक मतान्तर को त्याग कर एकता स्थापित करने की अपील कवियों ने की है। देशभक्ति के प्रकरण में उसकी ओर ध्यान आकृष्ट किया जा चुका है।

ईश्वर के सम्बन्ध में बदलते हुए विचारों की प्रतिध्वनि भी हिन्दी काव्य में दृष्टिगत होती है। 'भगवान की बिक्री' अन्य चीजों को तरह आज की पूंजीवादी व्यवस्था में होती है। वह आज साधना और फकीरी का माध्यम नहीं, भोगवाद का आधार है। वह आज सोने के ढेले के समान कीमती हो गया है—

लोगे कोई भगवान ? टके में दो दूँगा,
लोगे कोई भगवान ? बड़ा अलबेला है।
साधना-फकीरी नहीं, खूब खाओ पूजो
भगवान नही, असली सोने का ढेला है।

राम के भरोसे बैठे रहने वाले लोगों की निष्क्रियता पर भी चोट केदार ने की है। अभावग्रस्त लोगों को राम रोटी नही देगा और न वेद से ही काम चलने को है। जो रोटी के लिए युद्ध करता है वही रोटी का वरण करता है। ईश्वर के भरोसे निष्क्रियता अपनाने वालों को सक्रियता का संदेश देते हुए कवि कहता है—

रोटी तुमको राम न देगा,
वेद तुम्हारा काम न देगा।
जो रोटी का युद्ध करेगा।
वह रोटी को आप वरेगा।

इस प्रकार सामाजिक एवं धार्मिक सुधार की परम्परा इस युग में भी कम-बेश चलती रही है और उसके माध्यम से राष्ट्रीय जीवन मे नये मूल्यों के अवतारण की प्रेरणा प्रदान की गई है।

(५) भाषा का उद्धार

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् यह सवाल बड़ा महत्वपूर्ण हो गया कि कौन-सी भाषा राजभाषा तथा राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित की जाय। इन पदो पर प्रतिष्ठित होने वाली भाषा को अंगरेजी का स्थान लेना था। इसलिये इसमें सभी संभावनाओं की अपेक्षा थी। इस प्रश्न पर बहुत विवाद हुआ। हिन्दी ही ऐसी भाषा थी जो राजकार्य-संचालन, शिक्षा आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती थी। इसके बोलने तथा समझने वाले भी अधिक थे। ऐसी दशा में इन पदों की योग्यता तथा क्षमता हिन्दी मे ही वर्तमान थी, लेकिन क्षेत्रीय भाषाओं ने हिन्दी का विरोध किया तथा इसकी अनेक दुरूहताओं तथा असंगतियों की ओर दृष्टि आकर्षित की।

हिन्दी वैसे सभी प्रकार के कार्यों के लिए सूक्ष्म भाषा नही थी, लेकिन अन्य भाषाओ में निहित संभावनाओं की अपेक्षा इसमें कार्यक्षमता की शक्ति बहुत अधिक थी। अनेक वर्षों के विवाद के बाद तथा पंजाब, बंगाल तथा दक्षिणी राज्यों के विरोध के बावजूद हिन्दी राष्ट्रभाषा तथा राजभाषा घोषित की गई। दक्षिण भारत में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति तथा पंजाब और बंगाल में अन्य समितियों ने हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार का बड़ा श्लाघ्य कार्य किया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा किये गये कार्य भी सराहनीय हैं। धीरे-धीरे शिक्षा तथा राजकाज की भाषा हिन्दी होती जा रही है और उसके आभावों की पूर्ति होती जा रही है।

हिन्दी टकंण यंत्र, हिन्दी टेलीप्रिंटर की भी व्यवस्था की जा चुकी है। पारिभाषिक शब्दों का कोश तैयार हो चुका है। शिक्षा के लिए विविध विषयों की पुस्तकों का प्रणयन हो रहा है। इस प्रकार हिन्दी के अभाव को दूर किया जा रहा है।

अंगरेजी को स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रभाषा तथा राजभाषा पद पर रखना अराष्ट्रीय कार्य कहा जाता। इसलिए हिन्दी की इन पदों पर प्रतिष्ठित कराने में जनता ने पूरा सहयोग दिया तथा सरकार ने भी इसे अपनाकर राष्ट्रीयता का परिचय दिया है। इस संबंध में काव्य रचना नहीं के बराबर हुई है।

(आ) काव्यकला : काव्यरूप, भाषा, छंद आदि पर राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव—

आलोच्य काल में राष्ट्रीयता का काव्य-कला पर कोई खास प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता। छन्द, भाषा-शैली आदि की नयी दिशा प्रयोगवाद और नयी कविता ने दी, किन्तु उसमें उल्लेख्य नवीनता नहीं दिखाई पड़ती।

उपसंहार—राष्ट्रीय चेतना परतंत्र देश की को स्वातंत्र्य चेतना की ही अभिव्यक्ति नही है और न वह मात्र विदेशी आक्रमण की विरोधात्मक अभिव्यक्ति ही है। वह एक शाश्वत चेतना है जो एक राष्ट्र के नागरिकों के मानस में हिलोरें लेती रहती है। राष्ट्रीय हित के नानाविध कार्यों में उसका प्रतिफलन होता रहता है। इसीलिये स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, विदेशी शासन से मुक्ति पाने के बाद भी वह हिंदी काव्य-धारा में तरंगायित होती रही है। यों यह बात एकदम सही है कि गुलामी अथवा विदेशी आक्रमण के काल मे राष्ट्रीय चेतना अधिक तीव्र हो उठती है।

आलोच्यकाल में हैदराबाद, जूनागढ़ तथा काश्मीर की समस्याओं में विदेशी सूत्र था। पाकिस्तान के भारत विरोधी प्रचारों की भरमार रही। शरणार्थियों की अदला-बदली, निष्क्रमणार्थी सम्पत्ति के परिवर्तन तथा नहरी पानी के विवाद ने राष्ट्र को विदेशी आक्रमण से आतंकित किया। इसलिए इस काल में राष्ट्रीय चेतना का वेग कम नही दीख पड़ता। उसमें वही तीव्रता लक्षित होती है, जो परतंत्रता के काल में वर्तमान थी। देशी राजाओं की अलग होने की मनोवृत्ति से भी इस चेतना को अधिक बल आया।

जन-जागरण तथा नये राष्ट्र के उत्थान, सामान्य चुनाव आदि ने भी जन-चेतना में राष्ट्रीय भावना का परिष्कार प्रस्तुत किया। राष्ट्रपिता की हत्या ने राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने की प्रेरणा दी।

नये राष्ट्र की विविध समस्याएं होती है। उन समस्याओं के समाधान की ओर जनता तथा सरकार का ध्यान गया और आर्थिक समानता स्थापित का आर्थिक उन्नयन के लिए भी स्वर उठाये गये। भूमि समस्या के समाधान के लिए किये गये भूदान आन्दोलन ने भी राष्ट्र की एक समस्या को दूर करने की प्रेरणा प्रदान की।

अपने देश के नागरिकों की विपन्नता से, शोषण एवं असमानता से उठने वाले असंतोष की प्रतिध्वनि भी हिन्दी काव्य में इस काल मे पूर्ववत सुनाई

पड़ती है। राष्ट्रीय सरकार की इस दिशा में असमर्थता को भी व्यंजित किया गया। शोषण दूरकर, पूंजीवादी व्यवस्था मिटाकर राष्ट्रीय आर्थिक जीवन की समृद्धि की चर्चा काव्य में विशेष सुनाई पड़ती है। शोषितों की क्रान्ति-भावना का प्रतिफलन भी हिन्दी काव्य में समाविष्ट है। इसके साथ ही सामूहिक खेती, सहकारिता, योजना आदि की सफलता के लिए भी सहयोगी स्वर हिन्दी काव्य में सुन पड़ता है।

जन को एकता, धार्मिक विद्वेष की विगर्हणा, सामाजिक दोषों के निराकरण का प्रयास भी इस काल की राष्ट्रीय कविता में दीख पड़ता है। नये मूल्यों की स्थापना की दिशा में भी स्वर उठाये गये हैं।

भारत ने अपनी राष्ट्रीय सांस्कृतिक परम्परा में विश्व शन्ति के लिए कदम उठाया, त स्थता की नीति अपनाकर सहअस्तित्व के सिद्धान्त को बल दिया। युद्ध की बर्बरता की भी उसने भर्त्सना की। इन सब भावों की अभिव्यक्ति हिन्दी काव्य में इस काल में सम्यक् रूप से हुई है।

सम्पूर्णतः विवेच्यकाल की राष्ट्रीयता भूमि, जनता एवं जन की सांस्कृतिक चेतना के प्रति जागरूक रही है और विदेशी आक्रमण जनित समस्या से भूमि की रक्षा की भावना तथा उसके प्रति अनुराग उसमें बढ़ता गया है। जन की एकता तथा उन्नयन की भी सशक्त अभिव्यक्तियाँ हुई हैं। सांस्कृतिक परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के प्रयास भी राष्ट्रीय काव्य-धारा में प्रतिफलित हैं। भाषागत एकता बनाये रखने की दिशा में प्रयत्न हुए हैं। इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर काल की राष्ट्रीय चेतना उसी उद्दाम गति से बढ़ती रही है। उसमें कहीं से ह्रास के चिन्ह नजर नहीं आये हैं।

नवम् अध्याय

उपसंहार

विविध कालों में राष्ट्रीयता का विकास

राष्ट्रीयता का जो रूप आज दृष्टिगत है वह आधुनिक युग की देन है। इसलिए इस प्रकार की राष्ट्रीयता के स्वरूप को इसके पूर्व पाना दुर्लभ है। फिर भी वैदिक युग से आज तक राष्ट्रीय चेतना का कोई न कोई रूप अवश्य दृष्टिगत होता है। इसकी एक सुदीर्घ परम्परा उक्त काल से आज तक दिखाई पड़ती है।

वैदिक युग पूर्ण शांति और सुव्यवस्था का काल था। उक्त काल में राष्ट्रीयता का स्वरूप सामान्यतः भौगालिक एकता तथा जन की वैचारिक समानता की व्यवस्थाओं में दृष्टिगत है। भूमि, नदी, पर्वत, सूर्य, वायु, अग्नि आदि प्राकृतिक तत्वों के प्रति श्रद्धा के द्वारा भौगोलिक एकता का भाव व्यक्त हुआ। समितियों की व्यवस्था और तीर्थों आदि के द्वारा जन की सांस्कृतिक एकता की स्थापना का प्रयास इस काल में हुआ है। इस काल में राष्ट्रीयता धार्मिक रूप में प्रकट हुई है। उसका स्वरूप धर्म से भिन्न नहीं था। इसलिए सामयिक चेतना के किसी प्रभाव का स्पर्श राष्ट्रीयता में लक्षित नहीं होता। वैसे राष्ट्रीय चेतना नाम की कोई अलग भावना नहीं दीखती। वह धर्म के अविभाज्य अंग रूप में ही इस काल में प्रकट है।

मध्य युग में अनेक खण्ड राज्यों की स्थापना के कारण सम्पूर्ण देश को इकाई मानकर उसके प्रति आदर एवं श्रद्धा का भाव प्रकट नहीं हुआ, क्योंकि उन राज्यों के प्रति भक्ति-भाव जन-मानस में था। इसलिए देश की एकता की चेतना इस युग में नहीं आ सकी, जो राष्ट्रीयता का मूल तत्व है। रियासतों के सामन्तों के यश का वर्णन तथा रियासतों की रक्षा आदि का भाव इस काल की राष्ट्रीयता का रूप है। इसे खण्डित या विकृत राष्ट्रीयता कहा जा सकता है। आदि काल से रीतिकाल तक की राष्ट्रीयता का रूप भी यही था। इन युगों में विदेशी आक्रमण की बहुलता थी। विदेशियों ने देश

को अधिकृत भी किया, किन्तु सम्पूर्ण देश की रक्षा, सम्मान वृद्धि तथा विदेशी दासता से मुक्त होने का संयुक्त प्रयास यहाँ नहीं है।

राष्ट्रीय चेतना का अधुनातन स्वरूप भारतेन्दु युग में प्रकट हुआ। कुछ विचारक इस चेतना के उद्भव और विकास का श्रेय अंगरेजी शासन को देते हैं। किन्तु कुछ विचारक इस मान्यता का खण्डन करते हैं। यह मानने में किसी को भी विरोध नहीं होगा कि अंगरेजी शासन में प्रचलित नयी शिक्षा ने भारत को नव जागरण का बल दिया। उसने आर्थिक सामाजिक, शैक्षिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में नयी विचारधारा का सूत्रपात किया। अंगरेजी साहित्य ने भारतीय जनता को नया प्रकाश दिया, जिसके परिणामस्वरूप वह मानवतावाद राष्ट्रीयता, जनतन्त्र आदि की नवीनतम चेतना से उद्बुद्ध हुई। साम्राज्यवादी अंगरेजी शासन की दमन नीति से राष्ट्रीय चेतना तीव्र होकर उभरी और उसने वर्तमान अधोगति तथा अतीत के गौरव की ओर ध्यान दिया। भारतेन्दु युगीन राष्ट्रीय चेतना में धार्मिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं के प्रसार एवं प्रचार के फलस्वरूप पुनरुत्थानवादी भावना अधिक है। धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सुधारों के रूप में भारतीय राष्ट्रीयता का जागरण हुआ। इसके उपरान्त उसमें राजनीतिक तथा आर्थिक स्वत्वों के ग्रहण का भाव उत्पन्न हुआ। इसलिए प्रारम्भ में भारतीय राष्ट्रीयता सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक थी। यह राष्ट्रीयता सांस्कृतिक चेतना के कारण राजनीतिक क्षेत्र में अधिक उग्र नहीं थी। यह सुधारवादी थी। दासता का विरोध इसमें है, किन्तु नम्रता तथा समझौता के कारण वह प्रातिनिधिक सरकार की मांग से अधिक आगे नहीं बढ़ सकी। भारतीय राष्ट्रीय चेतना में, इस काल में आर्थिक उन्नयन की मांग अधिक है, राजनीतिक स्वतन्त्रता की कम। जो हो, भारतेन्दु काल की राष्ट्रीयता असंतोष की पृष्ठभूमि पर उत्पन्न हुई थी। उसने वर्तमान के प्रति असंतोष प्रकट किया और सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सभी क्षेत्रों में सुधार की कामना प्रकट की।

धीरे-धीरे भारतीय जनता में असंतोष भाव उग्र होने लगा। इस असंतोष ने जनता को आन्दोलन की प्रेरणा दी। सरकारी दमन चक्र ने उसमें अधिक तीव्रता भर दी। इस प्रकार द्विवेदी युग की राष्ट्रीयता उग्रतर होने लगी। इस युग में कांग्रेस नरम दलवालों के हाथ में थी। इसलिए सुधार से अधिक की आकांक्षा नहीं प्रकट हुई, किन्तु सरकारी दमन तथा अत्याचार ने जनता में आन्दोलनात्मक प्रवृत्ति जगाई। स्वदेशी आन्दोलन तथा बंग-भंग आन्दोलन इसी प्रवृत्ति के सूचक हैं।

द्विवेदी युग में हिन्दू और मुस्लिम पुनरुत्थानवाद की भावना अधिक सक्रिय तथा तेज हुई। मुसलमानों की पृथक् निर्वाचन की मांग से भारतीय राष्ट्रीयता को बड़ा धक्का लगा, किन्तु कालान्तर में मुसलमान भी राष्ट्रीय आन्दोलन के सहयोगी बने। बाह्य परिस्थितियों ने भी हिन्दू मुसलिम एकता की प्रेरणा दी। होम रूल आन्दोलन में तो दोनों जातियों का सहयोग प्राप्त हुआ। गांधी जी का अफ्रीका में सफल सत्याग्रह, प्रथम विश्व युद्ध आदि ने राष्ट्रीयता के आन्दोलन को बड़ा बल दिया। इस काल में स्वतन्त्रता तथा आत्मनिर्णय के सिद्धान्त भी जोर पकड़ने लगे। स्वदेशी आन्दोलन ने आर्थिक पक्ष को बहुत बल दिया। गांधी जी के सफल नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन उत्तरार्द्ध में अधिक शक्तिपूर्ण हो गया। विविध सामाजिक तथा सांस्कृतिक पक्षों को भी इस काल में सुधार की नवीनता का स्पर्श मिला।

इस काल में स्वशासन की भावना राष्ट्रीय मांग के रूप में व्यक्त हुई। राष्ट्र की भौगोलिक तथा जनसमूह की एकता का रूप भी अनेक विरोधी तत्वों के बावजूद इस काल में लक्षित है। इस काल की राष्ट्रीयता प्रारंभ में समझौता वादी होने पर भी क्रमशः आक्रामक या आन्दोलनवादी होती गई और स्वशासन का लक्ष्य दृढ़तापूर्वक अपनाने लगी। द्विवेदी युग की राष्ट्रीयता में जन-शक्ति का तेज वर्तमान है।

छायावाद युग में आकुल व्याकुल जन-शक्ति ने राष्ट्रीय आन्दोलन को अधिक क्रान्तिमय बना दिया। इस युग की राष्ट्रीयता सामान्य जनता का विदेशी शासन के प्रति विद्रोह भाव थी। जनता का ऐसा सहयोग कभी राष्ट्रीयता को इस रूप में नहीं प्राप्त हो सका था। इस युग में विदेशी शासन के साथ ही शोषक वर्ग के प्रति विरोधभाव भी उत्तरार्ध में प्रकट होने लगा। इसमें आर्थिक पहलू को अधिक महत्व दिया जाने लगा, किन्तु उसका रूप समाजवाद से कुछ भिन्न था।

भारतीय राष्ट्रीयता प्रारम्भ से ही मध्य वर्ग की राष्ट्रीयता रही है। पूंजीपति वर्ग अपने स्वार्थ के लिए औद्योगीकरण के प्रश्न पर कांग्रेस के साथ था। मजदूर वर्ग अपने भरण पोषण में इतना व्यस्त था कि उसे राष्ट्रीय चेतना की दिशा में सोचने-समझने का अवकाश नहीं मिला, किन्तु विविध आन्दोलनों में सामूहिक विरोधों के रूप में इस वर्ग का सहयोग भी राष्ट्रीयता को प्राप्त हुआ।

इस काल में राष्ट्रीयता ने स्वराज्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार घोषित किया। इसके लिए बलिदान भी हुए। क्रान्तिकारी तत्व भी इस काल में

सक्रिय था, किन्तु गांधी जी की अहिंसा ने उस क्रान्ति को मर्यादित कर दिया। उन्होंने सत्याग्रह से स्वराज्य प्राप्त करने की प्रेरणा दी। जनता की सामूहिक शक्ति ने नौकरशाही को राष्ट्रीय मांगों पर सोचने का अवसर दिया। उसने राष्ट्रीयता के आन्दोलनकारी रूप से अनेक बार समझौता करने की चेष्टा की। समग्रत: इस काल की राष्ट्रीयता क्रांति की ओर अग्रसर रही। उसका रूप बड़ा विराट तथा आन्दोलनकारी था। सांस्कृतिक, आर्थिक तथा सामाजिक सुधारों की दिशा में भी इस काल की राष्ट्रीयता सक्रिय रही। उसका रूप भी अन्य कालों की तरह इस काल मे भी महत्वपूर्ण था।

प्रगतिवाद युग में राष्ट्रीय चेतना का विकास प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगत होता है। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में उसका निर्णायक विकास लक्षित होता है। छायावाद युग में विद्रोह की भावना खुल कर विदेशी शासन के विरोध में खड़ी हो गई। इस काल में विद्रोह तथा क्रांति परिपक्वावस्था में थी। उसने साम्राज्यवाद का जोरदार विरोध किया। राष्ट्रीय तथा मजदूर आन्दोलन के सम्मिलित विद्रोह को विदेशी शासन संभाल न सका और उसने इस काल में ही देश को औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान किया। द्वितीय विश्वयुद्ध, भारतीय राष्ट्रीय सेना आदि ने भी भारतीय राष्ट्रीयता को बल दिया। इसलिए इस काल में स्वशासन का अधिकार भारतीय जनता को दे दिया गया।

साम्प्रदायिक शक्तियों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को सदा बल दिया है। मुस्लिम लीग के हिन्दू-विरोध तथा पाकिस्तान की मांग ने देश की राष्ट्रीय चेतना को अधिक धक्का पहुँचाया। साम्प्रदायिक दंगों के कारण देश टूट गया और उसका रूप हिन्दुस्तान के खण्डित होने में प्रकट हुआ। देश को स्वतंत्रता तो मिली, किन्तु हिन्दुस्तान, भारत तथा पाकिस्तान दो खण्डों में विभाजित हो गया।

समाजवादी तत्वों का जोर इस काल में विशेष रूप से बढ़ा। पूँजीवाद का विरोध समाजवादी संस्थाओं ने किया। ये शक्तियाँ स्वातंत्र्योतर काल में भी क्रियाशील रहीं।

सामसामयिक काल की राष्ट्रीय चेतना स्वातंत्र्यपूर्व की राष्ट्रीय चेतना से भिन्न है। इसमें पहले की तीव्रता, विरोध तथा विद्रोह नहीं था। शांति काल में देश के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक उत्थान का नये सिरे से सूत्रपात करने की कामना इसका मूल तत्व रहा। जनता की

उन्नति के अनेक प्रयत्न राष्ट्रीय चेतना में ध्वनित हैं। जनता को उसका उचित अधिकार तथा समानता के आधार पर जीवन की विविध सुविधाएं दिलाने का प्रयत्न इस काल में हुआ है। कश्मीर का युद्ध तथा हैदराबाद आदि की लड़ाई में भारतीय राष्ट्रीयता का रक्षा-भाव पुनः जाग्रत हुआ इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर युग में राष्ट्रीय विकास तथा नव निर्मित राष्ट्र की रक्षा का भाव इस काल की राष्ट्रीयता में लक्षित है।

राष्ट्रीय चेतना की एक अक्षुण्ण धारा वैदिक युग से आज तक प्रवहमान है। कालक्रम में उसमें शिथिलता आई है। आधुनिक युग में राष्ट्रीयता भारतेन्दु युग से प्रारम्भ हुई और आज तक विकास के पथ पर वह अग्रसर है।

राष्ट्रीय चेतना के विकास में राष्ट्रीय कविता का योग

राष्ट्रीयता एक राजनीतिक तथा सांस्कृतिक चेतना है। विदेशी शासन तथा आक्रमण के काल में वह स्फुट होती है। राष्ट्रीय काव्य में राष्ट्रीयता के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक पक्ष का प्रतिफलन होता है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आक्रान्त मानस की विरोध भावना की अभिव्यक्ति ही राष्ट्रीय काव्य में होती है और न यही सोचना चाहिये की राष्ट्रीय काव्य राष्ट्रीयता का अनुगमन करता है।

आक्रमण या दासता के विरोधस्वरूप राष्ट्र के जन-मानस में चेतना उदित होती है, लेकिन कभी-कभी विरोध भावना मुखर नहीं होती। कभी-कभी वह पथभ्रष्ट हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रीय काव्य ही आगे आता है और राष्ट्रीय चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान करता है अथवा उसके उचित मार्ग का निर्देश करता है।

राष्ट्रीय काव्य राष्ट्रीय चेतना की यथातथ्य अभिव्यक्ति नहीं है। जिस सीमा तथा मात्रा में राष्ट्रीय चेतना की तीव्रता है उसी मात्रा में उसकी अभिव्यक्ति राष्ट्रीय काव्य में नहीं होती। वह जन-मानस में व्याप्त चेतना को अधिक तीव्र करने का माध्यम भी है। यदि इतनी मात्रा में ही उसकी अभिव्यक्ति हुई तो राष्ट्रीय काव्य की आवश्यकता मात्र संदेशवाहक की है। वह महत्व रहित है, किन्तु जब वह व्याप्त राष्ट्रीय चेतना को अधिक तेज, स्फूर्ति एवं शक्ति प्रदान करे तभी राष्ट्रीय काव्य का महत्व है।

इस प्रकार राष्ट्रीय काव्य तीन प्रकार से राष्ट्रीयता को प्रभावित करता है। प्रथमतः उस राष्ट्र में जहां राष्ट्रीय चेतना उद्बुद्ध नहीं हुई रहती, यह काव्य

वर्तमान परिस्थितियों से जनता को अवगत कराता है, उसमें सांस्कृतिक गौरव उभारता है और विरोध एवं विद्रोह की भावना जाग्रत कर स्वतंत्रता की ओर प्रवृत करता है। जहां राष्ट्रीय चेतना गुमराह हो जाती है, वहां राष्ट्रीय काव्य उसके उचित पथ का निर्देश करता है। आपसी फूट, प्रांतिकता, धार्मिक विरोध मिटाने की प्रेरणा इस काव्य से प्राप्त होती है। जा राष्ट्र राष्ट्रीय भावाभिभूत होता है, उसे स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए अधिक सक्रिय तथा शक्तिमय बनने की चेतना राष्ट्रीय काव्य से मिलती है। इस तरह राष्ट्रीय जागरण को यह अधिक तीव्र करता है। इस प्रकार तीन रूपों में राष्ट्रीय कविता राष्ट्रीयता को प्रभावित करती है।

वैदिक साहित्य में भौगोलिक अखण्डता, राष्ट्र के गौरव का आख्यान आदि राष्ट्रीय काव्य के अंतर्गत हुआ है। जन्मभूमि की महिमा की चर्चा इस काव्य में हुई है। उक्त युग में विदेशी दासता का कोई उल्लेख नही मिलता। इस काल में राष्ट्रीय चेतना जैसी कोई भावना उद्भूत नहीं थी। इसका कोई अवसर भी नही था, लेकिन वैदिक साहित्य ने सुषुप्त राष्ट्रीय भावना का स्रोत जन-मानस में बहाया। समिति, समान धार्मिक रीति-रिवाज आदि ने आलम्बन की प्रेरणा से जन की एकता का रूप भी वैदिक साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ। वैदिक साहित्य ने राष्ट्रीय चेतना को धर्म की तरह अविभाज्य बना दिया। साहित्य की प्रेरणा से राष्ट्रीयता धर्म सापेक्ष हो गयी।

प्राकृत, पालि तथा अपभ्रंश साहित्य में वीर दर्पोक्तियां विशेष रूप से कही गई। वह युग राजनीतिक विशृंखलता का युग था। देश में राजनीतिक अखण्डता न होने के कारण छोटे-छोटे राजा अपने राज्य की सीमा के बाहर देख नही पाते थे। इसलिए वह काल खंडित राष्ट्रीय चेतना से पूर्ण था। प्रांतिक अस्मिता का भाव ही उस काल में विशेष लक्षित है। इन सीमाओं और संकीर्णताओं के कारण प्राकृत, पालि तथा अपभ्रंश काव्य में राष्ट्रीय चेतना उद्बुद्ध नहीं हो सकी। राज्यों की विशृंखलता, पारस्परिक कलह-भाव प्रांतिक अस्मिता, स्वार्थ-साधन के लिए विदेशियों की सहायता, धार्मिक मतों की वृद्धि से लौकिक जीवन मे उदासीनता आदि अनेक कारणों से उक्त काल में राष्ट्रीय चेतना का स्वस्थ एवं उदात्त रूप जाग्रत न हो सका। उक्त राष्ट्रीय भावना को खंडित राष्ट्रीय भावना भी कहा जा सकता है।

अपभ्रंश काव्य में जिस प्रकार की राष्ट्रीय चेतना दृष्टिगत होती है उसी प्रकार की चेतना हिन्दी साहित्य के आदिकाल में लक्षित है। इन रचनाओं में वीर दर्पोक्तियों की प्रधानता है। चरित्र काव्यों में आश्रयदाताओं की

वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन या पत्नियों द्वारा अपने पतियों के पराक्रम का आख्यान उक्त काल की राष्ट्रीय कविता की मूल चेतना है। विदेशी आक्रमण उन दिनों भी हुए, लेकिन देश की रक्षा-भाव अथवा देश की भौगोलिक या जन-मानस की एकता का वर्णन यहाँ नही है। वैयक्तिक वीरता का आख्यान करनेवाली इन कविताओं में भो राष्ट्रीय भावना का सूत्र देखा जा सकता है, किन्तु वह इतना क्षोण और अगम्य है कि वह आरोपित सा लगता है। उपर्युक्त कालों में राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय काव्य दब से गये हैं।

भक्तिकाल में जन-जीवन को के टूटे हृदय को नयी चेतना धार्मिक और सांस्कृतिक एकता के माध्यम से दी गई है। वैसे इस काल की कविता में राष्ट्रीय चेतना देखने का उपक्रम शायद हास्यास्पद हो, किन्तु युगीन चेतना की पृष्ठभूमि पर विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट लक्षित होता है कि भक्ति-काव्य ने जातीय तथा राष्ट्रीय जोवन को सांस्कृतिक एकता का बल दिया तथा ह्रासोन्मुख और मुमूर्षु जाति को नयो चेतना दी।

रीतिकाल में पुनः आदिकाल की प्रवृत्तियाँ उभरीं। जातीय नेताओं के पराक्रम तथा वीरता का काव्य इस काल में रचा गया। जर्जर हिन्दू धर्म की रक्षा करने वाले तथा आक्रमणकारी मुसलमानों का विरोध करनेवाले जातीय नेताओं के यश और वीरता के वर्णन से रीतिकालीन वीरकाव्य ने धर्म एवं जाति के गौरव एवं रक्षा का भाव तीव्र किया। इस काल को राष्ट्रीयता पूर्ण तो नहीं है, किन्तु विशृंखलता के इस युग में इससे अधिक की आशा नहीं की जा सकतो थी। राष्ट्र की एकता का भाव उक्त काल में नहीं था, किन्तु अपने खण्ड राज्य को रक्षा तथा उसे विजातियों से पदाक्रान्त न होने देने का भाव इस काल की राष्ट्रीय कविता का मूल स्वर है।

भारतेन्दु युगीन राष्ट्रोय काव्य में शासक और शासित के बीच व्याप्त असमानता तथा विभेद की प्रतिक्रिया है, किन्तु इस प्रतिक्रिया में विद्रोह की तीव्रता नहीं है, निवेदन का तेज है। इसलिये प्रारम्भ में राजभक्ति से ओतप्रोत इस युग का काव्य उत्तरार्ध में भी सामंजस्यवादी, निवेदनपूर्ण तथा समझौता-वादी ही रहा।

उक्त काल के राष्ट्रीय काव्य ने जितनी प्रेरणा जन-जीवन को दी वह बहुत महत्वपूर्ण है। उस समय अंगरेजी शासन के विरोध में बड़े-बड़े देश भी मुंह नही खोल पाते थे। अंगरेजी सैन्य बल का विरोध करने का साहस किसी में नहीं था। अंगरेजों की असमानतापूर्ण नीति के विरोध मे एक दो राजनीतिक

संस्थायें बनीं, किन्तु उनका उद्देश्य शासन के प्रति विद्रोह करना नहीं था। बल्कि अपनी समस्याओं तथा मांगों से सरकार को अवगत कराना था। कांग्रेस का भी जन्म सरकार के विरोध के लिये नहीं हुआ। ऐसी दशा में अंगरेजी शासन का विरोध प्रकट-अप्रकट रूप से हिन्दी राष्ट्रीय काव्य ने किया। टैक्सादि का विरोध शासन का विरोध था। भारत दुर्दशा के कारण कवियों का रुदन सरकार का ही विरोध था।

दो टूक यह कहना कि राष्ट्रीय चेतना के जागरण का श्रेय भारतेन्दु काव्य को है, भले अत्युक्तिपूर्ण हो, लेकिन यह सही है कि भारतेन्दु युग के काव्य ने राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक संस्थाओं से अधिक स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष ढंग से सरकार का विरोध किया। इस काल की कविता ने राष्ट्रीय चेतना के उगते हुए भाव को बड़ी ईमानदारी से जाग्रत किया। इस सीमा तक सरकार के विरोध में बोलने का साहस किसी में उस समय नहीं था।

भारतेन्दु ने सबसे पहले अपनी कविता के माध्यम से आर्थिक शोषण का विरोध किया। उन्होंने औद्योगीकरण के लिये स्वदेशी अपनाने की राय दी। इसलिये आर्थिक स्वतन्त्रता का नारा सबसे पहले भारतेन्दु ने दिया। उन्होंने स्वदेशी की चेतना से सभी क्षेत्रों में राष्ट्रीय चेतना को तीव्र एवं शक्तिपूर्ण बनाया। भारतेन्दु युग की राष्ट्रीय कविता इस दृष्टि से राष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध, तीव्र एवं प्रभावित करती रही।

द्विवेदी युग के पूर्वार्द्ध में भारतेन्दुकालीन समझौतावाद दृष्टिगत है। सम्राट की प्रशंसा के गीत गाने के बावजूद इस काल के राष्ट्रीय आन्दोलन में अधिक शक्ति एवं सक्रियता आई। इसका प्रतिफल राष्ट्रीय काव्य में हुआ। देश की विविध परिस्थितियों ने शासन की उदारता का विश्वास समाप्त कर दिया। इसलिये दीनतापूर्वक अधिकारों की मांग का, समझौतावादी दृष्टिकोण का धीरे-धीरे ह्रास होने लगा और संघर्ष का भाव बढ़ने लगा। द्विवेदी युग की राष्ट्रीय कविता में क्रान्ति का भाव उत्पन्न हुआ।

भारतेन्दु युग की राष्ट्रीय भावना में जन-जीवन का प्रवेश नहीं हो सका था। द्विवेदी युग में जन-समूह ने राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेना प्रारम्भ किया। जीवन का यह यथार्थ रूप राष्ट्रीय काव्य में प्रतिफलित हुआ। यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति के क्रम में भारतेन्दु युग की अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्ण एवं करुणामय भावना राष्ट्रीय काव्य में आयी। करुणा से राष्ट्रीय काव्य इस काल में अधिक तीव्र एवं शक्तिमय बना।

इस काल की राष्ट्रीय कविता में सांस्कृतिक पुनरुत्थान का स्वर भारतेन्दु युग से अधिक तीव्र एवं व्यापक था। अतीत के विविध एवम् गौरवमय आख्यानों का रूपायन इस काल में हुआ। भारतेन्दु की यह परम्परा अधिक विस्तार के साथ इस काल में व्यंजित हुई। भारतेन्दु युग में जातीय गौरव का आख्यान हिन्दुत्व की भावना से पूर्ण था। इस युग में भी वह प्रवृत्ति लक्षित है। इस प्रवृत्ति के कारण ही मुस्लिम साम्प्रदायिकता में तीव्रता आई। जातीय गौरव का गान करने के बावजूद जन समूह की एकता का सन्देह भी इस युग के काव्य में प्रकट हुआ। इससे यह ध्वनित होता है कि जातीय उत्थान के गीत गाने के बावजूद इस काल के कवि राष्ट्रीयता के उदात्त स्वरूप के प्रति जागरूक थे और उन्होंने स्वस्थ राष्ट्रीय भावना स्थापित करने का प्रयत्न अपने काव्य के माध्यम से किया। द्वेष पूर्ण साम्प्रदायिक राष्ट्र प्रेम की झलक इस काल में नहीं है। सांस्कृतिक उत्थान की आकांक्षा के बावजूद संकीर्णता से परे, इस काल के राष्ट्रीय काव्य ने राजनीतिक एकता स्थापित कर स्वस्थ एवं उदात्त राष्ट्रीयता का पोषण किया तथा राष्ट्रीयता मूलक विरोध को बल दिया।

भारतेन्दु युग में औद्योगीकरण की जो प्रेरणा देश को मिली उसका विकास द्विवेदी युग के काव्य में भी लक्षित है। आलोच्य काल में आर्थिक दुरवस्था के करुणामय चित्रों में किसानों तथा मजदूरों का रूप भी अंकित किया जाने लगा।

इस काल की राष्ट्रीयता में वर्तमान की प्रतिध्वनि अधिक तेज है। सामयिक परिस्थियों की व्यंजना इस काल की राष्ट्रीय कविता में अधिक विस्तार से हुई। इस युग में कुछ ऐसे कवि भी हुए जो सामयिक समस्याओं से परे जीवन के शाश्वत मूल्यों के आख्याता थे। उन्होंने अतीत-वर्णन आदि के द्वारा राष्ट्रीयता के सांस्कृतिक पक्ष को ही पुष्ट किया। सामयिकता के अस्थायी रूप को उन्होंने नही छुआ।

छायावादी राष्ट्रीय कविता का स्वर भारतेन्दु और द्विवेदी युग से सर्वथा भिन्न है। सुधार एवं समझौता की भावना इस काल में समाप्त हो गई। इस युग में विद्रोह का स्वर मुख्य है। स्वराज्य प्राप्ति राष्ट्रीय काव्य का मुख्य उद्देश्य रहा। इसके लिए अदम्य उत्साह एवं शक्ति के साथ राष्ट्रीय कविता फूटी। शासन की अनीति का जोरदार विरोध इस काव्य मे है। वर्ग-चेतना-शोषक-शोषित और शासक-शासित-का उभार इस युग के राष्ट्रीय

काव्य में व्यक्त हुआ। शासन के न झुकने की दशा में क्रांति का तेज भी इसमें आया। इस क्रान्ति मे उद्देश्यहीनता नहीं है, बल्कि इसमें भविष्य की सुनिश्चित धारणा वर्तमान है। आर्थिक वैषम्य मिटाने, उद्योग-धंधों को प्रश्रय देने का आग्रह भी इसमें है। पूँजीवाद की विनाशक स्थिति के विरोध में आर्थिक समानता स्थापित करने का आग्रह भी इस युग की राष्ट्रीय काव्य-धारा मे है।

छायावाद की क्रांतिमयी राष्ट्रीय कविता में वर्तमान अधोगति के प्रति क्षोभ, अतीत के स्वर्णमय पृष्ठ का चित्रण, जन्मभूमि के दैवी रूप का उदात्तीकरण आदि सांस्कृतिक पक्ष के बावजूद विद्रोह का प्रबल रूप दीख पड़ता है। इस विद्रोह को गांधी के सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त ने न्यून नहीं, संयमित किया। साम्प्रदायिक विरोध एवं धार्मिक तत्वों के विरोधमूलक परिणाम के बाद भी इस युग की राष्ट्रीय कविता में अखण्डता तथा पूर्णता का भाव वर्तमान है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक सभी दिशाओं मे स्वतन्त्रता का उद्घोष दीख पड़ता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि छायावाद युग की राष्ट्रीय काव्यधारा क्रान्ति एवं बलिदान से पूर्ण है। इसमे असहयोग, अवज्ञा आन्दोलन की प्रतिध्वनि तो है ही, अन्य विविध घटनाओं का विवरण भी है। इसने इन सामयिक घटनाओं को अधिक तीव्र किया।

राष्ट्रीय चेतना के संघर्षमय एवं विद्रोहमूलक होने के कारण प्रगतिवाद युग के राष्ट्रीय काव्य में वर्तमान दुरावस्था का बड़ा करुण चित्र मिलता है। इस करुणा भाव ने जनता को स्वतन्त्रता तथा आर्थिक समानता के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी। इस युग का राष्ट्रीय काव्य इस दृष्टि से अधिक यथार्थ मूलक है। विविध राष्ट्रीय घटनाओं की अभिव्यक्ति काव्य मे यत्र तत्र हुई ही, साथ ही विद्रोहमूलक कविताओं की अभिव्यक्ति भी बहुत अधिक हुई। साम्राज्यवाद की समाप्ति तथा पूँजी के मूलोच्छेद का आक्रामक स्वरूप इस युग के काव्य मे अभिव्यक्त हुआ है। संघर्ष, क्रान्ति और परिवर्तन इस युग के काव्य का मुख्य स्वर है। सांस्कृतिक, सामाजिक क्षेत्रों मे सुधार के गीत भी गाये गये। प्रगतिवाद के अधिकांश कवियों ने मजदूर एवं किसान वर्ग को पूँजीवाद के साथ साम्राज्यवाद के विरोध में भी खड़ा किया तथा जन-समूह के निम्न वर्ग को भी राष्ट्रीय आन्दोलन मे समेटने का प्रयास किया। इस काल मे स्वतन्त्रता की प्राप्ति हुई। इस अवसर पर हिन्दी काव्य ने एक स्वर से हर्ष प्रकट किया और नवीन राष्ट्र का स्वागत गान गाया।

स्वातंत्र्योत्तर राष्टीय चेतना राष्ट्र के विकास तथा रक्षा के लिए प्रयत्नशील थी। राष्ट्रीय काव्य ने भी राष्ट्र के विविध आयामों को विकसित करने की प्रेरणा जाग्रत की। जन जागरण तथा नये राष्ट्र के उत्थान के लिए राष्ट्रीय कवियों ने अपने स्वर का उद्घोष किया। देश की विपन्नता, असामनता, छुआछूत का विभेद आदि को मिटाने का भाव इस काल की राष्ट्रीयता का मूल स्वर है। विदेशी आक्रमण होने पर राष्ट्र की शक्ति तथा गौरव गान के साथ उसकी रक्षा का अदम्य उत्साह राष्ट्रीय काव्य मे प्रकट हुआ है।

राष्ट्रीय कविता का भविष्य

राष्ट्रीयता राष्ट्र के प्रति अनुराग की उदात्त भावना है। इस अनुराग मे राष्ट्र की प्रत्येक वस्तु के प्रति साहचर्यगत घनिष्टता का भाव निहित होता है। मनुष्य जहाँ रहता है, पेड़, पौधे, लता, पक्षी, पशु, नदी, टीले, मनुष्य से स्नेह भाव बढा लेता है। अन्तर्राष्ट्रीय भावना के कारण हम विश्व बन्धुत्व को भले प्रश्रय दें, किन्तु इस साहचर्यगत अनुराग भाव की उपेक्षा नही कर सकते। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है, जीवन की एक बहुत बड़ी सचाई है। इसलिये राष्ट्र प्रेम को, राष्ट्रीयता को झुठलाया नही जा सकता। इस कमजोरी के हम सब शिकार हैं। आधुनिक विश्व युद्ध, राज्यक्रान्तियाँ इस बात की पुष्टि करती है कि समय और दूरी की विजय के युग में, जब कि संपूर्ण विश्व हमारे घर-सा लगता है, हम सबसे पहले अपने घर, फिर गाँव, राज्य और तब विदेश की बात करते हैं। इतना सत्य है कि राष्ट्रीयता आज के वैज्ञानिक युग मे भी उसी प्रकार महत्वपूर्ण है। भविष्य मे भी यह इसी प्रकार महत्वपूर्ण रहेगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

राष्ट्रीय काव्य राष्ट्रीय चेतना का ही काव्यात्मक प्रतिफलन है। इसलिये यह निष्कर्ष है कि राष्ट्रीय कविता भी भविष्य में रहेगी। इसका सर्वतोभावेन ह्रास अथवा विनाश संभव नही है। जब तक साम्राज्यवादी शक्तियाँ विश्व मे हैं राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय काव्य दोनों वर्तमान रहेगे।

राष्ट्रीय काव्य के दो पहलू हैं—सांस्कृतिक और राजनीतिक। देश की पराधीनता के काल मे सांस्कृतिक तथा राजनीतिक राष्ट्रीय कविता फूलती फलती है। शान्ति काल में उसका लोप हो जाता है, क्योंकि विदेशी दासता की प्रतिक्रिया स्वरूप राष्ट्रीय काव्य की रचना होती है। ऐसे काव्य का मूल्य अस्थायी है। जिन घटनाओं तथा परिस्थितियों को लेकर काव्य का उद्भव होता है, उनके समाप्त होते ही इस काव्य का महत्व समाप्त हो जाता है।

हिन्दी काव्य का अधिकांश इसी रूप में व्यक्त होने से अब विस्मृत हो चुका है। राष्ट्रीय काव्य का सांस्कृतिक पक्ष अपने अनुराग एवं आदर्श के कारण महत्वपूर्ण तथा सुदूरव्यापी होता है। सांस्कृतिक विकास की कामना के कारण यह काव्य सुदूरव्यापी साहित्य में परिगणित होता है।

राष्ट्रीय कविता का सांस्कृतिक तथा राजनीतिक पहलू विद्रोह के काल मे ही अधिक विकसित होता है। अन्य कालों मे काव्य के अन्य आयामों का आकलन होता है। नये राष्ट्र के निर्माण तथा परतंत्र राष्ट्र की दुरावस्था के परिणाम से ही राष्ट्रीय काव्य की रचना होती है। इसलिये राष्ट्रीय कविता का निर्माणात्मक, रक्षात्मक तथा विद्रोहात्मक स्वरूप है। इन तीन परिस्थितियों में ही राष्ट्रीय काव्य भविष्य मे पनप तथा फूल-फल सकेगा। शान्ति काल मे जीवन के अन्य मूल्यों के आधार पर काव्य रचना होती है। इसीलिये शान्ति के समय राष्ट्रीय काव्य नही के बराबर रचा जा सकेगा।

समीक्षा

राष्ट्रीय काव्य पर कई आक्षेप किये गये हैं। इसे सामयिक, इतिवृतात्मक विश्वबन्धुत्व की भावना से रहित तथा कलात्मक चेतनाहीन काव्य कहा गया है। इस आधार पर इसे सोद्देश्य काव्य मानते है। इसे विशुद्ध साहित्य नही कहा जाता।

राष्ट्रीय काव्य में राजनीतिक दुरवस्था की झलक प्रमुख होती है। इसी दुरवस्था को मिटाने के लिए विदेशी शासन, आक्रामक शक्ति का विरोध होता है। इस विरोध की झलक राष्ट्रीय काव्य में व्यक्त होती है। इसी बिरोध को शक्ति देने के लिए सांस्कृतिक राष्ट्रीय काव्य की रचना भी होती है। मातृभूमि के प्रति अनुराग, प्राचीन गौरव प्रतीकों का उदात्तीकरण आदि के माध्यम से विरोध भाव को बल मिलता है। इस प्रकार राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दोनों प्रकार का राष्ट्रीय काव्य विरोध का काव्य है। एक में प्रकट विरोध है, दूसरे में हीनता से मुक्त होने के लिए गौरव गान तथा उससे शक्ति पाने का प्रयास। दोनों एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। इसीलिये दोनों में सामयिकता वर्तमान है। इस सामयिकता के कारण राष्ट्रीय कविता स्थायित्व नहीं पा सकी है। विदेशी शासन या आक्रमण समाप्त होने पर ऐसी कविताएं ऐतिहासिक महत्व ग्रहण कर लेती हैं।

राष्ट्रीय कविता मूलतः उपदेश की कविता है। वह बलिदान, देश प्रेम, देश

के निर्माण, विदेशी दासता के प्रति विद्रोह का संदेश देती है। उपदेश काव्य में इतिवृत्तात्मक रुक्षता होती है। वह हिन्दी राष्ट्रीय काव्य मे वर्तमान है।

राष्ट्रीय कविता अधिकांशतः इतिवृत्तात्मक होती है, क्योंकि उसमे अनेक तथ्यों का आकलन करना होता है। इसलिए उसमें कलात्मक सौन्दर्य का अभाव होता है। लाक्षणिकता तथा ध्वनि, व्यंजना आदि की अभिव्यक्ति का अधिक अवकाश इसमें नहीं है। इनके संयोग से कविता जन-बोध से परे हो जायगी। इसलिए भी कला-सौष्ठव की ओर राष्ट्रीय कविता का न तो रुझान है और न उसकी अभिव्यक्ति का अवसर।

राष्ट्रीय काव्य में देश की स्थितियों-परिस्थितियां तथा अन्य रूपों की महत्ता गाई जाती है। वह देश प्रेम में इतना अनुरक्त है कि अन्य देशों की ओर देखने का उसे अवकाश नहीं है।

निष्कर्ष

आधुनिक हिन्दी राष्ट्रीय कविता का सूत्रपात पुनरुत्थानवाद के रूप में होता है और वह अपने इस स्वरूप को अंत तक बनाये रखती है। भारतेन्दु युग से प्रगतिवाद युग तक यह पुनरुत्थान परम्परा चलती रही। इस परम्परा के अंतर्गत सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक सुधारवाद का उद्घोष हुआ। मातृभूमि के गौरव तथा अतीत के उज्ज्वल चरित्रों का गान इस काव्य की विशेषताएं हैं।

हिन्दी का राष्ट्रीय काव्य आर्थिक उन्नयन के लिए प्रारंभ से ही सचेष्ट रहा है। भारतेन्दु युग में औद्योगीकरण की मांग, द्विवेदी युग में स्वदेशी आन्दोलन आर्थिक क्षेत्र में राष्ट्रीय उत्थान का चरण है। छायावाद युग तथा प्रगतिवाद युग में भी, विदेशी हटाओ, स्वदेशी अपनाओ, का आन्दोलन चलता रहा। प्रगतिवाद में तो पूंजी के विरोध का नया अध्याय ही शुरू हुआ।

हिन्दू भावना का प्राधान्य हिन्दी राष्ट्रीय काव्य में अन्त तक प्रतिफलित है। अतीत गौरव के आख्यान क्रम में हिन्दू आदर्शों का ही चित्रण हुआ है। भारतेन्दु युग की राष्ट्रीयता का हिन्दुत्व कालान्तर में भी बना रहा। मुसलमानो के हिन्दू-विरोध ने इस भावना को और बल दिया है। इसलिए यह राष्ट्रीय भावना एकांगी हैं। वैसे हिन्दू जाति के गौरव गान के उपरान्त हिन्दी राष्ट्रीय काव्य में जन समूह की एकता के गीत गाये गये हैं। हिन्दू, मुसलमान, पारसी ईसाई, सबकी एकता का संदेश भी इस काव्य ने दिया है।

राष्ट्रीय कविता ज्यों-ज्यों प्रकट होती गई, उसमें विरोध की प्रबलता आती गई। द्विवेदी युग में विरोध का प्रथम न्यास बंग-भंग आन्दोलन के समय पड़ा। इसके बाद से असहयोग का भाव हिन्दी काव्य में प्रबल हो उठा। त्याग, बलिदान, क्रान्ति, परिवर्तन आदि उच्चार के साथ हिन्दी राष्ट्रीय काव्य प्रतिदिन शक्तिपूर्ण होता गया। इस काव्य को बलिदान तथा क्रान्ति का काव्य भी कहा जा सकता है। इम क्रम में समझौता के द्वारा राजनीतिक सुविधाएं प्राप्त करने मे स्वराज्य पाने तक की कामना रूपायित हुई है।

हिन्दी राष्ट्रीय काव्य युग की प्रत्येक गति से परिचित रहा है। इसने जन-मानस की प्रत्येक आशा-अकांक्षा को अपने काव्य में व्यक्त किया है। राजनीतिक क्षेत्र में जो धटनाएं हुईं, उन सबकी प्रतिक्रिया हिन्दी राष्ट्रीय काव्य में झलकती है। इस प्रकार राष्ट्रीय काव्य ने राष्ट्रीय आन्दोलनों से प्रेरणा ग्रहण की है, किन्तु जब राजनीतिक असफलताओं ने जन नेता तथा जनता के उत्साह को मंद किया, त्याग, बलिदान, गौरव आदि के गीतों ने उन्हें उत्साह दिया। उन्हे आगे गतिशील होने की प्रेरणा दी।

राष्ट्रीय कविता में करुण एवं वीररस के आधार हैं तथा त्याग, बलिदान क्रान्ति आदि के संदेश उत्साह के उद्दीपक है। इस प्रकार राष्ट्रीय काव्य में करुण तथा वीररस का अद्‌भुत समन्वय लक्षित है। करुण रस से हमारा हृदय दयार्द्र होता रहा है तथा वीररस से शक्ति, प्रेरणा तथा उत्साह मिलता रहा है। अनुराग भावना भी राष्ट्रीय काव्य में है, किन्तु वह व्यक्ति के प्रति न होकर समष्टि के प्रति है।

राष्ट्रीय काव्य ने भारतेन्दु युग की राजनीति को राष्ट्रीय चेतना से अभिभूत किया। राष्ट्र प्रेम के विखरे एवं दबे स्वर को इसने संघटित, सुनियोजित तथा तीव्र किया। भारतेन्दु युग के पूर्वार्द्ध में राष्ट्रीय चेतना राजभक्ति में अभिव्यक्ति पा रही थी। इस युग के कवियों ने राजभक्ति त्याग कर देशप्रेम और देशोन्नति की प्रेरणा जगाई। उन्होंने देश की दयनीय दशा के प्रति घोर चिन्ता प्रकट की और टैक्स आदि से होने वाले शोषण का विरोध किया। यह सही है कि भारतेन्दु युग की राष्ट्रीय कविता में संघर्ष एवं विद्रोह नहीं है, किन्तु जितना भी इन कवियों ने किया, वह विदेशी शासन का विरोध तो है ही। इस तरह का विरोध भाव तत्कालीन राजनीति में व्यंजित नही हो सका था। इसलिए यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय चेतना से अभिभूत भारतेन्दु युगीन काव्य ने देश प्रेम का भाव दृढ़ बनाया और राष्ट्रीय चेतना की पृष्ठभूमि तैयार की।

भारतेन्दु-युग की कविता में राष्ट्रीयता के आर्थिक पहलू को अपनाया गया। न तो इस युग में और न इसके पूर्व ही विदेशी शोषण का उल्लेख अथवा विरोध किया गया। भारतेन्दु ने अंग्रेजी-शासन के बहुमुखी शोषण के विरोध में औद्योगीकरण की मांग की। स्वदेशी योजना से उन्होंने राष्ट्र के औद्योगीकरण को पुष्ट एवं समर्थ बनाने का प्रयास किया। राष्ट्रीयता का यह आर्थिक पहलू आद्यन्त अभिव्यक्ति पाता रहा। स्वदेशी और औद्योगीकरण के फलस्वरूप देश के पूंजीपति वर्ग का समर्थन राष्ट्रीय आन्दोलन को प्राप्त हुआ। बीसवी शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त मे मजदूर आन्दोलन तीव्र होने पर पूंजीपतियो को थोड़ा संदेह अवश्य होने लगा, किन्तु उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध नहीं किया। राष्ट्रीयता के इस रूप का श्रेय भारतेन्दु युगीन काव्य को है।

राष्ट्रीय काव्य में अतीत गौरव वर्णन के अन्तर्गत अनेक गर्वोक्तियों का कथन हुआ। अपने राष्ट्र की सामान्य विशेषताओं को भी अतिशयोक्ति के साथ व्यंजित किया गया। इस वर्णन में पूर्वाग्रह का भाव था। इसके फलस्वरूप दूसरे और खासकर आक्रामक राष्ट्र के प्रति घृणा एवं कुत्सा का भाव प्रकट हुआ। यह सही है कि हिन्दी राष्ट्रीय काव्य ने विदेशों की कुत्सा से भरसक बचने की चेष्टा की, किन्तु गर्वोक्तियों के पूर्वाग्रह के कारण वह भ्रमित होता रहा।

अतीत गौरव की गर्वोक्ति के कारण यदा-कदा राष्ट्रीय-काव्य का सांस्कृतिक पक्ष साम्प्रदायिक सा प्रतीत हुआ। भारत में अनेक जातियाँ बसती है। हिन्दू और मुसलमान उनमें प्रमुख हैं। इन दोनों का विरोध भाव कालान्तर मे रहा है, हिन्दू-संस्कृति एवं इतिहास के आदर्शों का ज्ञान मुस्लिम सम्प्रदाय को हिन्दुओं के विरोध का ज्ञान देता रहा है। फलस्वरूप राष्ट्रीयता कमजोर हुई, किन्तु अधिकांश हिन्दी कवियों ने हिन्दू संस्कृति के साथ अपनी घनिष्ठता के कारण ही अतीत के गौरव के गीत गाये। उन्होंने राष्ट्रीयता के विकास एवं संपर्क के लिए विभिन्न जातियों की परस्पर एकता का आह्वान किया। इसलिए हिन्दी-राष्ट्रीय कवियों की निष्ठा पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। उन्होंने ईमानदारी से राष्ट्रीय चेतना को तीव्र, सशक्त एवं गतिशील बनाने की चेष्टा की। यों, छिटपुट ऐसी भी रचनाएं हुई, जिन्होंने स्पष्ट रूप से साम्प्रदायिकता को प्रश्रय दिया।

राष्ट्रीय काव्य सामयिक समस्याओं का काव्य है। इसके राजनीतिक आयाम के अन्तर्गत सामयिक समस्याओं का यथातथ्य निरूपण ही होता है।

हिन्दी राष्ट्रीय-काव्य सामयिक समस्याओ की हलचल से प्रभावित रहा है और उनकी अभिव्यक्ति काव्य मे होती रही है। तत्कालीन हलचल एवं विरोध के इस काव्य मे स्थायित्व का अभाव रहा है। यह काव्य के शाश्वत उपादानों को प्रकट नही कर सका। काव्य वर्तमान घटनाओं एवं परिस्थितियों का आख्याता नही है। ऐसा काव्य छिछला, इतिवृत्तात्मक एवं सामयिक होता है। सामयिक परिस्थितियों के समाप्त होते ही ऐसे काव्य का महत्व समाप्त हो जाता है। इसलिए राष्ट्रीय काव्य जीवन के शाश्वत मूल्यों पर रचित काव्य नहीं है। रति, वात्सल्य, उत्साह आदि शाश्वत भाव स्थायी काव्य के उपादान है। इसीलिए राष्ट्रीय काव्य इतिवृतात्मक और सामयिक था। वह युग-युग की प्रेरणा नही बन सका। सामयिक हलचल का स्फुरण ही उसमें आ सका। राष्ट्रीय काव्य के सांस्कृतिक पक्ष के अन्तर्गत जन्मभूमि की महिमा तथा पौराणिक एवं ऐतिहासिक आदर्शों के गौरव वर्णन मे स्थानीय एवं पौणाणिक तत्वों के प्रति प्रेम संयुक्त था। अपने पूर्वजो तथा जन्मभूमि के प्रति मोह के कारण राष्ट्रीय काव्य का यह पक्ष किंचित स्थायित्व लिए हुए हैं, किन्तु इन सब का ऐतिहासिक महत्व ही विशेष रूप मे है।

राष्ट्रीय काव्य मे अभिव्यक्त परिस्थितियों की कच्ची एवं पक्की व्यंजना हिन्दी काव्य के मूर्धन्य कविवों पंत, प्रसाद, निराला आदि को समीचीन नही प्रतीत हुई। इसलिए उन्होंने काव्य के शाश्वत उपादनों को ग्रहण कर काव्य रचना को। इसे वर्तमान समस्याओं से पलायन भी कहा जा सकता है, किन्तु इन कवियो ने सांस्कृतिक राष्ट्रीय कवितायें रची हैं। उन्होंने वर्तमान को भुला नहीं दिया, लेकिन वर्तमान की यथातथ्य अभिव्यक्ति वे नही कर सके। काव्य विषय के शाश्वत उपादान ग्रहण कर काव्य रचने वाले इन कवियों ने काव्य को स्थायित्व दिया। उसकी इतिवृत्तात्मकता समाप्त की और उसे युग-युग का साहित्य बनाया।

राष्ट्रीय काव्य ने हिन्दी काव्य का स्तर निम्न किया। वस्तु के अस्थायित्व एवं इतिवृत्तात्मकता ने काव्य का स्तर गिरा दिया। अभिधात्मक उक्तियों का यह प्रभाव हुआ कि काव्य का महत्व एवं स्थायित्व घट गया। अभिधात्मक एवं इतिवृत्तात्मक उक्तियों में प्रसाद गुण भले हो, काव्य की रमणीयता, वचनवक्रता, उक्ति वैचित्र्य, लाक्षणिकता आदि का अभाव था। भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग की कलाहीन, सामयिक इतिवृत्तात्मक रूक्ष अभिव्यक्तियों के कारण काव्य के स्तर में जो गिरावट आ गई थी, उसे छायावाद की

कल्पना लाक्षणिकता, उक्ति विचित्रता आदि ने संभाला। छायावाद का यह कार्य अपने युग के साथ प्रगतिवाद युग में भी चलता रहा। प्रगतिवाद की रुक्षता, अभिधात्मक उक्ति की प्रतिक्रिया स्वरूप काव्य में प्रयोगवाद, प्रतीकवाद आदि का आविर्भाव हुआ।

राष्ट्रीय काव्य ने कुछ जनपदीय एवं संस्कृत के प्राचीन छन्दों को अपनाया। इस तरह उसने पुराने छन्दो का जीर्णोद्धार किया। राष्ट्रीय काव्य का एक रूप भाषा का उद्धार भी रहा है। हिन्दी को विकसित करने, उसे राज-भाषा, राष्ट्रभाषा आदि की महत्ता प्रदान करने के आन्दोलन भी चलाये गये। इस तरह अपनी भाषा के विकास का प्रयत्न राष्ट्रीय काव्य के अन्तगत दीख पड़ता है। उत्साहपूण एवं ओजमयी राष्ट्रीय काव्य की भाषा अभिधात्मक होते हुए भी मन को छूती रही। संभव है इस मार्मिकता का एक कारण सामयिक समस्या हो।

—o—

महत्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

१—राजनीति शास्त्र—ई० आशीर्वादम्, सं० १९५७ ई० ।

२—नेशनलिटी एण्ड गवर्नमेन्ट—ए० ई० जीमर्न, सं० १९१९ ई० ।

३—नैशनलिज्म ऐण्ड इन्टरनैशनलिज्म—रैमजे म्योर, सं० १९१७ ई० ।

४—दि पोलिटिकल फिलासफी आफ श्री अरविन्दो—डा० वी०पी० वर्मा, सं० १९६० ई० ।

५—नेशनलिज्म—जी०पी० गूच, सं० १९२० ई० ।

६—राजनीति और दर्शन—डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, सं० १९५४ ई० ।

७—इनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइन्सेज, खण्ड १२, सं० १९५४ ई० ।

८—ग्रामर आफ पालिटिक्स—लास्की ।

९—पाकिस्ताक के पीछे साहित्य की प्रेरणा—दिनकर, हिमालय, अक्टूबर, १९४६ ई० ।

१०—साहित्य का साथी—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सं० १९५० ई० ।

११—बात बात में बात—यशपाल, सं० १९५४ ई० ।

१२—नैशनलिज्म इन हिन्दू कल्चर—राधाकुमुद मुखर्जी, सं० १९२१ ई० ।

१३—वैदिक साहित्य, डा० रामधन शर्मा शास्त्री का निबन्ध, सं० १९५९ ई० ।

१४—अथर्ववेद संहिता—भाष्यकार पं० जयदेव शर्मा, सम्वत् २००९ वि० ।

१५—मनुस्मृति—अनुवाद पंडित केशव प्रसाद शर्मा, २ अध्याय, २२ श्लोक, सम्वत २००८ वि० ।

१६—विष्णु पुराण—अनुवाद मुनिलाल गुप्त, ३ अध्याय, २ श्लोक, सम्वत २००९ वि० ।

१७—भारतीय लोकनीति और सभ्यता—एस०वी० पुणताम्बेकर ।

१८—हिन्दू पालिटी—के०पी० जायसवाल ।

१९—अर्थशास्त्र—चाणक्य, अध्याय ३, श्लोक ५३ ।

२०—रघुवंश—कालिदास, श्लोक २३६-३७ ।

२१—कुमारसंभव—टीकाकार-गंगाधर शास्त्री भारद्वाज, सर्ग १, श्लोक १ ।

२२ हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—नामवर सिंह ।

२३—ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—ए०बी० कीथ, सं० १९५३ ई० ।

२४—दर्शन, साहित्य और आलोचना—अनुवाद नरोत्तम नागर, सं० १९५८ ई० ।

२५—हिन्दी वीर काव्य—टीकम सिंह तोमर, सं० १९५४ ई० ।

२६—हिन्दी साहित्य कोश—सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, सम्वत २०१५ वि० ।

२७—संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो—सम्पादक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नामवर सिंह, सं० १९५२ ई० ।

२८—प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं—डा० रामविलास शर्मा, सं० १९५४ ई० ।

२९—रीतिकाव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र, सं० १९५३ ई० ।

३०—भूषण ग्रन्थावली—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सम्वत २०१७ वि० ।

३१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, सम्वत् २००२ वि० ।

३२—हिन्दी साहित्य—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, सं० १९५५ ई० ।

३३—एकानामिक हिस्ट्री आफ इण्डिया इन द विक्टोरियन एज—आर० दत्ता ।

३४—कांग्रेस का इतिहास—पट्टाभि सीतारामय्या ।

३५—इण्डियन नेशनल मूवमेन्ट ऐण्ड थाट—डा० वी०पी० एस० रघुवंशी ।

३६—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, सं० १९५६ ई० ।

३७—भारतेन्दु की विचारधारा—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, सं० १९४८ ई० ।

३८—हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव—डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा, सं० २०११ वि० ।

३९—डिस्कवरी आफ इण्डिया—जवाहरलाल नेहरू, सं० १९४६ ई० ।

४०—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—डा० रामविलास शर्मा, सं० १९५३ ई० ।

४१—रेनेसेन्ट इण्डिया—एच० सी० ई० जकरिया, सं० १९३३ ई० ।

४२—ए हिस्ट्री आफ नेशनलिज्म इन द ईस्ट—हैन्स कोहन, सं० १९२९ ई० ।

४३—इण्डियन अनरेस्ट—वेलेन्टाइन शिरोल, सं० १९१० ई० ।

४४—दि अवेकेनिंग आफ इण्डिया—जे०आर० मैकडोनाल्ड ।

४५—भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन तथा वैधानिक विकास—जे० पी० सूद, सं० १९५६ ई० ।

४६—इण्डिया इन ट्रान्जिशन—एम०एन० राय, सं० १९२२ ई० ।

४७—राइज ऐण्ड ग्रोथ आफ इण्डियन लिबरलिज्म—एम० ए० बच, सं० १९३८ ई० ।

४८—भारतेन्दु युग—डा० रामविलाश शर्मा, सं० १९५१ ई० ।

४९—भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग दो, सम्वत् २०१२ वि० ।

५०—हार्दिक हर्षादर्श—प्रेमघन सं० १८९७ ई० ।

५१—हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव—डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा, सम्वत २०११ वि० ।

५२—भारतेन्दु नाटकावली, भारत-दुर्दशा ।

५३—श्रीराम स्त्रोत ।

५४—लोकोक्ति शतक—प्रताप नारायण मिश्र ।

५५—मनोविनोद—श्रीधर पाठक, सं० १९ ७ ई० ।

५६—देशोद्धार की तान—बालमुकुन्द गुप्त ।

५७—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—डा०रामविलास शर्मा, सं० १९५३ ई० ।

५८—हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, सम्वत २००२ वि० ।

५९—राधाकृष्ण ग्रन्थावली ।

६०—हिन्दी वन्दना—श्रीधर पाठक ।

६१—देवी स्तुति : आगबनी—बालमुकुन्द गुप्त ।

६२—हरिश्चन्द्र—मैगजीन नवम्बर, १८७३ ई० ।

६ —राम स्तोत्र—बालमुकुन्द गुप्त ।

६४—देव नागरी की पुकार—पं० गौरीदत्त ।

६५—आधुनिक काव्य-धारा—डा० केसरी नारायण शुक्ल, सम्वत २००७ वि० ।

६६—इण्डिया ए नेशन—एनी बेसेन्ट ।

६७—पोलिटिकल फिलासफी आफ अरविन्दो—डा० वी० पी० वर्मा, सं० १९६० ई० ।

६८—इण्डियन नेशनलिस्ट मुवमेन्ट ऐण्ड थाट—डा० वी०पी०एम० रघुवंशी ।

६९—राइज ऐण्ड ग्रोथ आफ इण्डियन मिलिटैंट नेशनलिज्म—एम०ए० बच, सं० १९४० ई० ।

७०—इण्डियाज साइलेन्ट रिवोलूशन—एफ०बी० फिशर, सं० १९२० ई० ।

७१—हिन्दी कविता में युगान्तर—डा० सुधीन्द्र, सं० १९५७ ई० ।

७२—हिन्दुस्तान की कहानी—जवाहरलाल नेहरू ।

७३—रुइन आफ इन्डियन ट्रेड ऐन्ड इन्डस्ट्रीज—मेजर बी०डी० बासु, सं० १९३५ ई० ।
७४—श्री विक्टोरिया अष्टादसी—श्याम बिहारी मिश्र तथा शुकदेव बिहारी मिश्र, सं० १९०१ ई० ।
७५—एडवर्ड बत्तीसी—राजकुमार कमलानन्द सिंह सरोज, सं० १९०२ ई० ।
७६—बालबिनोद—महावीर प्रसाद द्विवेदी, सरस्वती (१९०२ ई०), भाग ३, सं० २ ।
७७—राज्याभिषेक—मैथिलीशरण गुप्त, सरस्वती, दिसम्बर, १९११ ई० ।
७८—सम्राट स्वागत—लोचनप्रसाद पाण्डेय, सरस्वती, दिसम्बर, १९११ ई० ।
७९—भारत भारती—मैथिली शरण गुप्त, सम्वत् २००९ वि० ।
८०—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी—नन्ददुलारे बाजपेयी ।
८१—जागृत भारत—माधव शुक्ल, सं० १९२२ ई० ।
८२—भारत गीत—श्रीधर पाठक सं० १९१८ ई० ।
८३—भारत माता—गिरिधर शर्मा, सरस्वती, नवम्बर १९०७ ई० ।
८४—मातृभूमि—मैथिली शरण गुप्त, मार्च १९११ ई० ।
८५—इन्डियन नेशनलिज्म—एडविन बेविन, सं०१९१३ ई० ।
८६—हिमकिरीटिनी—माखनलाल चतुर्वेदी, सम्वत १९९८ वि० ।
८७—मातृभूमि—गोपालशरण सिंह, सरस्वती, मई १९१३ ई० ।
८८—मातृमूर्ति—रूपनारायण पाण्डेय, सरस्वती, दिसम्बर, १९१३ ई० ।
८९—संस्कृति के चार अध्याय—रामधारी सिंह दिनकर, सं० १९५६ ई० ।
९०—धिग्जीवन—रामचरित उपाध्याय, सरस्वती, दिसम्बर, १९१७ ।
९१—स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार—महावीर प्रसाद द्विवेदी, सरस्वती, जुलाई, १९०३ ई० ।
९२—शंकर सर्वस्व—नाथूराम शंकर शर्मा, सम्वत २००८ वि० ।
९३—मुंशी मरहूमी परशाद—विधानाथ, सरस्वती, नवम्बर, १९०९ ई० ।
९४—महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग—डा० उदयभानु सिंह, सम्वत २००८ वि० ।
९५—आधुनिक काव्य-धारा का सांस्कृतिक स्रोत—डा० केशरी नारायण शुक्ल, सम्वत २००४ वि० ।
९६—आधुनिक भारत—शंकर दत्तात्रेय जावडेकर, सं० १९५३ ई० ।
९७—इंडियन पालिटिक्स सिन्स द म्युटिनी—सी०वाई० चिंतामणि, सं० १९३७ ई० ।

९८—रिबेल इंडिया—एच०एन० ब्रेल्सफोर्ड, सं० १९३१ ई०
९९—दी इंडियन स्ट्रगल—सुभाषचन्द्र बोस ।
१००—मांटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट, सं० १९१८ ई० ।
१०१—हिन्दुस्तान में पूंजी कारबार की उन्नति—डी०एच० बकनन, सं० १९३४ ई० ।
१०२—संस्कृति के चार आध्याय—रामधारी सिंह दिनकर, सं० १९५६ ई० ।
१०३—छायावाद-युग—शंभूनाथ सिंह, सं० १९५२ ई० ।
१०४—छायावाद—नामवर सिंह, सं० १९५५ ई० ।
१०५—स्कन्द गुप्त—जयशंकर प्रसाद, सम्वत २०११ वि० ।
१०६—मुकुल—सुभद्रा कुमारी चौहान, सं० १९४७ ई० ।
१०७—रेणुका—दिनकर, सं० १९३९ ई० ।
१०८—मेवाड़ के प्रति—सोहनलाल द्विवेदी, चांद, नवम्बर १९३१ ई० ।
१०९—पूर्व भारत—गोपाल शरण सिंह, सरस्वती, अप्रैल, १९२४ ई० ।
११०—गीतिका—निराला, सम्वत १९९३ वि० ।
१११—चन्द्रगुप्त—जयशंकर प्रसाद, सम्वत २००९ वि० ।
११२—हुंकार—रामधारी सिंह दिनकर, सं० १९५२ ई० ।
११३—राष्ट्रीय मंत्र—त्रिशूल, सं० १९२१ ई० ।
११४—पराग—रुपनारायण पांडेय, सं० १९२४ ई० ।
११५—स्वदेश-सतसई—महेश चन्द्र प्रसाद, सं० १९३० ई० ।
११६—राष्ट्र भारती—रामचरित उपाध्याय, सं० १९२१ ई० ।
११७—खादी लहरी—बुद्धिनाथ झा कैरव, सं० १९२९ ई० ।
११८—प्रभात फेरी—नरेन्द्र, सं० १९३९ ई० ।
११९—मानव—भगवती चरण वर्मा, सं० १९४८ ई० ।
१२०—रीसेन्ट ट्रेण्डस इन इन्डियन नेशनलिज्म—ए०आर० देसाई, सं० १९६० ई० ।
१२१—लीडरशिप ऐन्ड पोलिटिकलइन्सिटयुशन्स आफ इन्डिया—पार्क और टिंकर, सं० १९६० ई० ।
१२२—भारत : वर्तमान और भावी—रजनी पामदत्त, सं० १९५६ ई० ।
१२३—प्रगतिशील साहित्य के मानदन्ड—डा० रांगेय राघव, सं० अलिखित ।
१२४—हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद—विजय शंकर मल्ल, सं० १९४७ ई० ।
१२५—प्रगतिवाद की रूपरेखा—शिवचन्द्र, सं० १९५२ ई० ।

१२६—आधुनिक कवि—सुमित्रानन्दन पंत, सम्वत २०१० वि० ।

१२७—गणदेवता—रामदयाल पाण्डेय, सम्वत २००० वि० ।

१२८—नवयुग के गान—जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, सम्वत १९९९ वि० ।

१२९—नवीन—गोपाल सिंह नेपाली, सम्वत २००१ वि० ।

१३०—भारत गीतांजलि—माधव शुक्ल, सं० १९४७ ई० ।

१३१—बलिपथ के गीत—जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, सं० १९५० ई० ।

१३२—नवीन—गोपाल सिंह नेपाली, सम्वत २००२ वि० ।

१३३—जीवन के गान—शिवमंगल सिंह सुमन, सं० १९४५ ई० ।

१३४—मधूलिका—अंचल ।

१३५—ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पंत ।

१३६—धरती—त्रिलोचन शास्त्री सं० १९४५ ई० ।

१३७—युगदीप—उदयशंकर भट्ट, सम्वत २००१ वि० ।

१३८—इत्यलम्—अज्ञेय, सं० १९४५ ई० ।

१३९—युगदीप—उदयशंकर भट्ट, सम्वत २००१ वि० ।

१४०—कुरुक्षेत्र—दिनकर ।

१४१—स्वतन्त्रता के बाद भारतीय अर्थ-व्यवस्था : एक विहंगावलोकन—वी०-के०आर०वी० राव, आजकल, फरवरी, १९५६ ।

१४२—आरती और अंगारे—बच्चन, सं० १९५८ ।

१४३—जयहिन्द—सियारामशरण गुप्त, सं० १९४७ ई० ।

१४४—अनागत—हँसकुमार तिवारी, सं० १९४९ ई० ।

१४५—खादी के फूल—सुमित्रानन्दन पंत, सम्वत २००५ वि० ।

१४६—विश्वमानव—पोद्दार रामावतार अरुण, सं० १९४९ ई० ।

१४७—रक्तरंजित काश्मीर—शिवसिंह 'सरोज' सम्बत २००५ बि० ।

१४८—समर्पण—माखनलाल चतुर्वेदी; सम्वत २०१३ बि० ।

१४९—अथर्ववेद संहिता—पं० जयदेव शर्मा—सं० २००९ वि०

१५०—आधुनिक कवि—सुमित्रा नन्दन पंत—सं० २०१० वि० ।

१५१—आधुनिक कवि—हरिऔध ।

१५२—अभागत—हंस कुमार तिवारी, सन् १९४९ ई०

१५३—आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत—डा० केशरी नारायण शुक्ल २००४ वि० ।

१५४—आधुनिक भारत—शंकर दत्तात्रेय जावडेकर, १९५३ ई० ।

१५५.—आरती और अंगारे—बच्चन, १९५८ ई० ।
१५६—इत्यलम्—अज्ञेय, १९४६ ई० ।
१५७—कुमार संभव—गंगाधर शास्त्री, १९५७ ई० ।
१५८—कृषक क्रन्दन—सनेही, १९१६ ई० ।
१५९—जन नायक—रघुवीर शरण मित्र, १९४९ ई० ।
१६०—जयहिन्द—सियाराम शरण गुप्त, १९४७ ई० ।
१६१—दर्शन, साहित्य और आलोचना—अनु० नरोत्तम नागर, १९५८ ई० ।
१६२—दिनकर—शिव बालक राय—युनिवर्सल प्रेस, प्रयाग ।
१६३—नवयुग के गान—जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, १९९९ वि० ।
१६४—प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड—रागेय राघव
१६५—प्रभाती—सोहन लाल द्विवेदी १९४६ ई० ।
१६६—बात बात में बात—यशपाल १९५४ ई० ।
१६७—बापू—दिनकर १९४७ ई० ।
१६८—भारतेन्दु की विचारधारा—लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, १९४८ ई० ।
१६९—मनुस्मृति—केशव प्रसाद मित्र, २००८ वि० ।
१७०—माण्टेग्य चेप्सफोर्ड रिफार्म ।
१७१—रक्तरंजित काश्मीर—शिव सिंह सरोज ।
१७२—साहित्य का साथी—हजारी प्रसाद द्विवेदी ।
१७३—स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य—रामविलास शर्मा, १९५६ ई० ।
१७४—हिन्दी कविता मे युगान्तर—सुधीन्द्र, १९५७ ई० ।
१७५—हिन्दी काव्य मे प्रगतिवाद—विजय शंकर मल्ल, १९४७ ई० ।

पत्रिकाओं की सूची

१—सरस्वती
२—चाँद
३—महवाला
४—माधुरी
५—युवक
६—सुधा
७—विशाल भारत
८—योगी
९—हंस
१०—आजकल
११—अवन्तिका
१२—नया साहित्य
१३—संगम
१४—समाज

अंग्रेजी पुस्तकें

१—अखण्ड हिन्दुस्तान—के० एम० मुंशी, १९४२ ई० ।
२—अनहेपी इंडिया—लाजपत राय, १९२८ ई० ।
३—इंडियन अनरेस्ट—वेलेन्टाइन शिरोल, १९१० ई० ।
४—इंडियन नेशनलिज्म—एडविन बेवन, १९१३ ई० ।
५—इंडियन पालिटिक्स सिन्स द म्यूटिनी—सी०वाई० चिन्तामणि, १९३७ ई० ।
६—इंडिया आर्म्स फार विक्ट्री—जी० डब्लू टाइसन, १९४४ ई० ।
७—इंडिया—ए नेशन—एनी वेसेन्ट ।
८—ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—ए०बी० कीथ, १९५३ ई० ।
९—ग्रामर आफ पालिटिक्स—प्रो० एच० जे० लास्की ।
१०—डिस्कवरी आफ इंडिया—जवाहरलाल नेहरू, १९४६ ई० ।
११—द इंडियन स्ट्रगल—सुभाष चन्द्र बोष ।
१२—द एवेकेनिंग आफ इंडिया—जे० आर० मैकडोनाल्ड, १९१७ ई० ।
१३—द मेकिंग आफ इंडियन नेशन—बी० जी० गोखले, १९५८ ई० ।
१४—नेशनलिज्म—रवीन्द्रनाथ टैगोर, १९१७ ई० ।
१५—नैशनलिज्म इन हिन्दू कल्चर—राधा कुमुद मुखर्जी, १९२१ ई०
१६—नैशनलिज्म—ऐन ऐन्टीक्वेटेड कल्ट—एम० एन० राय, १९४२ ई० ।
१७—पोलिटिक्ल थियरी—ई० आशीर्वादम्—१९१९ ई० ।
१८—रूइन आफ द इंडियन ट्रेड ऐंड इन्डस्ट्रीज—बी०डी० बासु, १९३५ ई० ।
१९—रैनेसेन्ट इंडिया—एच० सी० ई० जकरिया, १९३१ ई० ।
२०—सोशल बैकग्राउड आफ द इंडियन नैशनलिज्म—ए०आर० देसाई ।
२१—हिन्दू पालिटी—के० पी० जाइसवाल ।

—o—